T169

समकालीन हिन्दी उपन्यास में आंचलिकता के विविध आयाम

SAMAKALEEN HINDI UPANYAS MEIN ANCHALIKATA KE VIVIDH AYAM

Thesis
Submitted to
COCHIN UNIVERSITY OF SCIENCE AND TECHNOLOGY

For the Degree of
DOCTOR OF PHILOSOPHY

Under the Faculty of Humanities

By
अनिता . पी. एल
ANITHA . P.L.

Supervising Teacher
Dr. K. VANAJA

DEPARTMENT OF HINDI
COCHIN UNIVERSITY OF SCIENCE AND TECHNOLOGY
KOCHI - 682 022

DECEMBER 2007

Certificate

This is to certify that the research work presented in the thesis entitled **"SAMAKALEEN HINDI UPANYAS MEIN ANCHALIKATA KE VIVIDH AYAM"** is an authentic record of research work carried out by **ANITHA.P.L.** under my supervision at the Department of Hindi, Cochin University of Science And Technology, in partial fullfillment of the requirements for the degree of DOCTOR OF PHILOSOPHY in HINDI and that no part thereof has been included for the award of any other degrees.

Dr. K.VANAJA
Dept. of Hindi
Cochin University of Science
And Technology
Kochi - 22

Place : KOCHI - 22
Date : 18-12-2007.

Declaration

I hereby declare that thesis entitled **"SAMAKALEEN HINDI UPANYAS MEIN ANCHALIKATA KE VIVIDH AYAM"** is the bonafide record of the original work carried out by me under the supervision of **Dr. K.Vanaja** at the Department of Hindi, Cochin University of Science and Technology and no part thereof has been included in any other thesis submitted previously for the award of any degree .

ANITHA.P.L.
Department of Hindi
Cochin University of
Science and Technology
Cochin - 682022

Place : KOCHI- 22
Date : 12-12-2007

मेरी प्रिय अध्यापिका वनजा.....

मेरे माँ - बाप.....

प्रिय पति श्याम.....

को सादर समर्पित.....

प्राक्कथन

साहित्य मानव समाज की सांस्कृतिक धरोहर है । साहित्य देश के इतिहास और संस्कृति का निर्माण करता है। साहित्य रचना ऐसी मानव क्रिया है जो सामाजिक जगत से सामग्री ग्रहण कर उसे एक विधान में इसतरह गुंफित करती है कि व्यक्ति उसे पढ़कर या देखकर मुग्ध हो जाए उसमें तल्लीन या रसमग्न हो जाए। जो कृति इतना काम करने में सक्षम होती है, उसे ही हम साहित्य कृति कहने का दावा करते हैं । प्रत्येक युग में युगीन आवश्यकताओं के अनुसार साहित्य के नये नये रूप आकार लेते हैं । पुनरुत्थानोत्तर औद्योगिक क्रांन्ति से विकसित पूँजीवादी व्यवस्था में जीवन की जटिलता को उसके यथार्थ रूप में संप्रेषित करने के लिए उपन्यास एक समुचित संवाहक एवं लोकप्रिय विद्या के रूप में प्रतिष्ठित हुआ।

उपन्यास मानव जीवन की संपूर्णता को यथावत प्रस्तुत करने में सक्षम है । अपन्यास का काम इस नये युग के नये मानव की वास्तविकताओं और समस्याओं को प्रस्तुत करना है, जो आधुनिक सभ्यता के साथ उत्पन्न हुए हैं । उपन्यासकार के लिए आज मानव जीवन का कोई पक्ष अछूता नहीं रहा । मानव जीवन के सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, धार्मिक आदि सभी पक्ष बहुत खुलकर आज उपन्यासों में आने लगे हैं । स्वाधीनता के बाद हिन्दी उपन्यास

साहित्य में अनेक विषयगत एवं रचनागत प्रयोग हुए हैं । उनमें 'आंचलिक बोध' का भी महत्वपूर्ण स्थान है । 'अचंल' से तात्पर्य ऐसे स्थान और जाति विशेष से है, जो आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक दृष्टि से अपने आप में एक इकाई हो, और जिसके जीवन की कुछ नीजी विशेषताएँ हो।

'आंचलिकता' शब्द सुनते ही हमारे मन में ग्रामीण परिवेश के दृश्य और घटना सब आ जाते हैं, लेकिन ये दृश्य और घटनाएँ सिर्फ ग्रामीण परिवेश में ही नहीं कहीं भी हो सकती है । अर्थात गांव समकालीन आंचलिक उपन्यास का एक आयाम मात्र है और उसके विविध आयामों पर प्रकाश डालने का मेरा छोटा सा प्रयत्न है यह शोध प्रबंध । मेरे शोध प्रबंध का विषय है **'समकालीन हिन्दी उपन्यास में आंचलिकता के विविध आयाम'।** अध्ययन की सुविधा के लिए मैं ने इसे पाँच आध्यायों में विभाजित किया है ।

पहला अध्याय है आंचलिक उपन्यास के स्वरूप एवं विकास। इस अध्याय में आंचलिकता का अर्थ स्पष्ट करते हुए विभिन्न विद्वानों की परिभाषाओं का उल्लेख किया है और स्थानीयरंगत, प्रादेशिकता, आंचलिक संस्पर्श से आंचलिकता की तुलना करके इनके बीच की छोटी सी छोटी भिन्नताओं की चर्चा की गयी है । आंचलिक उपन्यासों की विभिन्न प्रवृत्तियों का संक्षिप्त विवरण देने के साथ प्रमुख विशेषताओं, तत्वों एवं प्रमुख लक्षणों पर भी नज़र डाला गया है । फिर आंचलिक उपन्यास के उद्‌भव और विकास के बारे में कहा गया है । प्रमुख आंचलिक उपन्यासकार जैसे शिवपूजन सहाय, नागार्जुन, फणीश्वरनाथ रेणु, उदयशंकर भट्ट, रांगेयराघव, रामदरश मिश्र, गुलशेर खाँ शानी, शिवप्रसाद सिंह, शैलेश मटियानी, राही मासूम रज़ा आदि की प्रमुख आंचलिक कृतियों की चर्चा के बिना

यह अध्याय अधूरा रह जाएगा, इसलिए इस दिशा की ओर प्रकाश डालने का कार्य इस अध्याय में किया गया है । अन्त में समकालीनता पर विचार करते हुए समकालीन आंचलिक उपन्यास के बारे में कहा गया है ।

दूसरा अध्याय है 'गांव केन्द्रित आंचलिक उपन्यास' । भारत गांवों का देश है । गांव को पहचानना देश को पहचानने के समान है । भारतीय जीवन शैली पर ग्रामीण संस्कृति का प्रभाव किसी न किसी रूप में परिलक्षित होता है । पर्व-त्योहार, लोकजीवन-पद्धतियों और दैनिक जीवन के अनेक सहज प्रसंगों के माध्यम से हमारे गांवों की सांस्कृतिक मान्यताओं की पहचान होती है । समकालीनता के दौर में हम देख सकते हैं कि गांवों के राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, पारिस्थितिक क्षेत्रों में टूटन हो रहा है । आज गांवों में जो जीवन हम देखते हैं, वह पुरानी परंपराओं, संस्कृतियों से भिन्न अन्य किसी बाहरी शक्तियों से त्रस्त और दूषित गांव है । स्वातंत्र्योत्तर भारत के गांव का ढ़ाँचा बहुत तेज़ी से बदला है और बदल रहा है । इसी बदलाव को पकड़ने की कोशिश वीरेन्द्र जैन के 'डूब' और 'पार', मैत्रेयी पुष्पा के 'चाक' और 'इदन्नमम', विवेकी राय के 'सोनामाटी' और 'समरशेष है', राकेशकुमार सिंह का 'जहाँ खिले है रक्त पलाश', द्रोणवीर कोहली का 'तकसीम', रामदरश मिश्र का 'बीसबरस', कृष्णा सोबती का 'ज़िन्दगीनामा', मिथिलेश्वर का 'यह अन्त नहीं' आदि गांव केन्द्रित आंचलिक उपन्यासों में हुई है। इस अध्याय में इन सारे उपन्यासों में चित्रित विभिन्न अंचलों में प्रचलित धार्मिक जीवन और अंधविश्वास, लोकगीत, लोककथाएँ, मेला-त्योहार, रीति-रिवाज़, खान-पान, वेश-भूषा आदि संस्कृति के विभिन्न अंगों के अध्ययन करने के साथ साथ गांव में होने वाले शोषण के विभिन्न रूप जैसे जातिगत शोषण, आर्थिक

शोषण, नारी शोषण, दलित शोषण, राजनैतिक शोषण और पारिस्थितिक शोषण पर भी प्रकाश डाला गया है । प्रत्येक अंचल की भौगोलिकता पर भी विचार किया गया है ।

तीसरा अध्याय है 'शहर केन्द्रित आंचलिक उपन्यास'। प्रेमचन्द के उपन्यासों में गांव परिवेश बनकर आया । बाद में रेणु तथा अन्य आंचलिक उपन्यासकारों ने आंचलिकता के केन्द्र में गांव को ही रख दिया । लेकिन समकालीन आंचलिक उपन्यासकारों ने हाशिये पर पड़े विशेष जनजाति, जाति, पिछड़े गांव, धंधा, शहरीय अंचल आदि को उपन्यास का विषय बनाया । शहर की चकाचौंध में न पड़कर एक कोने में अपने जीवन गुज़ारने वाले अनेक लोग देखने मिलेंगे जो अपने अभिशप्त ज़िन्दगी जीने केलिए मज़बूर हो जाते हैं । शहरी जीवन से संबन्धित आंचलिकता के तत्व रखनेवाले समकालीन शहर केन्द्रित आंचलिक उपन्यास है गोविन्द मिश्र का 'लाल पीली ज़मीन', जगदम्बा प्रसाद दीक्षित का 'मुर्दाघर', शैलेश मटियानी का 'कोई अजनबी नहीं' आदि। इस अध्याय में इन उपन्यासों को माध्यम बनाकर दिल्ली, लखनऊ, बंबई जैसे महानगरों के बीच में रहकर इन महानगरों की संस्कृति से भिन्न अलग संस्कृति को लेकर जीनेवाले लोगों की भौगोलिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, राजनीतिक और नारी की स्थिति पर प्रकाश डाला गया है ।

चौथा अध्याय है 'जाति, जनजाति, धंधा केन्द्रित आंचलिक उपन्यास'। समकालीन आंचलिक उपन्यास के अन्य आयाम हैं जाति, जनजाति और धंधा केन्द्रित आंचलिक उपन्यास । समकालीन आंचलिक उपन्यास के इन आयामों में भी हम उपेक्षित जनता को ही देख सकते हैं । अपराधी जातियाँ भी जनजातियों के

बीच होती हैं । समाज के विरुद्ध अपराध करना इनका पेशा है । कबूतर जाति और नट इसीप्रकर की अपराधी जातियाँ हैं । मैत्रेयी पुष्पा का 'अल्मा कबूतरी', शिवप्रसाद सिंह का 'शैलूष' इसीप्रकार की अपराधी जातियों की कथाएँ हैं । दक्षिण भारत में केरल के मछुआरों की ज़िन्दगी को आधार बनाकर लिखा गया उपन्यास है डॉ. रामन नायर का 'सागर की गलियाँ' और बनारस के बुनकरों की ज़िन्दगी को आधार बनाकर लिखा गया उपन्यास है अब्दुल बिस्मिल्लाह का 'झीनी झीनी बीनी चदरिया' । इन दोनों उपन्योसों के माध्यम से लेखक विशेष धंधे को लेकर जीनेवालों के समाज का परिचय कराते हैं । चमार समाज में व्याप्त कुरीतियों और उनकी संस्कृति को दिखानेवाला उपन्यास है जगदीशचन्द्र का 'धरती धन न अपना' । उरांव, संथाल, थारू जनजाति को केन्द्र बनाकर लिखे गये उपन्यास हैं श्रवणकुमार गोस्वामी का 'हस्तक्षेप', मनमोहन पाठक का 'गगन घटा घहरानी', तेजिन्दर का 'कालापादरी' संजीव के 'धार' और 'जंगल जहाँ शुरू होता है' आदि। इस अध्याय में इन सारे उपन्यासों को आधार बनाकर जाति, जनजाति और विशेष धंधे को लेकर जीनेवाले समाजों की संस्कृति को उजागर करनेवाले भौगोलिकता, धार्मिक जीवन और अन्धविश्वास, रीति-रिवाज़, खान-पान, वेश-भूषा, लोकगीत, लोककथा, त्योहार-उत्सव आदि का विशद अध्ययन करने के साथ साथ शोषण के विभिन्न रूप जैसे आर्थिक शोषण, जातिगत शोषण, वर्गगत शोषण, राजनीतिक शोषण, नारी शोषण, पारिस्थिक शोषण पर भी प्रकाश डाला गया है ।

पाँचवाँ और अन्तिम अध्याय है 'शिल्प पक्ष की आंचलिकता'। भाषा द्वारा हम अपने विचार दूसरों तक पहूँचाते हैं । भाषा अभिव्यक्ति के माध्यम होने के साथ जीने का तौर तरीका, आचार-विचार की पहचान भी होती है । आंचलिक

उपन्यास अपने प्रतिपाद्य से अधिक शिल्प के कारण विशिष्ट है । गांव, शहर, जाति, जनजाति और धंधा केन्द्रित समकालीन आंचलिक उपन्यासों के शिल्प पक्ष के प्रमुख तत्व जैसे वस्तुयोजना, पात्र-परिकल्पना, थल-काल, भाषा शिल्प और शैली शिल्प का निर्वाह इस अध्याय में किया गया है ।

अंत में उपसंहार और संदर्भ-ग्रन्थ सूची भी दी गयी है ।

प्रस्तुत शोधप्रबंध कोच्चिन विज्ञान व प्रौद्योगिकी विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के डॉ. के. वनजा के निर्देशन में संपन्न हुआ है । प्रारंभ से ही मेरे अध्ययन और रुचि का विषय उपन्यास रहा। उन्होंने ही मुझे उपन्यास पर शोध करने को काबिल बनाया है । उनके बहुमूल्य सुझावों तथा प्रेरणा वर्धक निर्देशन से ही यह अध्ययन पूर्ण हो पाया है । उनके प्रति मैं सदैव आभारी रहूँगी ।

कोच्चिन विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग की अध्यक्षा प्रो.डॉ.पी.ए षमीम अलियार के प्रति भी मैं अपना आभार प्रकट करती हूँ । मेरी डॉक्टरल कमिटि के विषय विशेषज्ञ डॉ.एन.मोहनन के प्रति भी यहाँ कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ ।

हिन्दी विभाग के सभी अध्यापकों के सलाह एवं सहयोग के प्रति मैं कृतज्ञ हूँ ।

विभाग के मेरे प्रिय मेत्रों को भी मैं इधर याद करती हूँ, उनके स्नेह, प्रोत्साहन एवं सुझाव के लिए मैं उन लोगों से विशेष आभारी हूँ । प्रीता, प्रीती, श्रीकला, टीना, जूली, सजिता, सौम्या, सीमा, राजन, बिन्दु, जयलक्ष्मी, श्रीजा, प्रिया, षीना और अन्य सभी मित्रों से मैं अपना प्यार प्रकट करती हूँ ।

हिन्दी विभाग के पुस्तकालय के दीपिकाजी और बालकृष्णन और एरणाकुलम पब्लिक लैब्रेरी के कर्मचारियों के प्रति भी मैं अपना आभार प्रकट करती हूँ ।

मेरे हर कदम पर प्रार्थना और प्रोत्साहन के द्वारा मेरे साथ देनेवाला माँ-बाप, सांस, स्वर्गीय ससुर और भाई बहनों से मैं सर्वथा कृतज्ञ हूँ ।

मेरे हर कदम पर आत्मविश्वास भरकर आगे बढ़ने के लिए धैर्य देनेवाले प्रिय पति श्याम से विशेष रूप से आभार प्रकट करती हूँ ।

पुनः एकबार उन सभी महानुभावों, मित्रों, सहृदयों को मैं आभार प्रकट करती हूँ, जिनके प्रत्यक्ष व परोक्ष सहयोग ने मेरे कर्मपथ को सुगम बनाया है । अंत में सर्वोपरी मैं उस सर्वेश्वर के प्रति आभारी हूँ, जिनकी कृपा से यह काम सही वक्त पर पूरा हुआ।

सविनय

अनिता. पी.एल

विषयसूची

पहला अध्याय

आंचलिक उपन्यास स्वरूप एवं विकास 1 - 58

आंचलिकता अर्थ एवं परिभाषा - स्थानीयरंगत - प्रादेशिकता- आंचलिक संस्पर्श - आंचलिक उपन्यास के प्रमुख तत्व- आंचलिक उपन्यासों की प्रवृत्तियाँ - आंचलिक उपन्यासों की विशेषताएँ - आंचलिक उपन्यास का उद्‌भव और विकास- प्रमुख आंचलिक उपन्यासकार और उपन्यास - समकालीनता- समकालीन आंचलिक उपन्यास।

दूसरा अध्याय

गांव केन्द्रित आंचलिक उपन्यास 59 - 188

भूमिका - भौगोलिकता- धार्मिक जीवन और अंधविश्वास- रीति-रिवाज़ - खान-पान - वेश-भूषा - लोकगीत - लोककथा - मेला - त्योहार - आर्थिक शोषण - जातिगत शोष - दलित शोषण - राजनैतिक शोषण - नारी शोषण - पारिस्थितिक शोषण

तीसरा अध्याय

शहर केन्द्रित आंचलिक उपन्यास 189 - 231

भूमिका - शहर केन्द्रित आंचलिकता - भौगोलिक परिवेश- सांस्कृतिक परिवेश - आर्थिक परिवेश - राजनीतिक परिवेश- नारी की स्थिति

चौथा अध्याय

जाति, जनजाति और धंधा केन्द्रित आंचलिक उपन्यास **232 - 323**

भूमिका - भौगोलिकता - धार्मिक जीवन और अंधविश्वास- रीति-रिवाज़ - खान-पान - वेश-भूषा - लोकगीत - लोककथा- त्योहार - उत्सव - आर्थिक शोषण - जातिगत शोषण- वर्गगतशोषण- राजनीतिक शोषण - नारी शोषण - पारिस्थितिक शोषण

पाँचवाँ अध्याय

शिल्प पक्ष की आंचलिकता **324 - 405**

भूमिका - वस्तुयोजना - पात्र - परिकल्पना - थल-काल- भाषा शिल्प - शैली शिल्प

उपसंहार **406 - 412**

संदर्भग्रन्थ सूची **413 - 435**

पहला अध्याय

आंचलिक उपन्यास स्वरूप एवं विकास

आंचलिकता अर्थ एवं परिभाषा

आंचलिकता शब्द अंचल में 'इक' प्रत्यय लगाने से बना है, जिसका अर्थ है अंचल संबन्धी। 'अंचल' संज्ञा शब्द से विशेषण बन गया है, जिसके संस्कृत में विभिन्न अर्थ हैं। साड़ी का छोर, पल्ला आदि अर्थों के अतिरिक्त हिन्दी में अंचल का सीधा और स्पष्ट अर्थ है 'जनपद' या 'क्षेत्र' जो अपने आप में एक पूर्ण भौगोलिक इकाई होता है । 'आंचलिकता' का अर्थ है क्षेत्र विशेष के सत्य का उद्‌घाटन करता हुआ जीवन जो किसी एक परिवेश विशेष के नहीं वरन् उस खण्ड़ की समग्र क्षेत्रीयता का प्रतीक है । अंचल की एक विशिष्ट भौगोलिक खोज का नाम है 'आंचलिकता'। 'आंचलिक' शब्द को आंग्रेज़ी में 'रीजन' कहा जाता है । अंचल शब्द की ध्वनी स्वातंत्र्योत्तर औपन्यासिक यात्रा का एक अभिलक्षण है । हिन्दी सहित्य कोश के अनुसार "उपन्यास के महत्व की सूचना इस बात से मिलती है कि स्थानीय रंग (लोकल कलर) या प्रादेशिक (रीजनल) विवरण देनेवाले उपन्यासों को आंचलिक उपन्यासों के नाम से एक विशेष वर्ग बन गया है"[1]

---

1. संपादक - धीरेन्द्र वर्मा - हिन्दी सहित्य कोश भाग (1) - पृ. सं : 124

आंचलिक उपन्यास एक अंचल विशेष के समग्र जीवन का चित्र प्रस्तुत करता है। वहाँ के लोगों की सारी गतिविधियों को पूरी सजीवता एवं यथार्थ रूप में हमारे सामने प्रस्तुत किया जाता है। शंभूनाथ के अनुसार "आंचलिकता किसी जनपद विशेष की निजी विशेषताओं अथवा पृथक यथार्थ के बीच से नहीं उभरती यह जितनी रचनात्मकता से ग्रहण की जाएगी, उतनी ही वास्तविक जन संलग्नता से सार्वजनिक यथार्थ की अभिव्यक्ति करेगी । संस्कृति की क्रान्तिकारी चेतना को ये अंचल ही विकसित कर सकते हैं तथा सामाजिक आर्थिक द्वन्द्वों की यथार्थ अभिव्यक्ति भी इन्हीं के माध्यम से सही रूपों में हो सकती है "[1]

साहित्य में जब हम 'अंचल' या 'आंचलिक' शब्द का प्रयोग करते हैं तब हमारा प्रयोजन इन शब्दों के अभिधामूलक अर्थ से नहीं प्रत्युत लक्षण - मूलक से होता है । 'अंचल का अभिधार्थ होता है - वस्त्र का प्रांत भाग जब उससे देश का प्रांत-भाग का अर्थ लिया जाता है तब मुख्यार्थ में बाधा पड़ती है । परन्तु देश को वस्त्र के संबन्ध में रख प्रयोजनानुसार संबन्धित अर्थ प्रकट होता है । इसीप्रकार "आंचलिक' विशेषण का अर्थ भी स्पष्ट हो जाता है।"[2] 'कोई भी विशेष भाग जिसकी अपनी एक संस्कृति हो, अपनी एक भाषा हो, अपनी समस्याएँ हो, संक्षेप में कहे तो सामान्य देश, जहाँ किसी विशिष्टता का आभास हो, अंचल कहा जा सकता है"[3] इसप्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि

---

1. साक्षात्कार - 12 जून - अगस्त - 79 लेख - कविता और आंचलिकता - पृ. सं : 96
2. आदर्श सक्सेना - हिन्दी के आंचलिक उपन्यास और उनकी शिल्प विधि -पृ. सं : 20
3. आदर्श सक्सेना - हिन्दी के आंचलिक उपन्यास और उनकी शिल्पविधि - पृ. सं : 20

अंचल का जो अर्थ अपने विशिष्ट प्रयोजन में रूढ़ हो गया है वह वस्त्र के प्रान्त भाग के आधार पर लाक्षणिक अर्थ ही है । परन्तु लक्षण का चमत्कार व्यंजना से खिलता है ।

अंचल हमारे सामाजिक जीवन का एक कोना है, अंचल में हम मनुष्य का आदिम- प्रारंभिक रूप देख सकते हैं । हम आदिम उसको कहते है जो आधुनिक नहीं है । आज हमारे इस आधुनिक दशा तो वैज्ञानिक प्रगति की देन है । लेकिन कभी भी हम इस आदिम प्रारंभिक रूप को चुनौती भरे, घृणा भरे और व्यंग्य और हास परिहास से नहीं देखते बल्कि उसे आदि सहचरी मानकर उसमें अटूट आस्था रखता है । यह तो स्त्य है कि आंचल की अपनी भौगोलिक विशेषताओं के कारण वह देश की शेष जीवन धारा से कट जाता है । लेकिन यह तो गलत नहीं है । यदि हम उस अंचल को पहचान और समझ सकते हैं तो हमें मालूम होना चाहिए कि हमने सभ्यता के आवरण से रहित मूल मानव को ही समझ लिया है । "अंचल' में जो संस्कृति पाई जाती है वह वहाँ की परिस्थितियों का ही परिणाम है । शंभूनाथ कहते हैं कि 'आंचलिक होने का अर्थ किसी क्षेत्र के जीवन में डूबकर खप जाना नहीं होता, इसमें बहकर इसकी धाराओं को समेटते हुए क्रान्तिकारी जीवन स्तर पर चलना ही आंचलिक संलग्नता है । यह जनक्षेत्रों से गहरी संलग्नता का नाम है ।"[1] डॉ. नगीना जैन के अनुसार "अंचल एक जीवन्त व्यक्तित्व है, नायक है । जैसे

---

1. साक्षात्कार -12 - जून अगस्त - 79 - लेख - कविता और आंचलिकता - पृ. सं : 96

एक व्यक्तित्व की कुछ निजी विशेषताएँ होती है, उसकी प्रकृति होती है, जो उसे अन्य अनेकानेक व्यक्तियों की सामान्य गति स्थिति से पृथक करता है, ठीक वैसे ही अंचल अपनी संपूर्ण विविधता एवं समग्रता के साथ एक स्वतंत्र व्यक्तित्व होता है, जीवन्त और जटिल। समस्त भूमि का अंग होकर भी अपनी विशिष्ट इकाई, विशेष भूखण्ड-न्यारा और विशेष"[1] अंचल का अभिप्राय ऐसे स्थान विशेष से है जो आर्थिक, सामाजिक, और सांस्कृतिक दृष्टि से अपने आप में एक इकाई हो और जिसके जीवन की कुछ निजी विशेषताएँ हो । ये निजी विशेषताएँ किसी दूसरे क्षेत्रों से एकदम अलग प्रतीत कर देती हैं।

किसीं अंचल विशेष के निवासियों के जीवन एवं प्रगति को सविस्तार करने वाली लेखकों की प्रवृत्ति को आंचलिकता कही जा सकती है । विशिष्ट भौगोलिक स्थितियों के कारण उत्पन्न होनेवाली समस्याएँ, मान्यताएँ, वहाँ के संस्कार और अन्धविश्वास, रीतिरिवाज़ आदि उस आंचल को आंचलिकता प्रदान करते हैं । आंचलिकता का शब्द सुनते ही हमारे मन में ग्रामीण परिवेश के दृश्य घटना सब आ जाते हैं, लेकिन ये दृश्य और घटनाएँ सिर्फ ग्रामीण परिवेश में ही नहीं कहीं भी हो सकते हैं । आंचलिकता का मतलब तो लोक-संवेदना के गहरे स्तरों से परिचित होना है । 'आंचलिकता' का शब्द सुनते ही अब हमारे मन में आंचलों में जनता की मुक्ति की लड़ाई का चित्र आना चाहिए

---

1. डॉ. नगीना जैन - आंचलिकता और हिन्दी उपन्यस - पृ. सं : 1

और गांवों में शेषण के पुराने बन्धनों से मुक्ति के लिए आक्रोश करने वाली नई धारों का रूप उमड़ आना चाहिए, शोषकों के शिकंजों से पिसते जानेवाले उन करोड़ों जनजातियों के जीने की उस तीव्र इच्छा धारा को भाषा देना चाहिए । आंचलिकता को कभी रूमानियत से जोड़कर न देखे, ऐसा देखना करोड़ों लोगों से अन्याय होगा । इस आंचलिकता से जीवन के यथार्थ चित्र मिलते हैं।

स्थानीय रंगत :

'आंचलिकता' का अर्थ बहुत से लोगों ने स्थानीय रंगत से लिया है, 'अंचल' का पर्यायवाची है अंग्रेज़ी का 'रीजन' और स्थानीय रंगत का पर्याय है 'लोकल कलर' । अंचल शब्द के साथ स्पष्ट होता है कि एक भूखण्ड विशेष और उस खण्ड विशेष का समग्र जीवन, जो स्थानीय रंगत से बिलकुल भिन्न प्रकार के जीवन-लक्षण का द्योतक है । आंचलिकता और स्थानीय रंगत में उद्देश्य, प्रधानता, परंपरा तथा प्रभाव का अन्तर है । आंचलिकता किसी जनपद के अंचल विशेष की भाषा, संस्कृति एवं उसके उपेक्षित जन-जीवन की समग्र प्रस्तुति में निहित होती है । रूप और सीमा की दृष्टि से भी 'स्थानीय रंगत' आंचलिकता का पर्याय नहीं है ।

स्थानीय रंग के अर्थ में आंचलिक वर्णन का ग्रहण सामान्य तत्व के रुप में होता है, जब कि आंचलिक उपन्यास में आंचलिकता प्रमुख तत्व या लक्ष्य होती है । उपन्यास में स्थानीय रंगत का प्रयोग किसी अंचल को उपन्यास के कथा 'पटफलक' बनाकर उसके रूप रंग का प्रयोग सिर्फ रंगत भर देने के

लिए होता है । याने मूल तत्व के रूप में न होकर साज सज्जा के रूप में होता है, उपन्यास की कथा को अलंकृत करने के लिए अंचल का प्रयोग किया जाता है। लेकन इसके बिलकुल विपरीत है आंचलिकता, आंचलिक चित्रण में क्षेत्र विशेष का समग्र जीवन ही नायक होता है, आंचल रूपी नायक का वर्णन करने के लिए अंचल की प्रकृति, वेश-भूषा, रीति-रिवाज़, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक स्थितियों, विश्वास, धर्म, भाषा आदि का प्रयोग किया जाता है । "स्थानीय रंगत तो प्रायः सभीउपन्यासों में होती है। कथा किस प्रदेश में बहती है वहाँ की प्रकृति, वेश-भूषा, रीति-रिवाज़ की रंगत लेखक उपन्यास में देता चलता है । आंचलिक उपन्यास तो अंचल के समग्र जीवन का उपन्यास है । उसका संबन्ध जनपद से होता है, ऐसा नहीं वह जनपद की ही कथा है ।"[1] भारतीय कृषक की छवि प्रस्तुत करने के लिए और परिवेश व पीढ़िका तैयार करने के लिए ही ग्रामीण वातावरण का चित्रण किया जाता है । अभिप्रेत है कथा, न कि अंचल विशेष। यही स्थानीयरंगत और आंचलिकता का सूक्ष्म अंतर है । "आंचलिकता अपने आप में एक विधा है और उसका लक्ष्य स्थानीय रंगत के प्रयोगों से बिलकुल अलग है ।"[2]

ज़्यादातर लोग आंचलिकता और स्थानीय रंगत को एक मान लेते हैं। दोनें के अन्तर को स्पष्ट करते हुए चन्द्रशेखर कर्ण का कहना है कि "स्थानीय

---

1. रामदरश मिश्र - हिन्दी उपन्यास एक अन्तर्यात्रा - पृ. सं : 188
2. डॉ. राजेन्द्र प्रसाद मिश्र - आंचलिकता की कला और कथा-साहित्य - पृ. सं : 8

रंग किसी भी कथाकृति में जब उसकी वस्तु की पृष्ठभूमि को स्थान विशेष के वातावरण, भौगोलिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं स्थानीय रंग में प्रस्तुत किया जाता है ।"[1] लोगों ने इसे आंचलिकता का पर्याय मान लिया है । स्थानीय रंग जिसप्रकार ग्रामजीवन में होता है ठीक उसीप्रकार नगर जीवन में भी होता है।

उपन्यासकार का प्रयत्न रहता है कि कथा में घटनास्थल की मिट्ठी की गन्ध आने लगे, वह स्थानीय भौगोलिक ब्योरों तथा बोली की पुट से अपनी दुनिया को अधिकाधिक प्रामाणिक बनाता है । स्थानीय रंगत केवल वातावरण तत्व तक सीमित रहता है । उसके कथ्य, कथा तथा चरित्र संबन्धी तत्व सामान्य रहते हैं । स्थानीय रंगत तो इन तीनों तत्वों को अलंकृत करती हैं। यदि यह सजावट उनसे अलग हो जाने पर भी कुछ भी नहीं बदलेगा । लेकिन आंचलिक उपन्यास में कथ्य, कथा और पात्रों से वातावरण संबन्ध रहता है । यहीं नहीं वातावरण इन तत्वों का व्यंजक भी कहा जा सकता है । आंचलिक उपन्यासकार जो समस्या लेता है वह अंचल के जीवन को गहराई से छूती है। इसमें एक विशिष्ट संस्कृति का द्योतक जीवन अपने परिवेश के साथ अवतरित होता है । स्थानीय रंगत में उपन्यासकार सामान्य जीवन को विशिष्ट भू-खंड़ भर में प्रस्तुत करता है ।

प्रादेशिकता :

उसीप्रकार प्रदेश और अंचल का अन्तर भी विचारणीय है । 'प्रदेश' मूलतः भौगोलिक या राजनीतिक इकाई है । आवश्यक नहीं है कि इसके

निवासियों के जीवन परस्पर समान हो । 'अंचल' सामाजिक और सांस्कृतिक इकाई है । इसके निवासियों का जीवन, उनकी चेतना और उनका आचरण व्यवहार, परस्पर समान होता है । इसीलिए प्रत्येक अंचल प्रदेश बन सकता है, किन्तु आवश्यक नहीं कि प्रत्येक प्रदेश एक अंचल हो । आंचलिकता के अर्थ तत्वों को अपने में समाहित किए हुए इसका समान धर्मात्मक शब्द है 'प्रादेशिकता' । आंग्रेज़ी में आंचलिकता और प्रादेशिकता के लिए 'रीजन' या 'रीजनल' शब्द प्रयुक्त होता है । अंग्रेज़ी कोशों के अनुसार रीजन या प्रदेश शब्दों का प्रयोग कभी राज्य के लिए होता था लेकिन आज इसका अर्थ भूमि का एक टुकटा, देश, किसी सीमा तक पृथ्वि की सतह का भाग जो कुछ प्राकृतिक जलवायु संबन्धी दशाओं, जीव, वनस्पति आदि के कारण विशिष्टता रखता है । इससे हमें आंचलिकता और प्रादेशिकता के बीच के एक तात्विक अन्तर स्पष्ट हो जाता है कि प्रदेश एक भौगोलिक या राजनीतिक इकाई होता है तो अंचल सामाजिक, सांस्कृतिक इकाई । प्रदेश बहुत उन्नत या पिछड़ा हुआ हो परन्तु अंचल नवीन बाह्य प्रभावों की तुलना में पिछड़ा हुआ ही होता है।

"प्रादेशिकता एक नहीं अनेक कारणों से आ सकती है और प्राकृतिक विशेषताओं का परिणाम भी हो सकता है । परन्तु अंचल का निर्माण स्वतः ही होता है । सहयोगी या असहयोगी रुचियाँ, राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, अथवा ऐतिहासिक विचार उसके विस्तार का निर्णय नहीं करते । उसमें तो स्वतः ही इन सभी आधारों का समन्वित परिणाम प्रकट हो जाता है और अपने रूप का वह परिणाम प्रकट हो जाता है और अपने रूप का वह स्व्यं ही

विज्ञापन बन जाता है ।"[1] साहित्य में प्रादेशिकता के दो रूप स्पष्ट दिखाई देता हैं । एक आंचलिक रूप का परिवर्तित रूप होता है, दूसरा आंचलिक नहीं व्यंग्यात्मक होता है । प्रादेशिकता जब साहित्य के साथ संयुक्त हो जाती है तब उसके अन्तर्गत वे सभी साहित्यिक गतिविधियां आ जाती हैं जो मनुष्य के भाग्य पर परिवेश के निर्माण कारी प्रभाव को स्वीकार करती है तथा एक निश्चित स्थान के भौगोलिक एवं सांस्कृतिक इतिहास के कारण वहाँ के निवासियों में प्राप्त होने वाले असामान्य गुणों को सत्यता से प्रकट करती है । इसप्रकार की प्रादेशिकता का जब साहित्य से सम्बन्ध जोड़ दिया जाता है तब ऐसे साहित्य का निर्माण हो जाता है जो प्रभाव प्रवणता में आंचलिक उपन्यास के समकक्ष ही बैठता है ।

आंचलिक संस्पर्श :

'आंचलिक संस्पर्श' न तो आंचलिकता है और न स्थानीय रंग । यह दोनों के बीच की स्थिति है । आंचलिक संस्पर्श देकर कथाकार यथार्थ को ठोस आधार देता है । इससे कथा अर्थ सन्दर्भों से भर जाती है, चरित्र चित्रण स्वाभाविक बनता है और शैली प्रभावी हो जाती है ।

आंचलिक संस्पर्श कोई प्रवृत्ति नहीं है । आंचलिक संस्पर्श में आंचलिकता की तरह किसी एक भू-भाग के विशिष्ट जीवन का चित्रण नहीं होता । इसके द्वारा अपनी रचना के भीतर आए विभिन्न स्थलों की विशिष्टताएँ

---

1. आदर्श सक्सेना - हिन्दी के आंचलिक उपन्यास और उनकी शिल्प विधि - पृ. सं : 29

रेखांकित़ की जाती हैं । इसके द्वारा वह किसी आंचल विशेष के ज़ीवन की अभिव्यक्ति नहीं करना चाहता है । हिन्दी उपन्यासों के संन्दर्भ में आंचलिक संस्पर्श पर विचार करते हुए डॉ. बेचन ने कहा है कि "आंचलिक संस्पर्श में लेखक का मुख्य उद्देश्य कुछ दूसरा ही होता है और उसकी पूर्ति के लिए वह आंचलिक विशिष्टओं का चित्रण करता है । उसका प्रधान उद्देश्य नवीन सामाजिक पृष्ठभूमि में उठते उभरते हुए नये मानव, आर्थिक सामाजिक संघर्ष एवं जीवन का चित्रण करना होता है ।"[1]

कुछ लोग इस आंचलिक संस्पर्श को प्रभावशाली साधन मानते हैं , तो कुछ लोग इसे सुसज्जा की वस्तु मानते हैं । दोनों मत गलत नहीं है । क्यों कि आंचलिक संस्पर्श साधन तो है परन्तु सामाजिक, आर्थिक संघर्ष चित्रण मात्र का नहीं वह सुसज्ज की वस्तु भी है परन्तु अंचल विशेष के जीवन को आभिव्यक्ति देनेवाली अनिवार्य सुसज्जा की । "आंचलिक संस्पर्श यथार्थ निरूपण की एक प्रणाली है, जिसके द्वारा कथाकार देशकाल व वातावरण का प्रभावशाली रूप उपस्थित कर कथा को अधिक अर्थपूर्ण, चरित्र चित्रण को अधिक स्वाभाविक; शैली को अधिक चित्रोपम तथा संपूर्ण कथा को अधिक रोचक बनाता है ।"[2]

---

1. डॉ. बेचन - आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य और चरित्र चित्रण - पृ. सं : 186
2. आदर्श सक्सेना - हिन्दी के आंचलिक उपन्यास और उनकी शिल्प विधि- पृ. सं : 35

आंचलिक उपन्यास के स्वरूप एवं लक्षण :

हिन्दी उपन्यास के क्रमिक विकास की कहानी में आंचलिक उपन्यास का उद्‌भव और विकास महत्वपूर्ण घटना है । आंचलिक उपन्यास जहाँ एक ओर नव्यतम विधा के रूप में प्रतिष्ठित होता है, वह शेष सभी प्रकार के उपन्यसों से पृथक अपनी सत्ता को स्थापित करता है । 'आंचलिक' शब्द विशेषण है और वह उपन्यास शब्द के साथ जुड़कर उसे एक विशिष्ट संदर्भ में परिभाषित करता है । "किसी भूखण्ड़ या क्षेत्र या अंचल विशेष के उस जीवन का अध्ययन या चित्रण, जो उसकी समग्र क्षेत्रीयता का द्‌योतक हो, आंचलिकता है और अंचल के भौगोलिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक सीमाबद्ध खास क्षेत्र के सामान्य जीवन सत्यों के अन्तर या एक रूपता का निदर्शन करना आंचलिक उपन्यास का आदर्श है ।"[1] हिन्दी साहित्य कोश के अनुसार "कुछ उपन्यासों में किसी प्रदेश विशेष का यथा-तथ्य और बिंबात्मक चित्रण प्रधानता प्राप्त कर लेता है तो उन्हें प्रादेशिक या आंचलिक उपन्यास कहा जाता है ।"[2] आंचलिक उपन्यासों में कुछ विशिष्ट तत्वों का संयोजन किया जाता है ।

श्री नन्ददुलारे वाजपेयी के अनुसार आंचलिक उपन्यास वह है "जिसमें अपरिचित भूमियों और अज्ञात जातियों के जन जीवन का वैविध्यपूर्ण चित्रण हो ।"[3] आंचलिक उपन्यास में अंचल ही सर्व प्रमुख है । अतः वहाँ का

---

1. डॉ.नगीना जैन - आंचलिकता और हिन्दी उपन्यास - पृ. सं : 17
2. हिन्दी साहित्य कोश - भाग (1) पृ. सं : 156
3. सारिका - अक्तूबर - 1961 - पृ. सं : 14

वैविध्यपूर्ण जीवन ही उपन्यास में नायक होता है । इसीकारण से आंचलिक उपन्यास में उपन्यासकार की दृष्टि जितनी अंचल विशेष पर रहती है उतनी उपन्यास के अन्य पहलुओं पर नहीं रहती । आंचलिक उपन्यास एक आंचल विशेष के समग्र जीवन का संश्लिष्ट चित्र प्रस्तुत करता है । राजेन्द्र अवस्थी आंचलिक उपन्यास को नवीनयुग के नये वातावरण से युक्त मानते हैं । वे लिखते हैं "आज के व्यक्तिवाद साहित्य के विरुद्ध और प्रेमचन्द युग की जर्जर और टूटती हुई परंपराओं का मोह छोड़कर नये युग के नये आयामों को अपनी समर्थ लेखनी से सामने उभारकर लाने का काम इस तीसरी धारा ने किया, जिसे आंचलिक साहित्य कह सकते है ।"[1] आंचलिक उपन्यास यथार्थवादी उपन्यास की अग्रिम कड़ी है । सामाजिक यथार्थ का अनेक रूपों में प्रस्फुरण हुआ उनमें आंचलिक यथार्थ भी एक है । यथार्थ के प्रति आग्रह ने ही आंचलिक प्रवृत्ति के विकास पर बल दिया।

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात देश में जो जनजगरण की लहर आई, उसमें बुद्धिजीवी वर्ग का ध्यान पिछड़े उपेक्षित अंचलों, वर्गों और जनजातियों के जीवन की बहुरंगी समस्याओं की और गया । उपन्यास मानव-चरित्र का चित्र है । इसलिए औपन्यासिकों ने आंचलिक रूपी नयी विधा से विशिष्ट भू-भाग की समूची ज़िन्दगी को उसकी व्यपकता और संश्लिष्टता में व्यंजित करने का प्रयास किया । आंचलिक उपन्यास की मूल दृष्टि संपूर्ण अंचल के जीवन की विशिष्टता को बिंबित करने की ओर रहती है । "आंचलिक उपन्यास का

---

1. सारिका - अक्तूबर - 1961 - पृ. सं :15

अभीष्ट किसी अंचल विशेष को चित्रित कर देना मात्र ही नहीं, बल्कि युग-जीवन के संदर्भों में बनते बिगड़ते जीवन मूल्यों की प्रतिष्ठा करना भी है ।"[1]

आंचलिक साहित्य में अंचल जीवन अपने सजीव एवं नैसर्गिक रूप में संपूर्ण सौन्दर्य और कुरूपता के साथ प्रकट होता है । उसमें अनुभव की सघनता एवं प्रामाणिकता सामाजिकता का संस्पर्श करके लोकजीवन की साक्षी बनजाती हैं । आंचलिक उपन्यासों में चित्रित घटना, घटनाक्रम और पात्र का कार्यक्रम भौगोलिक सीमान्त का परिचायक बनता है । आंचलिक उपन्यासकार इसलिए अंचल के जीवन के भोक्ता या निकट द्रष्टा होते है अथवा उनका जीवनानुभव ही आंचलिक उपन्यासों का उपजीव्य बनता है । इसलिए सचमुच एक सीमित अंचल या क्षेत्र के सर्वांगीण जीवन को वस्तुन्मुखी दृष्टि से प्रस्तुत करने के औपन्यासिक उपक्रम को आंचलिक उपन्यास कहना संगत है ।

जितना ऐतिहासिक उपन्यास महत्वपूर्ण होता है उतना आंचलिक उपन्यास भी महत्वपूर्ण होता है । एक इतिहास के परिवेश में मनुष्य को पाता है तो दूसरा भूगोल के परिवेश में । दोनों हमारे बोध को बढ़ाते हैं, हमें अपने समय और समाज के प्रति आधिक सजग और प्रबुद्द करते है । आंचलिक उपन्यास में परिवेश की प्रमुखता है, जितना भू-भाग आंचलिक उपन्यास के केन्द्र में होता है उतना पात्र या चरित्र नहीं होता । हिन्दी का आंचलिक उपन्यास साहित्य देश के विभिन्न अंचलों की रीतियों, नीतियों, परंपराओं, प्रथाओं और

---

1. प्रेमचन्दोत्तर हिन्दी उपन्यास नये नैतिक मूल्य-शशिगुप्ता - पृ.सं : 265

जीवन शैलियों को चित्रित करता है । जिनका अध्ययन निर्विवाद रूप से राष्ट्रीय एकता की भावना को दृढ़ता प्रदान कर रहा है । आंचलिक उपन्यासों का अध्ययन राष्ट्रीय महत्व का विषय है । जिनके द्वारा हम अपरिचित अंचलों के विषय में नवीन जानकारियाँ प्राप्त कर उनसे भावात्मक एकात्मता स्थापित करते हैं और राष्ट्र-एकता को सुदृढ़ता प्रदान करते हैं । आंचलिक उपन्यास का अपना अभिप्रेतार्थ है, इसबात को स्पष्ट करते हुए डॉ. रामदरश मिश्र लिखते हैं - "आंचलिक उपन्यास अंचल के समग्र जीवन का उपन्यास है। उसका संबन्ध जनपद से होता है ऐसा नहीं वह जनपद की ही कथा है ।"[1] आंचलिक उपन्यास यथार्थवाद से संबंध होने के कारण आलोचक वर्ग इसे यथार्थवादी उपन्यासों की अग्रिम कड़ी भी मानते हैं ।

हिन्दी कथा साहित्य में आंचलिकता का व्यवस्थित स्वरूप सन् 1950 के बाद स्पष्ट हुआ। यद्यपि हिन्दी कथासाहित्य में आंचलिकता के तत्व बहुत पहले से ही मिल जाते हैं। आंचलिक उपन्यास के स्वरूप के संबन्ध में अनेक विद्वानों ने परिभाषा दी है :

1) "कुछ उपन्यासों में किसी प्रदेश विशेष यथा-तथ्य और बिंबात्मक चित्रण प्रदानता प्राप्त कर लेता है और उन्हें प्रादेशिक या आंचलिक उपन्यास कहा जाता है ।"[2]

---

1. डॉ. रामदरश मिश्र - हिन्दी उपन्यास एक अन्तर्यात्रा- पृ. सं : 225
2. डॉ.धीरेन्द्र वर्मा - हिन्दी साहित्य कोश - पृ. सं : 141

2) "विशिष्ट आंचलिक वातावरण में दिन प्रतिदिन की सामान्य घटनाओं तथा वर्ग-विशेष से एक खास भौगोलिक संस्कृति का उद्घाटन करना आधुनिक आंचलिक वाद का उद्देश्य या आग्रह है।"[1]

3) "आंचलिक उपन्यास का उद्देश्य है स्थिर स्थान पर गतिमान समय में जीते हुए अंचल के व्यक्तित्व के समग्र पहलुओं का उद्घाटन करना ।"[2]

4) "किसी उपन्यास में आंचलिकता की विशेषता शैली, शिल्प, बोली, बानी, रीति-रिवाज़ों आदि की ही विशेषता नहीं वरन् दृष्टिकोण की भी विशेषता है ।"[3]

5) "आंचलिक उपन्यासकर राष्ट्र के विभिन्न भू-भागों या विशिष्ट अंचलों की उनकी तमाम अच्छाइयों बुराइयों सहित निर्लिप्त दृष्टि से चित्रण करता है, जिससे पाठकों के सम्मुख उस विशिष्ट अंचल का चित्र साकार हो उठता है ।"[4]

इन परिभाषाओं से यह बात उभरकर आयी है, वह है किसी अंचल विशेष का यथार्थ चित्रण। आंचलिक उपन्यास एक स्वस्थ, नव्य तथा भव्य विधा है । अधिकांश विद्वान आंचलिक रचना का सारा बल समग्रता पर देते हैं ।

---

1. आलोचना - अंक 35 - जानवरी 1960 - मधुकर गंगाधर
2. डॉ.रामदरश मिश्र - हिन्दी उपन्यास एक अन्तर्यात्रा - पृ. सं : 166
3. डॉ.रामगोपालसिंह चौहान - आधुनिक हिन्दी साहित्य - पृ. सं : 217
4. पूर्णदेव - रेणु का आंचलिक कथा साहित्य - पृ. सं: 14

आंचलिक उपन्यास किसी प्रांत भाग या अंचल विशेष में निवास करनेवाली जात अथवा वर्ग विशेष के समग्र वातावरण तथा क्रिया कलापों को उनकी अपनी विशिष्टताओं के साथ अपने अंतस् में समाहित किए रहता है । अंचल की भौगोलिक संस्कृति की उसकी ऐतिहासिक परंपरा में वैज्ञानिक अध्ययन ही आंचलिक उपन्यास का लक्ष्य है । आंचलिक उपन्यास एक ही प्रकार के परिवेश में, क्षेत्र विशेष का सत्य उद्घाटित करता है, वे क्षेत्र विशेष की जीवन प्रथा के विभिन्न स्तरों, विभिन्न प्रकारों तथा पृथक पृथक विभिन्न दलों का प्रतिनिधित्व करते हैं । अतः यह आदर्श व्यक्तित्व का निरूपण और जीवन के सर्व मान्य सत्य का उद्घाटन नहीं होता, वरन् एक विशेष भौगोलिक या सांस्कृतिक क्षेत्र के सामान्य जीवन सत्य को अभिव्यक्त करता है । इसप्रकार देशकाल, जाति, धर्म, भौगोलिकता, आर्थिक प्रणाली, सामाजिक संगठन, रीति-रिवाज़, भाषा, आदि से निश्चित क्षेत्रीय जीवन का आख्यान ही आंचलिक उपन्यास का विषय है ।

आंचलिक उपन्यसों के कुछ लक्षण ये हैं कि, वह लोकाश्रय की भावना को यथार्थ से जोड़कर एक नया निर्माणोन्मुखी साहित्य का सृजन करता है । इसका कार्यक्षेत्र अपरिष्कृत जन-जातियों तक पहूँच जाता है, इसमें वातावरण ही प्रदान है इसलिए प्रकृति चित्रण अनिवार्य है । उपन्यासकार की अभिव्यक्ति ज़्यादातर चित्रात्मक होती है । नायक अंचल ही होता है । अगर कोई पात्र हो तो वह भी उस अंचल का प्रतिनिधित्व करने वाला होता है । इसमें लोक भाषा का काफी प्रयोग होता है । जिस क्षेत्र का वर्णन हो वह उस

क्षेत्र की संस्कृति का दस्तावेज़ होता है । स्थानीय रंग अवश्यंभावी है । आंचलिक उपन्यासों में लोककथा और लोकगीत का समावेश होता है, साथ ही अंचल कभी कभी मिथकीय परिवेश ग्रहण कर लेता है ।

आंचलिक उपन्यास के प्रमुख तत्व :

आंचलिक उपन्यासों में कुछ ऐसे विशिष्ट तत्व होते हैं जो इसे एक नयी भूमि प्रदान करके सामान्य उपन्यासों से अलग कर देते है । आंचलिक उपन्यासों की संरचना के मूल तत्व हैं - कथानक, यथार्थ परिवेश, चरित्रों की मनःस्थितियाँ, आंचलिक भाषा, बिंबों एवं प्रतीकों का प्रयोग तथा अंचल के प्रति प्रगतिशील दृष्टिकोण, उद्देश्य आदि ।

कथानक :

आंचलिक उपन्यास में कथा का संगठन क आधार कथानक, पात्र अथवा उद्देश्य विशेष न होकर एक विशिष्ट भू-भाग होता है, अतः कथानक अंचल केंद्रित होता है या ग्रामीण जन जीवन के वर्ग विशेष तक सीमित रहता है। आंचलिक उपन्यास का कथानक इतना जटिल होता है कि उसके तंतुओं एवं सूत्रों को अलगाकर देखा नहीं जा सकता । कथानक का उद्देश्य एवं लक्ष्य आंचलिक जन जीवन का समग्र आलेखन करना होता है । इस संदर्भ में डॉ. रामदरश मिश्र का मत है "इन उपन्यासों में कथागत बिखराव का आभास होता है । समग्रता को समंजित करने, अपने पक्षों को बांधने, कोण वैविध्य के समवाय, अनेक जीवन स्तरों को एक साथ रखने, संगठित करने के बहुमुखी

प्रयत्नों में विच्छिन्नता का प्रतिभास स्वाभाविक ही है । यहां बाह्य संगठन देखने की चेष्टा न्यायोचित नहीं है क्यों कि इनका संगठन आंतरिक ही हो सकता है।"[1] राधेश्याम कौशिक के अनुसार 'क्षेत्र विशेष का रंग आंचलिक उपन्यसों से सिर पर चढ़ कर बोलता है, कथानक भी उससे बच नहीं सकता"[2] "जनपद वासियों के अनुरूप ही कथा का निर्माण करना आंचलिक उपन्यासों के शिल्प और कलापक्ष की आवश्यक माँग है जिसे ये उपन्यासकार पूरा करते हैं ।"[3]

यथार्थ परिवेश :

आंचलिक उपन्यासों के अधिकतर लेखक उन जनपदों का ही जीवन प्रकाशित कर रहे हैं जिनको उन्होंने स्वयं भीतर से जिया है, भोगा हैं । यथार्थ परिवश की उत्कट अवतारणा एक विशेष स्थान रखती है । देशकाल, वातावरण अर्थात परिवेश ऐसा निर्माण में सबसे अधिक सहायता देता है । हर व्यक्ति परिवेश से प्रभावित रहता है । उसके रीति-रिवाज़, खान-पान, उत्सव, गीत, रहन-सहन, बोलचाल, संघर्ष आदि सब परिवेश पर ही आश्रित होते हैं । इसप्रकार स्थल विशेष का आँखों देखा आलेख तथा असामान्य जीवन-चर्या को एक इकाई में प्रस्तुत करने के लिए देशकाल, वातावरण का सूक्ष्म एवं वास्तविक वर्णन किया जाता है ।

---

1. डॉ. रामदरश मिश्र - हिन्दी के आंचलिक उपन्यास - पृ. सं : 184
2. राधेश्याम कौशीक - हिन्दी के आंचलिक उपन्यास - पृ.सं : 16
3. कुसुम सोफ्ट - फणीश्वर नाथ रेणु की उपन्यास कला - पृ. सं : 24

चरित्र :

आंचलिक उपन्यास के पात्र परंपरागत चरित्र प्रदान या अन्य उपन्यासों से सर्वथा अलग होते हैं । वे न तो टाईप होते हैं न व्यक्तिवादी, न स्टेटिक और न ही फ्लैट । पात्रों की न कोई स्वतंत्र सत्ता होती हैं और न उनकी कोई आइडेंटिटी ही होती हैं । सब पात्रों का विकास एक दूसरे के लिए नहीं होता, उस विशिष्ट अंचल के लिए होता है ।

आंचलिक भाषा :

अन्य उपन्यासों की भाँति आंचलिक उपन्यासों की भाषा सपाट बयानी नहीं होती । "इसमें विशिष्ट लोक-भाषा का सर्जनात्मक प्रयोग किया जाता है, जिंसके कारण परंपरागत घिसीपिटी एवं निर्जीव भाषा को एक नयी संचेतना प्राप्त हुई"[1] भाषा केवल भाषा ही न होकर वातावरण भी बन जाती है। आंचलिक बोलियों, उच्चारणों एवं ध्वनियों का चित्रण पाठक को उस अंचल में विचरण करने की सी अनुभूति कराने में सफल होता है । तत्सम शब्दों की उपेक्षा तद्भव शब्दों को स्वीकार अधिक किया जाता है । शैली की दृष्टि से देखा जाय तो यथार्थावादी शैली आंचलिक उपन्यासों की विशेषता है । स्वाभाविक वर्णन आंचलिक उपन्यास की विशिष्ट शैली है । भाषा उसके शिल्प को चमत्कार से युक्त करती है । आंचलिक उपन्यासों में बिंब एवं प्रतीकों तथा रंग का संयोजन एक भावमय यथार्थ का सृजन करता है ।

---

1. दंगल झाल्टे - नये उपन्यासों में नये प्रयोग - पृ. सं : 33

आंचलिक उपन्यासों में व्यंग्यात्मक, डायरी, चेतन प्रवाही, फ्लैशबाक शैली, इतिवृत्तात्मक, आत्मकथात्मक तथा समग्र प्रभावी आदि शैलियों का मिला जुला प्रयोग किया गया हैं । जिससे नये-नये शिल्प का निर्माण हुआ है । "आंचलिक उपन्यासों में बिंब, प्रतीक और विविध रंगों की योजना से परिवेश की बाहरी आभा ही नहीं अपितु पात्रों के आंतरिक उद्वेलन एवं उनकी मानसिक हलचलों का भी सिल-सिलेवार ब्यौरा प्रस्तुत हुआ है।"[1] बिंबों और प्रतीकों के माध्यम से करनेवाले संवेदनाओं का संप्रेषण अत्यन्त प्रभाव शाली होता है।

आंचल के प्रति प्रगतिशील दृष्टिकोण :

आंचलिक उपन्यासों में अधिकांश अंचल पिछड़े वर्ग के होते हैं । इन पिछड़े वर्गों पर अत्याचारों का यथार्थ चित्रण करते हुए आंचलिक उपन्यासकारों ने शोषित, दलित, निम्न वर्ग में जागृत होनेवाली संघर्षशील भावनाओं को अभिव्यक्त प्रदान की है । विकास की ओर उन्मुख होने की एक प्रवृत्ति वहाँ की जनताओं की आक्रोश भरी आवाज़ से उपन्यासकार व्यक्त करते हैं । अपने ऊपर होनेवाले शोषण से वह परिचित हो गया है । इसके विरुद्द आवाज़ उठाने की शक्ति उपन्यासकार पात्रों को देते हैं ।

उद्देश्य :

प्रत्येक कृति की रचना के पीछे एक उद्देश्य होता है । यही लेखक का जीवन दर्शन होता है, जिसे वह अपनी रचना में रूपायित करता है यही

---

1. दंगलझाल्टे - नये उपन्यासों में नये प्रयोग - पृ. सं : 34

आंचलिकता की वास्तविक आवश्यकता है । डॉ.नगीना जैन के अनुसार इस उद्देश्य प्राप्ति के लिए "उपन्यासकार अपने अनुभव और आत्मीयता के आधार पर किसी कथा भूमि का चयन करता है और उसमें अंचल की भौगोलिक संस्कृति के साक्षात् प्रयत्न करता है ।"[1] अर्थात यथार्थ चित्रण करना कथाकार का मुख्य लक्ष्य होता है इसी की ज़रिए लेखक किसी विशिष्ट उद्देश्य को भी प्रस्तुत करता है । आंचलिक उपन्यासकार तनिक भी छेड़-छाड़ किए बिना ऐतिहासिक जानकारी के प्रकाश में घटनाओं, व्यक्तियों, और परिस्थितियों को इसप्रकार वैज्ञानिक अंकन प्रस्तुत करते हैं कि उस अंचल विशेष के जीवन और संस्कृति का सत्य उभरकर सामने आता है । आधुनिक भावबोध को गहराना उन उपन्यासों का प्रमुख उद्देश्य है । अन्य गौण उद्देश्य हैं - नारी स्वतंत्रता, शिक्षा प्रसार, अन्धविश्वास निवारण, सफाई एवं स्वस्थ सुधार, पंचायतों के द्वारा ग्राम सुधार, अनावृष्टि एवं अतिवृष्टि के उपाय करना, सहकारी योजनाओं की क्रिया शीलता को अपेक्षा कृत तीव्र करना आदि हैं । इसके उद्देश्य पर विचार करते हुए डॉ. रामदरश मिश्र ने कहा हैं "स्थिर स्थान पर गतिमान समय में जीते हुए अंचल के व्यक्तित्व के समग्र पहलुओं को उद्घाटित करना आंचलिक उपन्यासों का उद्देश्य है ।"[2] इसप्रकार वह हमारे सौन्दर्य बोध और संवेदना का विस्तार करता है, और अनदेखी जीवन छवियों हमारे सामने उजागर करता है ।

---

1. डॉ. नगीना जैन - आंचलिकता और हिन्दी उपन्यास - पृ. सं :51
2. डॉ. रामदरश मिश्र - हिन्दी उपन्यास एक अन्तर्यात्रा -पृ. सं : 166

आंचलिक उपन्यासों की प्रवृत्तियाँ :

देशकाल का चित्रण ही आंचलिक उपन्यास की एक प्रवृत्ति है। आंचलिक उपन्यास में जहाँ की भूमि है वहाँ के जीवन का उद्‌भव और विकास, व्यक्ति के रहन-सहन, वेश-भूषा आदि पर प्रभाव डाला जाता है। आंचलिक उपन्यासों में विद्रोही भावना भी एक प्रवृत्ति है। जीवन में राजनीति का अनौचित्य आंचलिक उपन्यासों की प्रवृत्तियों में एक है । अविकसित अंचलों में राजनीति का प्रवेश आधिकांशतः अहितकर सिद्ध हुआ है । चालाक नेताओं वहाँ की भोली भाली जनता को कल्याण का वादा देकर अपनी स्वार्थता की पूर्ति करता है । धार्मिक अन्धविश्वासों और पाखण्ड़ों में अनास्था एक प्रवृत्ति है, पिछड़ा हुआ जन समाज धार्मिक अन्धविश्वासों और पाखण्ड़ों में विश्वास करता है । धूर्त व्यक्ति जनता को धर्म के धोखे में डालकर किसप्रकार लाभ उठाता है इसका चित्रण आंचलिक उपन्यास करता है । आंचलिक उपन्यासों में दिखाई देने वाली और एक प्रवृत्ति है आशावादी दृष्टिकोण । आंचलिक उपन्यासों में निम्न जातीय लोगों के जीवन में क्रान्तिकारी चेतना के आधार पर उपन्यासकारों ने उनके उद्दार की आशा की हैं । स्त्री-पुरुष की समानतां का दृष्टिकोण की प्रवृत्ति भी उपन्यास में पायी जाती है । पतिता, नारियों के प्रति उदारता का समाज विरोधी नवीन दृष्टिकोण है । उनके पतित होने का दायित्व, समाज का है । विधवा विवाह को भी प्रोत्साहन दियां जाता है । जातीय उच्चता एवं हीनता का दृष्टकोण भी विद्‌यमान है ।

इसप्रकार आंचलिक उपन्यासों में मानव जीवन में पिछड़े हुए वर्ग का सुन्दर चित्रण हुआ है । आविकसित जातियों में शोषण में विद्रोह, जनजागृति, युग-युग से घर के चहार दीवारों में पिसती हुई नारी की नवीन चेतना, धार्मिक पाखण्ड़ों में अनास्था का स्वर मुखरित हुआ है, जो आंचलिक जीवन में जन जागरण का सन्देश देता है ।

आंचलिक उपन्यासों की विशेषताएँ :

अन्य उपन्यास विधाओं से तुलना करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि आंचलिक उपन्यासों की अपनी विशेषताएँ हैं । वैसे तो गन्दगी, ईर्ष्या-भाव, मूर्खता, स्वार्थ, अन्धविश्वास, जादूटोना, जाति-पांती, स्पर्धा, कामुकता, ज्योतिष-विद्या, कुंठाएँ और ग्रन्थियाँ आदि से युक्त एक अंचल का चित्रण करके हमें उस आंचल से इतना परिचय बढ़ाता है कि हमें ऐसा लगेगा जैसे हम भी उस अंचल के हो । गांव के पूँजीपतियों का एकाधिकार रहता हैं । उसमें पिसती जाने वाली जनता को प्रकाश में लाया जाता है । आंचलिक उपन्यास नारी की पराधीनता का अंधकारतम पक्ष को प्रस्तुत करके स्त्री स्वातंत्रय पर बल देते हैं। आंचलिक उपन्यसकार तो उपेक्षित नारियों की स्वातंत्रय चेतना को वाणी प्रदान कर रहा है । लोक-संस्कृति का पुनरुथान आंचलिक उपन्यास की और एक विशेषता है । "प्राचीन परंपराओं और सांस्कृतिक मान्यताओं की रक्षा का प्रभाव और भी गंभीरता के साथ युग के सामने उपस्थित हो गया है ।"[1] इसलिए

---

1. डॉ. माखनलाल वर्मा - हिन्दी उपन्यास सिद्धान्त और समीक्षा - पृ . सं : 219

आंचलिक उपन्यासकार प्रदेश विशेष के रीति-रिवाज़, रहन-सहन, त्योहार-पर्व, तीर्थ-मेले, लोकनृत्य, लोकगीत, लोककथाएँ, परंपरागत मान्यताएँ, विभिन्न प्रकार की रूढ़ियाँ, कला, वोली, वाणी, लोकोक्ति, मुहावरे आदि पर भरसक आलोक प्रक्षेपण कर रहे हैं, यह आंचलिक उपन्यास की एक प्रमुख विशेषता है । इनके अतिरिक्त आंचलिक उपन्यासों में गांवों के भांज्य और पेय पदार्थों, पशु-पक्षियों, वनस्पतियों, जलाशयों, उत्सव-त्योहारों, नृत्यों, अस्त्र-शस्त्र, औजारों और वाद्य यन्त्रों इत्यादि अनेकानेक संस्कृति परिचायक कोणों को उभारा गया है । इससे लोक संस्कृति का पुनरुत्थान हो रहा है । उपन्यासों की आंचलिक धारा की यह सर्वोपरी विशेषता है ।

युगचेतना की अभिव्यक्ति आंचलिक उपन्यासों में सर्वत्र लक्षित होती है । इसलिए आंचलिक उपन्यासों में भूख-हड़तालें, अनशन, सत्याग्रह जैसी बातें देखने को मिलती हैं । ग्रामवासियों के बीच की विश्वबन्धुत्व की भावना को भी लेखक दिखाते हैं । उपन्यासों में कुछ पात्र लोक संस्कृति मूलक समाज के गठन के लिए ही उपन्यासों में आते हैं । आधुनिकता का प्रभाव भी युग चेतना का ही प्रकाशक है । आंचलिक उपन्यासों में समसामयिक चेतना एवं बोध अधिक गहराई से उभरा है । अंग्रेज़ी शब्दों की बढ़ती हुई जानकारी भी इसी बात की सूचक है । आंचलिक उपन्यास आज की उपन्यास कला की एक शक्ति शाली पद्धति है । आंचंलिक उपन्यास देशीय जीवन को समीप लाता है, हमारे और देश के बीच का संबंध और भी दृढ़ बनता है ।

डॉ. ब़च्चन सिंह आंचलिक उपन्यास के संबन्ध में कहते हैं क़ि "आंचलिक उपन्यासों में अंचल वेशेष की माटी की सोंधी महक, प्रकृति के निबाध प्रसार, लोक संस्कृति के छन्द तथा लोक-भाषा की ताज़गी की मोहक छवियों कथा बिंबों में इसतरह से उभारा जाता है कि पूरा अंचल अपनी समग्रता में चित्रित हो उठता है । अमूर्त अंचल का साभिप्राय समूर्तन इसकी विशेषता है।"[1] आंचलिक उपन्यास जन जीवन के भीतर चलने वाली धाराओं को देखता है, और उन्हें सहृदयता के साथ अंकित करते हैं । आंचलिक उपन्यास जिस दृष्टिकोण को लेकर चलता है उसके कारण समाज का परिवेश स्वयं व्यक्ति के समान मुखर हो उठता है । इसप्रकार अनेक विशेषताओं से समृद्ध है आंचलिक उपन्यास ।

आंचलिक उपन्यास का उद्‌भव और विकास :

कथा साहित्य में आंचलिकता का श्रीगणेश करने का श्रेय अमेरिकी उपन्यासकारों को है । पश्चिमी साहित्य में आंचलिक उपन्यासों का सृजन तथा विस्तार उन्नीसवीं शताब्दी की उपलब्धि है । नगरी जीवन तथा उसकी सभ्यता और संस्कृति को चित्रित करते-करते पश्चिमी उपन्यासकार इतने ऊब गए कि अंचल का अछूता दृश्य पाठकों के लिए विषय बन गया । पश्चिमी साहित्य में 'मेरिया एजवर्त' को इस नवीनतम शैली आंचलिक कृतियों की प्रवर्तिका माना जाता है । इस नयी शैली के उपन्यासों को उन्होंने ही सर्वप्रथम आंचलिक

---

1. डॉ. बच्चन सिंह - आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास - पृ . सं : 393

उपन्यास नाम प्रदान किया । 'कैसल रैकरेंट' नामक उसके इस उपन्यास ने इस क्षेत्र में एक नयी क्रांति उपस्थित कर दी । कुछ आलोचक 'बिट हारट' को ही आंचलिकता की शुरूआत करने का श्रेय देते हैं । उन्होंने अंचल विशेष को किसी स्थान, काल, संस्कृति या संस्कार के लोगों का प्रयोग, व्यक्तित्व के निरूपण तथा जीवन के सर्वमान्य सत्य की अभिव्यक्त के लिए न करके भौगोलिक या सांस्कृतिक सीमाबद्ध खास क्षेत्र के सामान्य जीवन के सत्यों का अंतर या एकरूपता उद्‌घाटित करने में किया।

विश्व के अन्य देशों में आंचलिकतावाद अमेरिका से गया । 'बिटहार्ट' के समकालीन 'स्टो' ने 'ओल्ड टाउन ऑक' में एक देहाती आंचल की संस्कृति, सामाजिक-आर्थिक जीवन रीति-रिवाज़ आदि को चित्रित किया । 'जिवेट' ने 'द कंट्री ऑफ द प्वाइटडपार्स' में आंचलिकता की स्वस्थ परंपरा को जन्म देते हुए यथार्थ चित्रण पर अधिक ध्यान दिया । प्रथम महायुद्ध के बाद 'बिलाकैथर', 'फॉकनर', 'स्टेनबेक', 'लूई सिंक्लेयर' जैसे सशक्त आंचलिक उपन्यासकार हुए । अंग्रेज़ी के आंचलिक उपन्यासकारों में 'थॉमस हार्डी' का नाम विशेष उल्लेखनीय है । 'टेस ऑफ द डर्वीवल' में हार्डी ने 'ब्लेकमूर' की हरी भरी घाट के मार्लोट गांव का चित्रण किया है । इसके अलावा अपने 'वेसेक्स' उपन्यास में वहां के विशेष अंचल को कथा का आधार बनाया है । सन् 1893 में प्रकाशित 'लइफ ऑन द मिसीसिपी' 'मार्क ट्वेन' का सुप्रसिद्ध उपन्यास है । इंग्लैड़ में सबसे पहले 'थॉमस हार्ड़ी' तथा अमेरिका में 'मार्क' ने अपने उपन्यासों में वेसेक्स तथा मिसीसिपी घाटी के अंचलों के जन जीवन का यथातथ्य एवं बिंबात्मक चित्रण कया ।

इसतरह आंचलिक कथा साहित्य का जन्म अमेरिका में हुआ । दूसरे देश के साहित्यकारों ने भी अपने कथा साहित्य में इस विधा का स्वागत किया। लेकिन उस ऊँचाई को प्राप्त नहीं कर सके जिस ऊँचाई तक अमेरिकी उपन्यासकार पहूँच चुके थे । इस संदर्भ में डॉ. नगीना जैन ने सही कहा है कि "अमेरिकी आंचलिक उपन्यासकारों जैसी सही परंपरा अंग्रेज़ी, फ्रेंच या रूसी सहित्य में नहीं मिलती । इसका आशय यह नहीं कि उन साहित्यों में आंचलिक उपन्यासों का एकांत अभाव है । मेरा बल सही परंपरा पर है । इस परंपरा को जानने पहचानने का प्रयत्न या तो उस रूप में हुआ ही नहीं या फिर जो हुआ वह सीमित था, अंशगत और स्थानीय रंगत के बीच में कहीं ।"[1]

उपन्यास का इतिहास साक्षी है कि जब यूरोप में नागरिक जीवन का चित्रण अपनी चरम सीमा पर पहूँच गया तब पाठकों को उसमें बासीपन दिखाई देने लगा । परिणाम स्वरूप एशिया और आफ्रिका की जतियों को लेकर उपन्यास लिखे गये ऐसे उपन्यास यूरोपीय पाठकों को अवरुद्ध वातावरण में आनेवाली ताज़ी हवा के झोंके समान प्रतीत हुए । आंचलिक कथा साहित्य लेखन प्रवृत्ति भारत में हिन्दी से पहले असमिया, बंगाल, उड़िया, गुजराती आदि प्रांतीय भाषाओं में दिखलाई देती है । भारतीय उपन्यासों में आंचलिकता का स्रोत पहले बंगाल के उपन्यासों में दिखाई देने लगा । 'शरतचंद्र' ही बंगाल के आंचलिक उपन्यासकार है । लेकिन हम उसे पूर्ण आंचलिक उपन्यासकार के रूप में स्वीकार नहीं करते थे, लेकिन उन्होंने अपने साहित्यकारों को इतना

---

1. डॉ. नगीना जैन - आंचलिकता और हिन्दी उपन्यास - पृ. सं :4

प्रभावित किया कि उनकी आंचलिकता के वंशधर 'ताराशंकर', 'विभूतिभूषण', 'मनिकबंधोपाद्याय', 'सतीनाथ भादुड़ी' आदि हुए। इन उपन्यासकारों ने आंचलिकता की नई और सबल धारा प्रवाहित की ।

उड़िया भाषा के लब्ध प्रतिष्ठित लेखक 'गोपीनाथ महती' की अमरकृति 'अमृत संतान' को विशेव के सभी उपन्यासों के बीच प्रथम श्रेणी में रखे जाने की योग्यता है । "आंचलिक उपन्यास की परिभाषा के अनुसार इस उपन्यास में सारा आंचल ही पात्र बनगया है । भारतीय कथा साहित्य में आंचलिकता के ख्याल से इस उपन्यास को आदर्श माना जा सकता है।"[1] भारतीय जन जीवन का सच्चा चित्रण करने के लिए उसे निश्चित रूप से सभ्यता से दूर अनदेखे अंचलों और अल्पज्ञान वाली जातियों के बीच पहूँचना होगा । परिणाम स्वरूप युग-युग से उपेक्षित, शेषित और जर्जरित जन जीवन को उसकी भौगोलिक संस्कृति के साथ जानने का सश्कत प्रयत्न हिन्दी उपन्यास में भी हुआ ।

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात जब देश की एकाग्रता भंग हुई और देशोद्धार की अपेक्षा अत्मोद्धार की रौ चली, राष्ट्र की एकता को फोड़कर विविध प्रदेशों, जातियों, वर्गों, धर्मों और संस्कृतियों की अनेकता प्रखर वेग से प्रस्फुटित हुई । तब हर किसी का ध्यान अपने प्रदेश, जातिवर्ग, धर्म, संस्कृति के संरक्षण और विकास की ओर गया और इस दिशा में सचेष्ट प्रयत्न आरम्भ

---

1. आजकल - मार्च - 1981 - लेख - हिन्दी में आंचलिक उपन्यास परंपरा और विकास- पृ.सं : 30

हुआ । आंचलिकता के लिए यह स्थिति अत्यन्त अनुकूल थी, और आंचलिक उपन्यास की धारा पूर्ण वेग से बहचली । स्वाधीनता के बाद हिन्दी उपन्यास साहित्य पर विषयगत एवं रचनागत अनेक प्रयोग हुए । वर्ग- संघर्ष, सामाजिक विसंगतियां, ग्रामांचलिक भावना का उदय, जीवन मूल्यों का विनाश तथा कथ्य एवं शिल्प में नूतन प्रयोग का आकर्षण स्वातंत्र्योत्तर उपन्यास जगत की मुख्य उपलब्धि रही । जहाँ तक हमारा संबन्ध आंचलिक उपन्यास विधा से है, यह पूर्णतः स्वातंत्र्योत्तर भारत की अपनी कथा चेतना है । कथाकारों ने अनुभव किया कि दुरस्था, नितांत, उपेक्षित और तिरस्कृत क्षेत्र को कथा का उपजीव्य बनाना चाहिए । इसी चिन्तन चेतना ने आंचलिक उपन्यासों को जन्म दिया । हिन्दी साहित्य पश्चिम उपन्यासों का ऋणी और उनसे प्रभावित ज़रूर है, परन्तु "हिन्दी के आंचलिक उपन्यास पश्चिम के क्षेत्रीय उपन्यास तथा स्थानीय रंगवाले उपन्यास से सर्वथा भिन्न है । तथा उसका उद्‌गम स्रोत पूर्णतः इसी देश की मिट्‌टी से ही संबन्धित है ।"

हिन्दी के प्रथम आंचलिक उपन्यास और उपन्यसकार के संबन्ध में आलोचकों के बीच आज भी वाद विवाद चलता रहता है। लेकिन आंचलिकता का बीजवपन भारतेन्दू युग से देख सकते है । 'जगन्नाथ प्रसांद चतुर्वेदी' द्वारा रचित 'बसंत मालती' (1819) और 'हरिऔध' का 'अधखिलाफल' (1907) में आंचलिकता के कुछ तत्व बीज रूप में विद्यमान हैं ।

---

1. दंगल झालटे - नये उपन्यासों में नये प्रयोग - पृ. सं : 30

हिन्दी साहित्य में अंग्रेज़ी के रोमांटिक आन्दोलन की प्रतिक्रिया ने प्रेमचन्द पूर्व उपन्यास साहित्य को प्रभावित किया । इसलिए उस समय के उपन्यासों में आंचलिकता के लिए स्थान नहीं था । लेकिन इन उपन्यासों के वातावरण तत्व में प्रकृति वर्णन के चित्र मिलते हैं । इस छोटे से बीज से ही अर्द्ध-शति से ही कम समय में परिवेश को महत्व देनेवाले आंचलिक उपन्यासों का सुदृढ़ वट-वृक्ष पल्लिवत-पुष्पित हो गया । प्रेमचन्द पूर्व उपन्यास आंचलिकता के तत्त्वों से रहित है परन्तु उनके वातावरण चित्रण में परवर्ती आंचलिक चित्रण का प्रारंभिक रूप देखा जा सकता है ।

जिस समय हिन्दी उपन्यास का प्रारंभिक काल समाप्त होगया था उसी समय देश के सामाजिक एवं राजनीतिक जीवन में भी नया युग प्रारंभ हो गया। गांधिजी ने जनवादी आन्दोलन शुरू किया । देश के इस काल के साहित्य पर सामान्य रूप से तथा उपन्यास साहित्य पर विशेष रूप से राजनीतिक, सामाजिक, एवं आर्थिक स्थिति का प्रभाव पड़ा । इस स्थिति का परिणाम था यथार्थवादी उपन्यास, स्वच्छन्दतावादी उपन्यास, मनोवैज्ञानिक उपन्यास , ऐतिहासिक उपन्यास । स्वच्छन्दतावादी एवं मनोवैज्ञानिक उपन्यासों को छोड़कर अन्य दोनों प्रकार के उपन्यासों में आंचलिकता के गुणों के लिए पर्याप्त स्थान था । इस युग के सबसे प्रतिभाशाली उपन्यासकार प्रेमचन्द पहले भारतीय उपन्यासकार है जिन्होंने विस्तृत रूप से किसान और मध्यवर्ग के जीवन का बड़ी ईमानदारी से चित्रित किया । "प्रेमचन्दजी की कोई भी कथा आंचलिक नहीं है, क्यों कि कथाओं का निर्वाह आंचलिक परिपाटी पर नहीं होता है । कथा के माद्यम से समस्याएँ उभरती हैं, पात्र उभरते हैं, ग्राम अथवा वहाँ की संस्कृति नहीं।"[1]

---

1. डॉ. आदर्श सक्सेना - हिन्दी के आंचलिक उपन्यास और उनकी शिल्प विधि - पृ. सं : 82

"प्रेमचन्द के साहित्य का मूल धर्म लोकोदय था । जिसके विकास की शुरूआत दर्शन के उदारवादी दृष्टिकोण से हुआ, फलस्वरूप प्रेमचन्द अंचल विशेष न होकर लोकमात्र के हो गए "[1] यह तो सत्य है कि प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों में उत्तर प्रदेश के ग्राम्य जीवन, विशेषतः कृषक जीवन के असंख्य सजीव और प्रभावोत्पादक चित्र प्रस्तुत किए हैं, पर उनके उपन्यासों को आंचलिक नहीं माना जा सकता, क्यों कि एक तो ये उपन्यास समूचे उत्तर प्रदेश के ग्राम्य जीवन को लेते है, किसी विशेष गांव या अंचल को नहीं । ग्राम जीवन को संपूर्ण विविधता में संगोपांग प्रस्तुत करना, उनका लक्ष्य नहीं था। उनका उद्देश्य था अज्ञानता, आर्थिक विपन्नता, धर्मभीरुता आदि के कारण ग्राम्य जनता का जो निरन्तर शोषण हो रहा है उसके विरुद्ध ज़ोर की आवाज़ उठाकर जनमत तैयार करना। इसप्रकार "ग्राम्य जीवन का चित्रण प्रेमचन्द के उपन्यास क साधन रहा है, साध्य नहीं । तभी तो वे ग्रामय जीवन के उसी रूप को चित्रित करते हैं जो उनके उद्देश्य की पूर्ति में साधक हो।"[2] कथानक पर ही प्रेमचन्द का ध्यान केन्द्रित रहता है न कि अंचल विशेष पर । आंचलिक उपन्यासों में अंचल अपनी संपूर्ण विविधता और समग्रता के साथ नायक होता है। अंचल का समग्र जीवनं ही नायक होता है ।

प्रेमचन्द के युग के उपन्यासों पर विचार करे तो स्पष्ट हो जाता है कि सम्मिलित कुटुम्ब की विषमताएँ, नारी समस्याएँ, धर्म एवं जतिगत भेदभाव,

---

1. आजकल - मार्च - 1981- लेख - हिन्दी में आंचलिक उपन्यास परंपरा और विकास- पृ. सं : 30
2. डॉ. रणवीर रांग्रे - समकालीन हिन्दी उपन्यास की भूमिका - पृ.सं : 74

अन्धविश्वास, किसान-मज़दूर की शोचनीय दशा आदि प्रतिपाद्य विषय बने हैं। प्रेमचन्द युग में ही उपेक्षित पात्रों को महत्व देने लगा और यह चरण आंचलिक पात्रों के विकास की दिशा में पहला था । ग्राम्य जीवन को कथा का आधार बनाने के कारण अंचल का चित्रण भी स्वाभाविक हो गया, और धीरे धीरे आंचलिक शैली का विकास हो गया। प्रेमचन्द युग के ऐतिहासिक एवं सामाजिक उपन्यासों ने भविष्य के आंचलिक उपन्यासों के लिए सुदृढ़ आधारभूमि निर्मित कर दी।

सामाजिक यथार्थ, मनोवैज्ञानिक यथार्थ, ऐतिहसिक यथार्थ के नीचे आंचलिक यथार्थ दब सा गया । इसप्रकार प्रेमचन्दोत्तर काल के लेखक अपनी सीमित मान्यतओं एवं कुंठाओं से ऊपर न उठ सके । इस व्यक्तिवाद के विरोध में एक ऐसी चेतना लहर उठी जो जीवन की स्वाभाविक दुर्बलता एवं सबलता के साथ देश के नवोन्मेष के स्वागतार्थ उत्सुक थी । नवीनता के इस आग्रह ने ही लेखकों का ध्यान नागरिक जीवन से हटाकर दूरवर्ती विलक्षण समाज की ओर आकर्षित किया । इन्हीं उपन्यासों ने आगे चलकर आंचलिक उपन्यासों की संज्ञा ग्रहण की।

श्री महेन्द्र चतुर्वेदी आंचलिक उपन्यासों को प्रमुख रूप से स्वातंत्र्योत्तर युग की सृष्टि मानते है "यों तो हिन्दी उपन्यास में आंचलिकता का पुट पहले भी रहा है, उसके कुछ तत्व बीजरूप में विद्यमान रहे हैं, किन्तु उसका पूर्ण विकास हिन्दी उपन्यास की अभिनव सिद्धि ही है ।"[1] इसी की पुष्टि डॉ.

---

1. श्री .महेन्द्र चतुर्वेदी - हिन्दी उपन्यास एक सर्वेक्षण - पृ. सं : 188

कान्तिवर्मा ने भी की है - "कहने के तो आंचलिकता का हल्का-हल्का पुट पूर्व युग के उपन्यासों में भी मिल जाता है, लेकिन उसका सशक्त एवं पूर्ण विकसित रूप स्वातंत्र्य युग के उपन्यासों में ही हुआ।"[1] प्रेमचन्दोत्तर युग में उपन्यास के क्षेत्र में नवीन प्रयोग प्रयोगवादी उपन्यास के रूप में आये और इन प्रयोगों में नवीनतम प्रयोग आंचलिक उपन्यासों का है। "आंचलिक उपन्यासों का विकास अचानक नहीं हो गया, अचानक तो नामकरण हुआ । हिन्दी में आंचलिकता का विकास जादूई ढ़ंग से न होकर वर्षों की साधना द्वारा हुआ है ।"[2]

राष्ट्रीयता के जिस तीक्षण स्वार्थ से आंचलिकता का जन्म होता है उसका आभास शिवपूजन सहाय की 'देहाती दुनिया', निराला की 'चतुरी चमार', बेनीपुरी की 'माटी की मूरतें' आदि पुस्तकों से मिल जाते हैं । किन्तु इन लोगों के साथ राष्ट्रीयता के उदार दृष्टिकोण का आदर्श हमेशा चिपका रहा और आंचलिकता का पुट ही हम इसमें देख सकते हैं, पूर्ण रूप नहीं । उत्तरार्ध 20वीं सदी के प्रवेश के साथ आंचलिक उपन्यास का अभ्युदय हुआ । प्रकाशन काल के आनुसार कुछ आलोचक नागार्जुन का' बलचनमा' (1952) प्रथम आंचलिक उपन्यास के रूप में मानते है । लेकिन एक महत्वपूर्ण बात यह है कि हिन्दी में आंचलिकता की चर्चा स्व. फणीश्वरनाथ रेणु के उपन्यास 'मैलाआंचल' (1954) से प्रारंभ हुई । हिन्दी में अपने उपन्यास को आंचलिक

---

1. डॉ . कान्ति वर्मा - स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास - प्राक्कथन् से - पृ सं : 8
2. डॉ. आदर्श सक्सेना - हिन्दी के आंचलिक उपन्यास और उनकी शिल्प विधि -पृ सं:85

उपन्यास की संज्ञा प्रदान कर प्रस्तुत करने का श्रेय रेणु को प्रदान किया जाता है । इसके बाद अनेक आंचलिक उपन्यासकारों ने इस धारा को और भी विकसित किया । इसप्रकार आंचलिक उपन्यास की यात्रा वर्तमानकाल तक आकर अपने नये रूप में याने आज के रूप में आ गया । आज आंचलिक उपन्यासों की कोई कमी नहीं है ।

प्रमुख आंचलिक उपन्यासकार और उपन्यास :

शिवपूजन सहाय :

शिवपूजन सहाय की 'देहाती दुनिया' का महत्व इसलिए है कि वह आंचलिक उपन्यासों कि परंपरा में प्रथम कृति है । इसका प्रकाशन सन् 1925 में हुआ था । यद्यपि यह कृति आंचलिकता की कसौटी पर खरी नहीं उतरती, तथापि उसमें वे लक्षण दिखाई देते हैं जो आंचलिक उपन्यास का कलेवर तैयार करते है । इसमें भोजपुरी जनपद के एक अंचल का चित्रण है । लेखक स्वयं इस उपन्यास में चित्रित देहात का रहनेवाला है । जहाँ इस युग की बड़ी सभ्यता का बहुत धुँधला प्रकाश पहूँचा है । वहाँ केवल दो ही चीज़ें प्रत्यक्ष देखने में आती हैं, अज्ञानता का घोर अंधकार और दरिद्रता का ताण्डव नृत्य। लेखक ने जो कुछ देखा सुना है उसे यथा शक्ति ज्यों का त्यों इस उपन्यास में अंकित कर दिया है । 'देहाती दुनिया' में शुद्ध आंचलिकता नहीं लेकिन बाद के उपन्यासों की भूमिका हमें मिलती हैं । इसमें दिये गये तद्देशीय सौरभ परवर्ती आंचलिक उपन्यासों की परंपरा बनाती है ।

नागार्जुन :

नागार्जुन हिन्दी के ख्याति-प्राप्त प्रगतिशील आंचलिक उपन्यासकार हैं। आंचलिकता और प्रगतिशीलता को साथ-साथ ग्रहण करने के कारण उनकी इस नाम से पहचान होती है । "नागार्जुन के उपन्यासों में पहली बार उस विधा का दर्शन होता है, जिसे आंचलिकता कहते है । इस दृष्टि से उन्हें हिन्दी में आंचलिक उपन्यास का आदि उन्नायक कहा जाता है ।"[1] आंचलिक उपन्यासों की यह विशेषता है कि कहीं व्यंग्य की छटा है तो कहीं मनमोहक ग्राम्य गीत संगीत व ध्वनियों का संप्रेषण, कहीं लोकगीत हैं तो कहीं मुहावरों का सिल सिला। तभी तो डॉ. आदर्श सक्सेना ने ठीक ही कहा हैं कि "आंचलिकता की प्रवृत्ति भावना की भूमि पर प्रतिष्टित होती है । क्यों कि आंचलिक कथाकार अंचल की गहन जानकारी से प्रेरित होकर उसे गहराई से उद्‌घाटित करने की कामना से रचना करता है "[2] इस दृष्टि से देखे तो नागार्जुन को आंचलिक उपन्यासकार मानने में कोई दोष नहीं है ।

आंचलिक उपन्यास की दृष्टि से नागार्जुन के काल को 1957 तक सीमित रखा है। प्रेमचन्द ने 'गोदान' में जो परंपरा स्थापित की थी उसे नागार्जुन ने अपने आंचलिक उपन्यासों द्‌वारा आगे बढ़ाया । कुछ आलोचकों का मत है कि 1948 से आंचलिक उपन्यास का श्रीगणेश हुआ । क्यों कि

---

1. श्री.महेन्द्रचतुर्वेदी - हिन्दी उपन्यास : एक सर्वेक्षण - पृ. सं : 208
2. डॉ. आदर्श सक्सेना - हिन्दी के आंचलिक उपन्यास और उनकी शिलप विधि - पृ. सं: 300

नागार्जुन ने 'रतिनाथ की चाची' की रचना उसी साल की । इसलिए वे आलोचक हिन्दी आंचलिक उपन्यास का आरंभ उसी साल से मानते हैं । नागार्जुन ने अपने सभी उपन्यासों में मिथिला के गरीब किसानों और खेतिहर मज़दूरों का चित्रण किया है । डॉ. रामदरश मिश्र नागार्जुन को आंचलिक उपन्यासकार के रूप में स्वीकारने के लिए हिचकते हैं, क्यों कि उनके अनुसार नगार्जुन के उपन्यासों की कथा आंचल की नहीं बल्कि अंचल से ली गई होती है। वे अंचल के संश्लिष्ट जीवन की कथा कहने के स्थान पर अंचल से लिए गए किसी पात्र की कहानी कहते हैं । अंचल केवल परिवेश क रूप में होता है । परिवेश की आंचलिकता के कारण ही उन्हें आंचलिक उपन्यासों की कोटि में रखा गया है । जो भी हो नागार्जुन ने समष्टि सत्य के धरातल पर इस प्रगितशील चिन्तन को खोजने का प्रयास किया । 'बलचनमा' नागार्जुन की दूसरी उपन्यास कृति है । किन्तु आंचलिक तत्वों का औपन्यासिक विधा के रूप में विकास इसी कृति में दिखाई देता है । इस उपन्यास की आधार भूमि मिथिला की विराट सांस्कृतिक भूमि है । एक नौजवान के करुण जीवन वृत्त के द्वारा उस अंचल के संपूर्ण सामाजिक, ऐतिहासिक, आर्थिक एवं अन्य जीवन स्तरों को अभिव्यक्ति दी गयी है । पूरे उपन्यास में किसान का दुःख-दर्द और संघर्ष व्याप्त है, तथा मानवीय अधिकारों को जकड़ने वाली शोषक-जर्जर मान्यताओं, वर्ग व्यवस्थाओं और परंपराओं पर कलात्मक प्रहार किया है । उनके अन्य प्रसिद्ध उपन्यास 'नई पौध', 'बाबा बटेसरनाथ', 'वरुण के बेटे', 'दुखमोचन' आदि को आंचलिक उपन्यास का दर्ज दिया गया हैं ।

फणीश्वरनाथ रेणु :

आंचलिक उपन्यास के क्षेत्र में रेणु का सर्वोपरी विशिष्ट स्थान है । भारतीय जन- जीवन का यथार्थ चित्र उभारने में रेणु सफल रहे । रेणु के दृष्टि-केन्द्र में बिहार के पूर्णिया जिले और परानपुर के उपेक्षित भूभाग रहे हैं । मिथिला के इन ग्राम्य क्षेत्रों को उनकी समग्रता में उजागर करने के लिए रेणु ने वहां के राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक और भौगोलिक परिवेश को अपने औपन्यासिक चित्र पर व्यापक रूप से उभारा है । रेणु की दृष्टि मूलतः मानवतावादी है । उन्होंने गांव और देहाती जीवन को उसकी समग्रता में यथार्थवादी दृष्टि से देखा परखा है । उन्होंने आंचलिक परिवेश, आंचलिक जीवन की दैनिक घटनाओं, लोकगीतों, बोली- बानी, रीति-रिवाज़ों, उत्सवों, प्रथाओं आदि के व्यापक अंकन के साथ बिहार के देहाती जीवन की समस्त कटुताओं, विडंबनाओं, अंधविश्वासों, विकृतियों, मान्यताओं आदि को अपनी रचनाओं में मुखरित किया है ।

रेणु के उपन्यासों की शुरूआत वहां से होती है जहाँ से प्रेमचन्द के उपन्यासों का अन्त होता है । अर्थात जब टूटती सामन्ती व्यवस्था का स्थान नया पूँजीवाद लेने लगता है । इसकी कहानी व्यक्ति की नहीं पूरे गांव की कहानी है । रेणु ने हिन्दी जगत को 'मैला आँचल', 'परति परिकथा', 'दीर्घतपा', 'जुलूस', 'कितने चौराहे' नामक आंचलिक उपन्यास भेंट किये हैं ।

इनमें उन्होंने ग्राम जीवन के विविध संघर्षों का निरूपण किया हैं । वे अंचल विशेष के जीवन के राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक

संघर्षों को पूरी ईमान्दारी के साथ अंकित करते हैं। इस दृष्टि से उनके 'मैला आँचल', 'परती परिकथा' एवं 'जुलूस' का विशेष महत्व है ।

'मैला आँचल' में पूर्णिया जिले के मेरीगंज गांव के जीवन को चित्रित किया गया है किन्तु वह मेरीगंज सिर्फ पूर्णिया का ही प्रतीक नहीं बल्कि पूरे भारत के गांवों का प्रतीक बन जाता है । यह उपन्यास ज़मीन्दारी उन्मूलन के बाद ग्रामीण जीवन की स्थिति का प्रामाणिक दस्तावेज़ है। "मैला आँचल की ठेठ देशीयता (आंचलिकता) विश्वनागरिकतावादी विचारधारा के सामने चुनौती की तरह खड़ी है, वह चाहे जितनी पिछड़ी हुई हो उसकी जड़ें हैं, परंपरा है, सांस्कृतिक समृद्धि है और इन्हीं कारणों से वह सजीव तथा भिन्न है, यह भिन्नता ठोस मानवीय वास्तविकता है। 'मैला आँचल' की आंचलिकता स्वाधीनता आंदोलन की संतान है ।"[1]

आंचलिक उपन्यास के लिए यह आवश्यक माना गया है कि इसमें अंचल विशेष की स्थिति नायक की सी होती है । उस क्षेत्र का एक संपूर्ण चित्र उकेरने का प्रयास इसतरह के उपन्यासों में है । इस दृष्टि से देखे तो 'मैला आँचल' में प्रशान्त, कालीचरन और बावनदास आकर्षक चरित्र होते हुए भी नायक मेरीगंज नाम का पिछड़ा हुआ गांव है । रेणु स्वयं 'मैला आँचल' की भूमिका में कहा है "यह है मैला आँचल एक आंचलिक उपन्यास, कथानक है पूर्णिया। पूर्णिया बिहार राज्य का एक जिला है, इसके एक ओर है नेपाल,

---

1. सं. निर्मलाजैन - हिन्दी उपन्यास 1950 के बाद - पृ. सं : 22

दूसरी ओर है पाकिस्तान और पश्चिम बंग़ाल । विभिन्न सीमा रेखाओं से इसकी बनावट मुकम्मल हो जाती है, जब हम दक्खिन में संथाल परगना और पश्चिम में मिथिला की सीमा रेखाएँ खींच देते हैं । मैं ने इसके एक हिस्से के ही एक ही गांव को पिछड़े गंव का प्रतीक मानकर इस उपन्यास का कथा क्षेत्र बनाया है । इसमें फूल भी है, शूल भी है, धूल भी है, गुलाल भी है, कीचड़ भी है, चन्दन भी है, सुन्दरता भी है कुरूपता भी । मैं किसी से भी दामन बचाकर निकल नहीं पाया ।"[1]

'मैला आँचल' के संदर्भ में डॉ. नगीना जैन कहती है "मैला आँचल में गांव को समग्र और यथार्थ वादी दृष्टि से देखा गया है । उसमें अंचल की विशेष कथा ही नहीं कही गई है बल्कि अपनी सशक्त व्यंग्य शैली से कथा को इसप्रकार नियोजित किया गया है कि समस्त अंचल सजीव होने के साथ जीवन के सौन्दर्य-असौन्दर्य को इस सूक्षमता से संकेतित करता चलता है कि व्यथा अंचल को ऐतिहासिक, धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक परिवेश में तथ्य आयोजन न रहकर जीवन्त मानव संवेदना और चेतना की कहानी बन जाती है"[1]

'परती परिकथा' की कथा परानपुर अंचल की है । यह जन निर्माण के बीच टूटते हुए अंचल के पुनरुद्धार की कहानी है । संपूर्ण भारतीय ग्राम्य जीवन के पुनरुद्धार का परिचायक बन जाता है प्रस्तुत उपन्यास । आंचल के समग्र जीवन को रूपायित करने के लिए ग्रामवासियों के सामूहिक चरित्र को

---

1. फणीश्वरनाथ रेणु - मैलाआँचल की भूमिका से
2. डॉ. नगीना जैन - आंचलिकता और हिन्दी उपन्यास - पृ. सं : 157

महत्ता प्रदान की गई है । इसमें अंचल के सांस्कृतिक पहलुओं को बड़ी आत्मीयता से चित्रित किया गया है । रेणु ने आंचलिकता के जिस रूप को ग्रहण किया है उसमें परिवेश को जानने पहचानने और अपने ढंग से बयान करने की प्रमुखता दी गयी है । "आंचलिकता से आशय अनुभव की सीमा में आनेवाले अंचल विशेष के पात्रों, समस्याओं, संस्कृति, प्रगति आदि को अंकित करने की प्रवृत्ति है । यह प्रवृत्ति रेणु के 'मैला आँचल' और 'परति परिकथा' में है ।"[1] रेणु के 'मैला आँचल' और 'परति परिकथा' आंचलिक उपन्यास के क्षेत्र में मील के पत्थर की तरह है ।

उदयशंकर भट्ट :

उदयशंकर भट्ट बहुमुखी प्रतिभा के साहित्यकार हैं । कवि, नाटककार और उपन्यासकार तीनों ही रूपों में उन्होंने ख्याति अर्जित की है । उनके उपन्यासों का मूल स्वर व्यक्ति की स्वतन्त्रता से संबन्धित है, विशेषकर नारी स्वतन्त्रता से । यथार्थवादी चित्रण उनकी विशेषता है। भट्टजी की गणना आंचलिक उपन्यासकारों में की जाती है । 'सागर लहरें और मनुष्य'

आंचलिक उपन्यास की धारा को समृद्ध करने के सुन्दर प्रयास है । 'लोक परलोक' उनका दूसरा प्रसिद्ध आंचलिक उपन्यास हैं ।

---

1. वेदप्रकाश अमिताभ - हिन्दी उपन्यास की दिशाएँ पृ. सं :70

'सागर लहरें और मनुष्य' में सागर की लहरों के साथ जीनेवाले मनुष्यों की कथा है। भट्टजी ने इस उपन्यास में एक ऐसे सामाजिक अंचल को उभारा है जो आधुनिक सुख- सुविधाओं से परिपूर्ण बंबई नगरी के संपर्क से रहकर भी उसके प्रभाव से अछूता है। भट्टजी के आंचलिक उपन्यास अपने पूर्ववर्ती तथा समवर्ती आलोचकों से काफी कुछ भिन्न हैं । वस्तु और रूप दोनों दृष्टियों से अपने विशिष्ट और प्रतिनिधि उपन्यास 'सागर लहरें और मनुष्य' में इन्होंने नागार्जुन और रेणु की भांति देहाती अंचल को न लेकर बंबई के समुद्र से लगे बसोवा गांव के मछली मारों से सम्बन्ध अंचल को लिया है। सामाजिक व्यवस्था, तीज-त्योहार, वर्णन, आर्थिक विषमता, यौन सम्बन्धी अनियमितता, सुधारवादी आन्दोलन के बढ़ते हुए प्रभाव आदि का सजीव चित्र कोलि जाति को आधार बनाकर इस उपन्यास में उतारा गया है । डॉ. रामदरश मिश्र के अनुसार "यह एक विशिष्ट उपन्यास है । उसमें अनुभव जन्य तीव्रता और संश्लिष्टता भले न हो, सच्चाई का अभाव नहीं । उपन्यास अपनी गठन और दृष्टि संबन्धी कमज़ोरियों के बावजूद हमें पकड़ता है । इसका कारण आंचलिक होना ही है, यानी इस अंचल का सशक्त जीवन ही आकर्षण के मूल में है।" आंचलिकता को अधिक सजीव बनाने के लिए उपन्यासकार ने लोक भाषा का सहारा लिया है । देशकाल के साथ लोक भाषा शैली भी उपन्यास को आंचलिक बनाने में मुख्य कार्य करता है ।

---

1. डॉ. रामदरश मिश्र - हिन्दी उपन्यास एक अन्तर्यात्रा - पृ . सं : 249

डॉ. रांगेय राघव :

रांगेय राघव बहुमुखी प्रतिभा के धनी साहित्यकार हैं । उनका दृष्टिकोण प्रगतिशील है । वे उपन्यास को केवल मनोरंजन के लिए नहीं समझते थे बल्कि उसके द्वारा पाठकों का ध्यान सामाजिक विकृतियों की ओर आकृष्ट कर उन्हें क्रान्ति के लिए तैयार करना चाहते थे । इसलिए उनके उपन्यासों में समाजवादी यथार्थवाद का चित्रण हुआ है । रांगेय राघव ने बहुत से उपन्यास लिखे हैं । उनमें 'कब तक पुकारूँ' और 'काका' आंचलिक उपन्यास समझे जाते हैं । 'कब तक पुकारूँ' की कथा में राजस्थान और व्रज के सीमान्त पर बसे 'बैर' नामक ग्राम में बसने वाले खानाबदोश जरायमपेशा नटों के जीवन का चित्रण किया गया हैं । नटों के जीवन के संश्लिष्ट यथार्थ को उभारने के लिए लेखक ने परिवेश के रूप में या तनावग्रस्थ संघर्ष पैदा करनेवाली प्रतिकथा के रूप में उस भू-भाग की अन्य जातियों के लोगों को भी लिया हैं । आंचलिक पुट की पूर्ण अभिव्यक्ति इस उपन्यास में हुई है । इनके रस्मरिवाज़ों, मान्यताओं, अंधविश्वासों, लोकगीतों तथा इनकी संस्कृति का सूक्ष्म निरीक्षण परिवेश के चित्रण को सजीव बनाता है । शिल्प की दृष्टि से यह उपन्यास एक महत्वपूर्ण कृति है, क्यों कि राघव ने सफलता के साथ ग्रामीण आंचल और चारों ओर फैले हुए प्राकृतिक परिवेश को सजीव बना दिया है । प्रमुख आंचलिक उपन्यासों की श्रेणी में 'काका' उतना महत्वपूर्ण नहीं जितना कब तक पुकारूँ' है ।

राजेन्द्र अवस्थी 'तृषित' :

राजेन्द्र अवस्थी 'तृषित' स्वातंत्र्योत्तर उपन्यासकारों में प्रमुख स्थान रखते हैं । आंचलिक उपन्यासों की परंपरा में उनके उपन्यास 'सूरज किरण की छाँव' और 'जंगल के फूल' महत्वपूर्ण हैं । दोनों की तुलना में 'जंगल के फूल ही' श्रेष्ठ उपन्यास है । इसमें वर्तमान मध्यप्रदेश के बस्ति जिले के ग्राम्य जीवन का चित्रण किया गया है । अवस्थी ने इस अंचल के अनूठे रीति-रिवाज़ों, मान्यताओं, संस्कारों तथा संस्थाओं को एक सुगठित कथा में पिरोकर प्रस्तुत किया है । रेणु आंचलिक मनोवृत्ति तथा आंचलिक जनों की चेतन धारा को प्रस्तुत करना लक्ष्य मानते हैं तो अवस्थी ने अंचल की संस्कृति के चित्रण को अपना लक्ष्य बनाया है, अवस्थी ने जन-जीवन और अछूते भू-भागों का ही समर्थ चित्रण किया है । अंचल उनके निकट भारतीय संस्कृति के प्रतीक है। उपन्यास की प्रमुख समस्या आदिवासी गोंड़ों की प्रकृति के अनुकूल उनके आधिकारों की रक्षा है । गांव के लोगों का रहन-सहन, वेश-भूषा, खान-पान आदि का वर्णन करके इस उपन्यास को आंचलिकता की श्रेणी में रखने का योग्य बनाया है ।

रामदरश मिश्र :

एक उपन्यासकार के रूप में रामदरश मिश्र ने अपनी पहचान 'पानी के प्राचीर' से बनाई थी । आंचलिक उपन्यास लेखन की इनकी अपनी पद्धति है । 'जल टूटता हुआ', 'पानी के प्राचीर' इनके दो आंचलिक उपन्यास हैं ।

उन्होंने गांवों में जीवन यापन किया और भोगे हुए यथार्थ को अपने उपन्यास में व्यक्त किया । 'पानी के प्रचीर' में गोरखपुर जिले की दो नदीयों से घिरे हुए एक पिछड़े हुए भू-भाग की कहानी कही गयी है । ग्राम की कथा ही इसका मुख्य आधार है । स्थानीय जीवन के समस्त सत्यों और पक्षों को चित्रित कर इस भू-भाग के संशिल्ष्ट व्यक्तित्व को उभारना ही इसका लक्ष्य है । स्वतंत्रता पूर्व के गांव की आर्थिक व्यथा, अशिक्षा, अंधविश्वास, अनैतिकता, राजनीतिक भ्रष्टाचार एवं शेषण भरी ज़िन्दगी को कथासूत्र में बाँधने का प्रयत्न किया है । उपन्यास की मुख्य कथा सत्-असत के संघर्ष की कथा है । इस संघर्ष से जुड़े आर्थिक एवं सामाजिक संघर्ष भी चल रहे हैं । पाण्डेपुरवा ग्राम के जन-जीवन एवं समस्याओं का अत्यन्त स्वाभाविक चित्रण उपन्यास की विशेषता है । इस उपन्यास के अलावा 'जल टूटता हुआ' में भी उपन्यासकार कछार अंचल के तिवारपुर गांव की बखूबी चित्रण किया है । वे अब भी आंचलिक उपन्यास लिखते आ रहे हैं ।

गुलशेर खाँ शानी :

प्रख्यात कथाकार शानी का बहुचर्चित और महत्वपूर्ण उपन्यास है 'कालाजल' । एक परिवार, एक गांव या पूरे देश की अंतहीन सज़ा काटने की कहानी 'कालाजल' तीन पीढ़ियों के निरन्तर टूटते और ढहते जाने की त्रासदी की कथा है । अद्भुत और बारीक निगाह है शानी के पास । बस्तर की प्राकृतिक खूबसूरती और प्रकृति के बदलते हुए भावों को पकड़ने की क्षमता है । शानी पाठक को एक से एक जीवंत चरित्रों को संपर्क में लाते हैं।

अपनी भाषा, विवरणों और वर्णनों की बारिक़ियों और सब मिलकर 'कालाजल' हिन्दी के कुछ सर्वश्रेष्ठ उपन्यास में से एक है । शानी ने बस्तर के आदिवासी क्षेत्र को ही अपने उपन्यासों की पृष्ठ भूमि बनाया है। उनके 'कस्तूरी' औरअन्य कृतियों में भी जनजातियों की पीड़ा आंचलिक रंगों में बहुत कचोट के साथ उभरी हैं ।

शिवप्रसाद सिंह :

शिवप्रसाद सिंह का प्रसिद्ध एवं समर्थ उपन्यास है 'अलग अलग वैतरणी' । जिसमें उन्होंने उत्तरप्रदेश के एक गांव करैता के जीवन संघर्ष को बड़ी सफलता के साथ प्रस्तुत किया है। यह उपन्यास स्वाधीनता प्राप्ति के बाद के टूटते हुए गांव की कहानी है । लेखक ने इस गांव को भारत के संपूर्ण रूप का एक संस्करण माना है । गांव के बदले हुए स्वरूप का चित्र हमें इस उपन्यास से मिलता है । ग्रामीण जीवन की समस्याओं, बिखराव, स्वार्थ-लिप्सा, सामूहिक जीवन का ह्रास आदि परिवर्तनों का यह उपन्यास एक कलात्मक दस्तावेज़ है । अंचल विशेष का समग्र तथा व्यापक रूप से चित्रण करने के कारण लेखक को यह भय भी है कि उसके उपन्यास को आंचलिक उपन्यास की श्रेणी में न डाल दिया जाए। उसका उद्देस्य करैता के माध्यम से स्वातंत्र्योत्तर भारतीय जीवन तथा परिवेश को व्यक्त करना है, और अधुनिक गांव को अन्दर और बाहर से आंकने का विशद प्रयास है । जिसमें लेखक को आपूर्व सफलता मिली । गांव की सारी कुरूपता को आदि से अन्त तक झेलने की साहसिकता लेखक में है ।

शैलेश मटियानी :

बटरोही शैलेश मटियानी को रेणु से कम नहीं मानते थे, उनके अनुसार "हिन्दी में आंचलिकता का आगमन तो सन् 54 - 55 में रेणु के 'मैला आँचल' के साथ हुआ, मगर मटियानी सन् 51-52 से ही अपने पहाड़ी अंचल, वहाँ की बोली-बानी, चरित्र और कथानकों को वैसे ही रूप रंग-गंध स्वरों के साथ पकड़ रहे थे । खौलते अनुभवों के साथ उनके पास कहानी कहने की कला, लोककथाओं को गूँथने का मुहावरा कहीं भी रेणु से कम नहीं है।"[1] मटियानी वास्तव में हाल ही में उभरी हुई नयीपीढ़ी के उपन्यासकार हैं । उनकी कृतियाँ आंचलिकता को लेकर अपनी औपन्यासिकता को चरितार्थ करती है। यदि रेणु पूर्णिया के और नागार्जुन दरभंग के आंचलिक चितेरे हैं तो मटियानी कूमायूँ के । इसप्रकार उनके 'हौलहार', 'चिट्ठीरसैन', 'चौथीमुट्ठी' आदि में कूमायूँ की आंचलिक जीवन गाथा का वर्णन है ।

'हौलदार' में महत्वाकांक्षी युवक डूँगरसिंह के सेना प्रशिक्षण से असफल लौट आने के बाद की कथा है । उपन्यास की आंचलिक पृष्ठभूमि में डूँगर के पीड़ित मन की प्रतिक्रियाओं को विस्तार से व्यक्त किया है। 'हौलदार' में कूमायूँ की आंचलिक सांस्कृतिक संश्लिष्टता को व्यक्त करने में लेखक को उतनी सफलता नहीं मिली जितनी डूगर सिंह के चरित्र को उभारने

---

1. कथादेश- जून 2005 संस्मरण लेख - पहाड़ी शिखर पर ज़िन्दा खड़ा है शैलेश मटियानी पृ. सं : 9

में । उनका लक्ष्य आंचलिक शब्दों की अपेक्षा आंचलिक शिल्प के प्रस्तुतीकरण के प्रति रहा । कूँमायूँ अंचल के जन जीवन का यथार्थ चित्रण आंचलिक दृष्टि से करने में वे सफल हुए ।

'चिट्ठीरसैन' में उन्होंने ऊड़लगों गांव का जीवन दिखाया है । शैलेश मटियानी का दृष्टिकोण मानवतावादी है, और वे शोषित, कुंठित एवं पीड़ित नर-नारियों के प्रति सहानुभूति रखते हैं। 'चौथी मुट्ठी' और 'हौलदार' में अलमोड़ा की आंचलिक पृष्ठभूमि हैं । इनमें वहाँ का हीन किन्तु रागबद्ध सामाजिक जीवन, आर्थिक पहलुओं के गहन स्पर्श से रहित आंचलिक शिल्प में साग्रह प्रस्तुत किया गया है । इसप्रकार शैलेश मटियानी आधुनिकता और समसामयिक जीवन संघर्ष की नयी गूँज से रहित सनातन रागबोध में डूबे पर्वतीय ग्रामजीवन की गाथा को प्रस्तुत करते है। उनमें प्रश्न है, समस्यायें है, परन्तु आंचलिक जीवन छवि में छौंक , रामलीला, पर्वत छवि, भूत-प्रेत और विशिष्ट परंपराओं में जीते उपेक्षितों अन्तर रसता कथाकार के आंचलिक उपन्यासों की विशेषताएँ हैं ।

राही मासूम रज़ा :

एक संपूर्ण भौगोलिक ग्राम इकाई को राही मासूम रज़ा ने अपने आंचलिक उपन्यास 'आधागांव' में उठाया है । इसमें कृतिकार ने गाजीपुर जिले के अपने ही गांव गंगौली का जीने का रचनात्मक आलेख प्रस्तुत किया है । आंचलिकता के ज़मीन्दार युग के उल्लसित रोमांस, मजलिस मरसिया,

ताजिया और सोहरा के संदर्भ में उजागर होती है । इसके साथ ही भोजपुरी उर्दु का एक नया प्रयोग भी कथाकार ने किया है । कृति में कुछ आंचलिक गालियों का प्रयोग होने के कारण कुछ समीक्षक इस कृति के प्रमुख ध्यानाकर्षक तत्व के रूप में व्याख्यायित किया है । हिन्दी उपन्यास साहित्य में शायद पहली बार एक धोटे गांव में रहनेवाले शिआ मुसलमानों की सामाजिक और आर्थिक समस्याओं को सामने लाने का प्रयास 'आधागांव' में किया गया है ।

अन्य आंचलिक उपन्यासकार :

अमृतलाल नागर :

अमृतलाल नागर सामाजिक चेतना के सहिष्णु व्याख्याता एवं अनुभवी साहित्यकार है । 'बूँद और समुद्र' इनका विशालकाय उपन्यास है । भारत के मध्यवर्गीय जीवन की समस्याओं, जटिलताओं और रहन-सहन का सूक्ष्म निरीक्षण तथा उसका यथार्थ चित्रण लखनऊ शहर की गलियों और वहाँ की बोली का सपाट वर्णन लेखक के सामाजिकता को बोध कराता है। उनकी संस्कृति नगर सभ्यता से प्रभावित होकर भी आंचलिक संस्कृति है । आंचलिकता के निहित लक्षण सब इस उपन्यास में है । डॉ. रामविलास शर्मा ने उसे एक मुहल्ले का 'लिंग्विस्टिक सर्वे' कहकर प्रशंसा की है । इसमें नगरीय अंचल का चित्रण है ।

भैरवप्रसाद गुप्त :

भैरवप्रसाद गुप्त पक्का मार्कसवादी हैं । इसलिए उनके उपन्यासों में वर्ग संघर्ष तथा राजनीतिक आर्थिक कारणों को मानवीय विडंबनाओं का कारण माना गया है । 'गंगा मैया' उपन्यास में बलिया जिले के एक गांव की पृष्ठभूमि में ग्रामीण जीवन का प्रगतिशील दृष्टिकोण अंकित किया गया है । आंचलिकता की दृष्टि से इस उपन्यास में प्रकृति वर्णन तथा जनपद विशेष का ग्रामीण चित्रण विशेष उल्लेखनीय है । 'गंगा मैया' किसानों के नवीन उद्‌बोधन की प्रतीक है । जिसके आधार पर समाजवादी चेतना और उसके माध्यम से बदलने वाली सामन्ती प्रथा की झाँकी प्रस्तुत करना ही उपन्यास का मूल उद्देश्य है।

देवेन्द्र सत्यार्थी :

देवेन्द्र सत्यार्थी कृत 'ब्रह्मपुत्र' में ब्रह्मपुत्र नदी के किनारे बसनेवाले असम के लोगों का वैशिष्टपूर्ण चित्रण करने का प्रयत्न किया गया है । सामान्यतः ब्रह्मपुत्र को आंचलिक उपन्यास माना गया है । उपन्यास का प्रमुख काल खण्ड स्वतन्त्रता पूर्व काल का है । इसलिए देश की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक आदि समस्याओं का प्रतिनिधि चित्रण भी मिलता है । सत्यार्थी अपने आंचलिक उपन्यासों में प्रदेश विशेष के जीवन संघर्षों को उभारते हैं।

शिवप्रसाद मिश्र रुद्र :

रुद्रजी का प्रसिद्ध उपन्यास 'बहती गंगा' है । यह उपन्यास इतिहास की पृष्ठभूमि में लिखे होते हुए भी आंचलिकता के गुणों से विभूषित हैं ।

इसकी आंचलिकता इस बात के लिए स्वीकार की जा सकती है कि रचना के समस्त पात्रों के पृथक पृथक स्वरों की अनुगूँज है । उपन्यास में आंचलिकता की संवेदना पात्रों की भाषा में भी झलकती है । कथा का कोई नायक नहीं, काशी ही नायक है । कथानक, चरित्र चित्रण, वातावरण, भाषा-शैली सभी पर गहरा आंचलिक रंग चढ़ा हुआ है ।

हिमांशु श्रीवास्तव :

हिमांशु श्रीवास्तव के उपन्यास 'लोहे के पंख' और 'नदी फिर बहचली' उपन्यासों में जो कथाएँ हैं, वे उनकी आंचलिकता को प्रकट करते हैं। 'लोहे के पंख' में चमार वर्ग के जीवन संघर्ष को अंकित किया है । 'नदी फिर बहचली' में चुरामनपुर गांव के जीवन के विविध संघर्ष को रूपायित किया गया। इसमें एक ओर शोषित वर्ग को अपने अधिकारों के लिए संघर्षरत दिखाया गया है और दूसरी ओर शेषक वर्ग, विशेषतः सामंतवाद की टूटन को ध्वनित किया गया है । इस उपन्यास में आंचलिकता कथावस्तु या चरित्र चित्रण में न होकर बाहरी विवरण में है । इसकी भाषा शैली आंचलिक उपन्यास के अनुकूल ही है ।

बलभद्र ठाकूर :

बलभद्र ठाकूर के उपन्यासों में आंचलिकता प्रमुख रूप से भाषा शैली तत्वों में ही निहित हैं । 'मुक्तावती' में प्रमुख रूप से मणिपुर के सामन्ती जीवन की कथा कहता है ।

उपन्यास की आंचलिकता प्रमुख रूप से मणिपुरी लोकजीवन, मान्यताओं, विश्वासों, उत्सवों एवं वहाँ के खान-पान, वस्त्रा-भूषण आदि विवरणों में हैं । दूसरा उपन्यास 'आदित्यनाथ' कुल्लू प्रदेश पर लिखा गया उपन्यास है । इसमें आंचलिक रंग कुछ अधिक गहरा है । तीसरा उपन्यास 'नेपाल की वो बेटी' में सीमित परिसर में चित्रित की गयी है । कथा का आग्रह प्रमुख रूप से सामाजिक होते हुए भी वेश-भूषा, रहन-सहन, खान-पान आदि के विवरण तथा भाव की दृष्टि से भी आंचलिकता का दर्शन मिलता है ।

इन उपन्यासकारों के अलावा आनन्द प्रकाश जैन कृत 'आठवीं भांवर', मनहर चौहान कृत 'हिरना सांवरी', सुरेन्द्र पाल कृत 'लोक लाज खोई' आदि उपन्यासों को भी आंचलिक उपन्यासों की श्रेणी में रखा जाता है ।

समकालीनता :

समकालीन शब्द 'सम' उपसर्ग तथा 'कालीन' विशेषण के योग से बना है । 'सम' उपसर्ग का प्रयोग 'एक ही' अथवा 'एक साथ' के अर्थ में होता है । समकालीन का सामान्य या शाब्दिक अर्थ है 'एक ही समय में होने या रहने वाले' । 'समकालीनता' के प्रत्यय से यह अर्थ ध्वनित होता है कि 'जो इस काल में है' । समकालीनता के दायरे में क्या क्या आते हैं ? क्या हम जड़ या अचेतन व्यक्ति को समकालीन की संज्ञा दे सकते हैं ? यह प्रश्न हमारे मन में इसलिए आते हैं कि समकालीनता तो अपने समय की महत्वपूर्ण समस्याओं के साथ उलझी हुई है । प्रत्येक कालावधि की समस्याएँ अलग

अलग होती हैं या बदलती रहती हैं । वस्तुतः विश्वंभरनाथ उपाध्याय के अनुसार "समकालीनता एक काल में साथ साथ जीना नहीं है । समकालीनता अपने काल की समस्याओं और चुनौतियों का मुकाबला करना है । समस्याओं और चुनौतियों में भी केन्द्रीय महत्व रखने वाली समस्याओं की समझ से समकालीनता उत्पन्न होती है "[1] समकालीनता लोकमंगल की भावनाओं को साकार करनेवाले प्रयत्नों में निहित होती है ।

समय समय की परख रखनेवाला व्यक्ति ही समकालीन हो सकता है। समय सत्य के दबाओं और उसके निरन्तर प्रवाहों और परिणामों से बेखबर रहकर मनुष्य जीवन यापन तो कर सकता है लेकिन उसकी ज़िन्दगी और पाश्विकता में बौद्धिक दृष्टि से कोई फर्क नही रह जाता । उसकी ज़िन्दगी जड़ बन जाती है । जड़ व्यक्ति तो अपने काल, अपने समय की व्यक्ति और प्रवृत्तियों की परवाह नहीं करता, वह एक गतिहीन मूर्च्छा में जीता रहता है । जड़ता को हम वर्तमानकाल में रहकर भूतकाल में जीनेवाले लोगों में भी देख सकते हैं । समय के निरन्तर प्रवाह और परिणामों के संभावनाओं के ज्ञान को ही समकालीनता का ज्ञान कहा जा सकता हैं। "समकालीनता केवल परिदृश्य कथन नहीं है । समंकालीन जीवन में घटित होनेवाले परिवर्तनों का सघन और संशिल्ष्ट रूप में रचनात्मक प्रमाण दिए बिना कोई रचना समकालीन नहीं हो सकती ।"[2] मानवीय मूल्यों की पुनर्स्थापना और दानवता से मुक्ति के

---

1. विश्वंभरनाथ उपाध्याय - समकालीन सिद्धान्त और साहित्य - पृ. सं : 16
2. समकालीन कहानी की पहचान - डॉ. नरेन्द्र मोहन - पृ. सं : 7

लिए संघर्षकामी रचना और रचनाकार अज के युग की प्रबलतम मांग है, और इस मांग को पूरा करने वाला रचनाकार या रचना ही समकालीन है । "समकालीनता का सीधा संबंध समसामयिकता से है । वह रचना समकालीन कही जाएगी जो अपने समय के बोध को व्यक्त करे । परिवर्तन शील सामाजिक यथार्थ को रचनात्मक माध्यम से व्यक्त करनेवाला रचनाकर ही समकालीन कहलाएगा।"[1]

'समकालीनता' और 'तात्कालीकता' में बहुत बड़ा फर्क है । कुछ लोग समकालीनता को तात्कलिकता क पर्याय मान लेते हैं । लेकिन समकालीनता तो मानवीय हित और प्रगतिशील चेतना में समाहित रहती है, तात्कालिकता में ऐसा कुछ नहीं है । किसी भी नयी घटित घटना को तो तात्कालिक कहा जा सकता है । किन्तु वह लेखकीय व्यक्तित्व तथा रचनात्मक प्रक्रिया से जुड़कर जब सामाजिक यथार्थ की निरन्तरता तथा वर्तमान स्थिति के बीच परखी जाती है तब उसका स्वरूप समकालीन बनता है । "समकालीनता राज्य विरोध में हैं क्यों कि राज ही आम आदमी के हितों के विरद्ध खाल उलखास के स्वार्थों की पूर्ति में लगा हुआ है और इस प्रक्रिया का संगठित विरोध होने पर राज्य अपनी 'सांम्राज्यवादी' परंपरा का उत्तराधिकारी होने के नाते, नृशंसा, दमंन और जनोत्पीड़न का मार्ग अपना रहा है।"[2] ऐसे दमन और उत्पीड़न का विरोध समकालीनता करती है । लेकिन तत्कालिकता विरोध भी कर सकती है, चुप्पी

---

1. ामकालीन हिन्दी कहानी का इतिहास - अशोक भाटिया - पृ. सं : 12
2. डॉ. विश्वंभरनाथ उपाध्याय - समकालीन सिद्धान्त और साहित्य - पृ. सं : 161

भी साध सकती है, और समर्थन भी दे सकती है । समकालीनता प्रगतिशील चेतना से संबंध है और तात्कालिकता छद्मीवेशी भी हो सकती है और तात्कालिकता जड़ता को स्वीकार भी सकती है, नहीं भी ।

फिर आ जाता है आधुनिकता, अधुनिकता अपने समय के स्वरूप की पकड़ और पहचान है । आधुनिकता युग बोध है जबकि समकालीनता स्तिथि बोधक है । आधुनिकता में युग-विशेष के ज्ञान निहित रहता है । जबकि समकालीनता को आधुनिकता की एक स्थिति अथवा सोपान कहा जा सकता है । आधुनिकता का लक्ष्य जीवन के प्रति आध्यात्मिक और परंपरावादी दृष्टिकोण का नकार और यथार्थ की गतिशील शक्ति को स्वीकार करने का आग्रह है । इसप्रकार आधुनिकता को ग्रहण कर हम अपने संदर्भ के साथ साथ अपनी गितिविधियों को भी अंकित करते है । यथार्थ की जिस गतिशील शक्ति को स्वीकार करने का आग्रह आधुनिकता में होता है, इस गतिशील शक्ति का स्वरूप का ज्ञान समकालीनता में रहता है ।

समकालीन रचनाकार अपनी रचनाओं के माध्यम से सामन्तवादी पूँजीवादी समाज के इतिहास की खोज करता है और मानव की नियति को बनाने वाले आधारों को ढूँढता है । इसलिए हम कह सकते हैं कि यह मनुष्य की अमानवीकृत और अनुपस्थिति के विरोध से पैदा हुआ यथार्थ है । आठवें दशक के कई रचनाकार और उनके पूर्ववर्ती कुछ रचनाकार इस दिशा में सक्रिय हैं और इस दृष्टि से वे समकालीन रचनाकार की भूमिका में खड़े हैं । उनकी रचनाएँ समकालीनता का व्यावहारिक अर्थध्वनित कर रहा है । समकालीनता

पूरे युग से जुड़ी हुई नहीं बल्कि अपने समय की एक खास पहचान है । यह पूरे युग की नहीं, बल्कि एक खास समय तत्कालीन समस्याओं से साक्षात्कार करती है,यह साक्षात्कार रचनाकार के द्वारा होता है ।

समकालीन आंचलिक उपन्यास :

सत्तर के बाद और अस्सि के आसपास कहानी और कविता के साथ साथ उपन्यास में भी समकालीन शब्द प्रयुक्त होने लगा । युद्ध, आन्दोलन, आपातकाल, संस्कारों का बनना बिगड़ना, सांप्रदायिक दंगे तथा आंतकवादी गतिविधियाँ आदि इसकी पृष्ठभूमि है ।

आज समाज की मूलचिन्ता मनुष्य के अंदर बाहर का संघर्ष और बढ़ती संवेदन हीनता है । आज मनुष्य का विश्वास खो गया है, इसका मुख्य कारण युगीन जीवन की त्रासदियाँ हैं । मनुष्य का जीवन आज बहुत अधिक परिवर्तित हो गया है और इस परिवर्तन का प्रतिफलन हम साहित्य में भी देख सकते हैं । जीवन में पनप चुकी संवेदनशून्यता, दिशा हीनता, व्यावहारिकता , अंध-आधुनिकता आदि को दूर कर समाज को सही राह दिखाने की चुनौती आज साहित्यकार को है । इस दृष्टि से हिन्दी उपन्यास की भूमिका आरंभ से ही महत्वपूर्ण रही है । बीसवीं सदी का अन्तिम दशक तीव्र राजनीतिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक बदलावों के बीच संघर्षरत भारतीय मनुष्य की आहत अदमनीय जिजीविषा का दशक भी रहा है । इसी काल खंड़ में जहाँ स्त्रियां और दलित वर्ग अपने हक की लड़ाई में सामने आये वहीं बाज़ारवाद,

उपभोक्तावाद, भूमंड़लीकरण और उत्तर आधुनिकता की चुनौतियाँ भी सामने आयीं। भविष्य की दिशा हीनता, आतंक, अस्मिता की तलाश आदि इन बदलते संदर्भों को समेटने की पर्याप्त कोशिश हिन्दी उपन्यासों में मिलती है । इन उपन्यासों के संदर्भ में डॉ. गोपालराय का मत हैं कि "इस तथ्य से इनकार नहीं किया जा सकता कि यह दशक हिन्दी उपन्यास के इतिहास में अपना विशिष्ट स्थान रखता है । एक उल्लेखनीय तथ्य यह भी है कि पहली बार हिन्दी आलोचना उपन्यास की ओर इतने ज़ोरदार ढ़ेग से आकृष्ट हुई है "[1] इसके पीछे उपन्यास का रचनात्मक आयाम एवं योगदान महत्वपूर्ण है । उपन्यासों के विकास में ग्रमीण आंचलिक के योगदान को कभी नकारा नहीं जा सकता ।

हिन्दी आंचलिक उपन्यास अपनी अर्धशति यात्रा पूरी कर चुका है । इसे एक संपन्न एवं समृद्ध परंपरा मिल गयी है यह एक उल्लेखनीय तथ्य है कि स्वातंत्र्योत्तर छठे दशक में अवतरित आंचलिकता की प्रवृत्ति बीच में थोड़ा फीकी दिखई पड़ी तो सदी के अंतिम दशक में आकार बहुत सश्कत होकर अंचल के नवीन रूपों को दर्शाने लगी । हिन्दी का आंचलिक उपन्यास निरंतर अछूते संदर्भों को उद्घाटित कर रहा है । इस दशक में भी विवेकीराय, कृष्णासोबती, वीरेन्द्रजैन, मैत्रेयी पुष्पा, राकेशकुमार सिंह, द्रोणवीर कोंहली, रामदरश मिश्र, मिथिलेश्वर, गोविन्द मिश्र, शैलेश मटियानी, जगदम्बा प्रसाद दीक्षित, संजीव, तेजिन्दर, मनमोहन पाठक, शिवप्रसाद सिंह, जगदीश चन्द्र, डॉ. रामन नायर, अब्दुल बिस्मिल्लाह, श्रवणकुमार गोस्वामी आदि ने अछूते

---

1. समीक्षा - जनवरी -मार्च 2001 -पृ. सं : 23

अंचलों, उपेक्षित जनजातियों, जातियों और विशेष धंधे को लेकर जीनेवालों को अपने उपन्यासों में उजागर किया है । गांव, शहर, जाति, जनजाति, विशेष धंधे आदि समकालीन आंचलिक उपन्यास के विविध आयाम हैं । इन उपन्यासों में महज कथ्य ही नहीं बल्कि औपन्यासिक दृष्टि का भी विकास मिलता है । ये उपन्यासकार सब रचनात्मक ज़मीन की तलाश करते हैं ।

इस दशक के आंचलिक उपन्यासों में विवेकी राय के 'सोनामटी' और 'समरशेष है', मैत्रेयी पुष्पा के 'चाक', 'इदन्नमम', 'अल्मा कबूतरी', वीरेन्द्र जैन के 'डूब' और 'पार', राकेशकुमार सिंह का 'जहाँ खिले है रक्त पलाश', द्रोणवीर कोहली का 'तकसीम', मिथिलेश्वर का 'यह अन्त नहीं', कृष्णासोबती का 'ज़िन्दगीनामा', रामदरश मिश्र का 'बीसबरस', गोविन्द मिश्र का 'लाल पीली ज़मीन', जगदम्बाप्रसाद दीक्षित का 'मुर्दाघर', शैलेश मटियानी का 'कोई अजनबी नहीं', तेजिन्दर का 'कालापादरी', मनमोहन पाठक का 'गगन घटा घहरानी', श्रवणकुमार गोस्वामी का 'हस्तक्षेप',संजीव के 'धार' और 'जंगल जहाँ शुरू होता है', अब्दुल बिस्मिल्लाह का 'झीनी झीनी बीनी चदरिया', डॉ. रामन नायर का 'सागर की गलियाँ', जगदीश चन्द्र का 'धरती धन न अपना', शिवप्रसाद सिंह का 'शैलूष' आदि उपन्यास उल्लेखनीय है । इन उपन्यासों में वर्तमान जटिलताओं, समय का संघर्ष, राजनीतिक विडंबना, विकास का खोखलापन, नयी चिंताएँ, मानवीय संवेदना, मूल्यों का विघटन, उपभोक्तावाद, सामाजिक सरोकार, संक्रमण की पीड़ा, टूटन जैसे संदर्भों का गहराई से अन्वेषण मिलता है । ये उपन्यास सब शिल्प की दृष्टि से भी अपनी अलग पहचान रखते हैं ।

इस दशक के आंच्लिक उपन्यासों में कथ्यगत नवीनता और मौलिकता दृष्टिगोचर होती है । इन उपन्यासों में अछूते संदर्भ या उपेक्षितों की व्यथाओं को वाणी दी है । इन उपन्यासों में निहित आंचलिकता के विविध आयामों को विस्तार से अध्ययन करना समकालीन संदर्भ में सबसे बड़ी ज़रूरत है ।

दूसरा अध्याय

गांव केन्द्रित आंचलिक उपन्यास

भूमिका :

भारत गांवों का उत्कृष्टतम देश है । इसकी अधिकांश जनसंख्या गांवों में रहती है। विभाजन पूर्व भारत में लगभग 700,000 गांव थे । विभाजन के बाद यह संख्या कम हो गयी है, विभिन्न अनुमानों के अनुसार भारत की जनसंख्या का 70 प्रतिशत से 80 प्रतिशत गांवों में रहता है । प्राचीन काल से गांव भारतीय समाज व्यवस्था की एक आधारभूत एवं महत्वपूर्ण इकाई है। ग्राम की संज्ञा का अभिप्राय "उन अनेकों परिवारों के समूह से होता था जो एक ही स्थान पर निवास करते थे ।"[1] गांव भारतीय समाज की एक ऐसी इकाई है, जिसमें अन्य व्यवसायों की तुलना में अधिक मेहनत करनेवाले तथा अपना खून पसीना बहाकर देश की आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाले लोग बसते हैं । भारत एक कृषि प्रधान देश हैं । गांव को पहचानना, देश को पहचानने के समान है । संपूर्ण भारतीय जीवन शैली पर ग्रामीण संस्कृति का प्रभाव किसी न क़िसी रूप में परिलक्षित होता है । इसलिए सम्पूर्ण भारत देश की मुख्य समस्याएँ भी गांव से जुड़ी होती हैं क्यों कि भारतीय संस्कृति अभी भी गांवों में ही जीवित है ।

---

1. श्यामचरण दुबे - भारतीय ग्राम - पृ. स : 9

संस्कृति :

'संस्कृति' शब्द का संबन्ध संस्कार से है जिसका अर्थ है संशोधन करना, उत्तम बनाना, परिष्कार करना । जीवन के प्रत्येक क्रम में पीढ़ी-दर-पीढ़ी इसमें व्याप्त पाते हैं । संस्कृति की दिशाएँ और दायरे बहुत फैले हैं । उनमें सब कुछ समा जाता हैं । कला, साहित्य, दर्शन, धर्म, नीति, रीति-रिवाज़, लोक-व्यवहार, संस्कार, ज्ञान, विज्ञान, शिक्षा, पर्यावरण आदि सब कुछ इसमें आ जाते हैं । व्यक्ति का संस्कार संस्कृति की ही उपज है । संस्कृति उसकी धरोहर भी है और आगे की पीढ़ियों की वसीयत भी । विरासत के रूप में वह पूर्ववर्ती पीढ़ी से इसे लेता है और वसीयत के रूप में आनेवाली पीढ़ी को सौंप देता है । संस्कृति का मुख्य उद्देश्य मनुष्य को सुसंस्कृत एवं सभ्य बनाना है। संस्कृति एवं सभ्यता का घनिष्ट संबन्ध है । सभ्यता का संबन्ध मनुष्य के विचारों से है, जब कि संस्कृति का संबन्ध उसके आचारों से है ।

समाज के अस्तित्व के लिए संस्कृति का होना बहुत ज़रूरी है । समाज के सभी पक्षों - राजनीति, धर्म, अर्थ आदि को संस्कृति ही संचालित क़रती है । मनुष्य संस्कृति का निर्माता वाहक, और दास भी है । किसी संस्कृति का प्रचार-प्रसार जिस देश या क्षेत्र में पाया जाता है उसे वहां का सांस्कृतिक क्षेत्र कहा जाता है । संस्कृति का सीधा संबन्ध देश, जाति, या किसी विशिष्ट समाज या जनसमुदाय में प्रचलित धार्मिक आस्थाओं, प्रवृत्तियों, रुचियों, रीति-रिवाज़ एवं रहन-सहन से होता हैं । संस्कृति का एक पहलू लोक-संस्कृति है । भारतीय संस्कृति अपने में एक विशाल सागर है । जिसमें

सैकड़ों लोक संस्कृति रूपी नदियां आकर मिलती हैं । संस्कृति की परिधि में आधुनिक बोध सम्पन्न शिक्षित समाज की संस्कृति भी आती है और क्रमागत मान्यताओं, विश्वासों और मूल्य चेतना से जुड़े हुए अपढ़ या कम पढ़े लिखे देहाती अंचल के लोगों की संस्कृति भी आती है । "लोक से अभिप्राय मनुष्य समाज के उस वर्ग से है जो आभिजात संस्कार, शास्त्रीयता और पांडित्य की चेतना और पांडित्य के अहंकार से शून्य है और जो एक परंपरा के प्रवाह में जीवित है । इसी लोक की संस्कृति का नाम लोक संस्कृति है ।"[2]

अंचल की संस्कृति की अपनी एक विशेषता होती है । प्रत्येक अंचलवासियों को अपने आचार-विचार, रहन-सहन, खानपान, उत्सव-त्योहार आदि होता हैं । इन अंचलों को लेकर लिखे गये आंचलिक उपन्यास साहित्य हमारा सांस्कृतिक उपादान है । दुनिया का हर अंचल अपने आप में पुष्ट है उसकी अपनी विशेषता है, और उसकी अपनी संस्कृति है । ऐसी स्थिति में एक अंचल का प्रभाव दूसरे अंचल पर नहीं हो सकता । इसलिए प्रत्येक आंचलिक कृति मौलिक और अकेली है । हर प्रभाव से अछूती और अपने आप में परिपूर्ण भी ।

समकालीनता के दौर में हम देख सकते हैं कि गांवों के राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, पारिस्थितिक क्षेत्रों में टूटन हो रहा है । शिक्षा का प्रचार प्रसार होने लगा, शहरों में सम्पर्क घना हो गया। इसके फलस्वरूप गांव अति भावात्मक मानसिकता, व्यावसायिकता, उपयोगिता और बौद्धिक चतुराई से

---

1. डॉ. रामदरश मिश्र - समकालीन साहित्य चिंतन -पृ. सं : 38

संपन्न होती गयी । संबन्धों और मूल्यों में बदलाव आया । प्रकृति और पर्वों के प्रति रागात्मक लगाव कम होता गया । राजनीतिक प्रभाव ने एक ओर लोक जीवन को अपने अधिकारों के प्रति सचेत किया तो दूसरी ओर उनमें भयानक टूटन, स्वार्थ, व्यस्तता, असुरक्षा आदि भर दिया । आज गांवों में जो जीवन हम देखते हैं, वह पुरानी परंपराओं, संस्कृतियों से भिन्न अन्य किसी बाहरी शक्तियों से त्रस्त और दूषित गांव है ।

समकालीन आंचलिक उपन्यासकारों ने अपने आंचलिक उपन्यासों में लोक की समग्रता को महत्व दिया है । लोक की समग्रता में ही भारतीयता की पहचान होती है । गांव केन्द्रित आंचलिक उपन्यासों में कथा का नायक कोई पात्र न होकर अंचल ही नायक का कार्य करता है। हर अंचल की अपनी अलग अस्मिता है। बाहरी दृष्टि से मात्र भिन्नता है, आन्तरिक रूप से सारा गांव भारत का ही प्रतिरूप है । स्वातंत्र्योत्तर भारत के गांवों का ढ़ाँचा बहुत तेज़ी से बदला है, बदल रहा है इसी बदलाव को पकड़ने की कोशिश मैत्रेयी पुष्पा, वीरेन्द्र जैन, विवेकीराय, रामदरश मिश्र, कृष्णासोबती, द्रोणवीर कोहली, राकेशकुमार सिंह, मिथिलेश्वर, आदि समकालीन उपन्यासकारों ने अपने आंचलिक उपन्यासों के ज़रिए किए हैं । पूर्वी उत्तरप्रदेश, बिहार, मध्यप्रदेश, पंजाब, विंध्याचल आदि प्रदेशों के विभिन्न अंचल जैसे करइल, जानसिनगंज, अतरपुर, गुजरांवाला, रघुनाथपुर, सेनपुरा, श्यामली, बसावनपुर, थोहा मार्हम खां, खवासड़ीह, पलामू, शिवपुरा, लड़ैई आदि का विस्तार से वर्णन करके वहाँ के धार्मिक जीवन, भौगोलिकता, लोकगीत, लोक कथाएँ, त्योहार, मेला रीति-रिवाज़, खानपान, वेश-भूषा, विवाह,अन्धविश्वास आदि संस्कृति के विभिन्न अंगों का

चित्रण किया हैं । साथ ही साथ गांव में होने वाले शोषण के विभिन्न रूप जैसे जातिगत शोषण, आर्थिक शोषण, नारी शोषण, दलित शोषण, राजनैतिक शोषण और पारिस्थितिक शोषण पर भी प्रकाश डाला गया हैं ।

भौगोलिकता :

समकालीन आँचलिक उपन्यासकारों ने अंचल की भौगोलिकता एवं उसकी प्राकृतिक सुषमा का बहुत जीवंत चित्रांकन किया है । उनके द्वारा चित्रित अंचल चाहे पहाड़ी हो, मैदानी हो, जंगल का हो, या समुद्र तटीय उसकी प्राकृतिक सुन्दरता का चित्रण करने में वे सब सफल हुए हैं । विभिन्न अंचलों की भौगोलिक विविधता में ही हमारी भारतीय संस्कृति मुखर हो उठती है । लेखक कहीं विंध्याचल पहाड़ों के पर्वतीय सौन्दर्य का चित्रण करता है तो कभी पलामू जंगलों की हवा के साथ विचरण करता है, कभी बेतवा नदी के किनारों से टूटती-बनती ज़िन्दगी की व्यथा गाथा सुनाता है । अंचल को अंचल बनाने में सबसे मूहत्वपूर्ण हाथ भौगोलिक परिवेश का होता है क्यों कि वही उसे विशिष्ट व्यक्तित्व प्रदान करता है तथा सामान्य सामाजिक जीवन से भिन्न करता है।

'सोनामाटी' में विवेकी राय ने पूर्वी उत्तरप्रदेश के दो जिलों गाजीपुर और बलिया के मध्यवर्ती भाग करइल को उपन्यास की घटना भूमि के रूप में लिया है, और यह करइल ही अपनी विशिष्ट भौगोलिक वास्तविकता के भीतर से आज के सामान्य गांव का दर्द बनता चला गया है। यह उपन्यास अंचल विशेष से संबद्ध होकर पूर्ण रूप से आंचलिक है । इस उपन्यास में एक विशिष्ट करइल क्षेत्र के गठिया, महुवारी, रामपुर, मेहपुर, चटाई टोला,

बंडारपुर, वीरपुर और दान का पूरा आदि स्वतन्त्र भारत के गांवों के जीवन संघर्ष की संश्लिष्ट कहानियाँ हैं । इन गांवों के विभिन्न पात्रों की अलग अलग वैयक्तिक विशेषताएँ मिलजुलकर समकालीन भारतीय जीवन का एक संपूर्ण संतुलित पहचान बनती है । करइल की प्राकृतिक सुषमा का ग्राम लक्ष्मि का श्रृंगार है। जहां सूर्योदय, मध्याह्न, संध्या और सूर्यास्त एवं विभिन्न ऋतुएँ उस जीवन में उल्लास बनकर छाई हूई है । वहीं छप्पर, बँड़ेरी, धरन, बांसफूस, टाटी-खाटी और खपरैल से बने कच्चे घर, झोपड़ी, मकान लोकजीवन की यथार्थ तस्वीर उभारती हैं। करइल गांव के खेत अन्नपूर्ण मइया की गढ़ी है । एकतरफ फूली सरसों का मोहक रूप, सूरज किरणों से हंसते-विहंसते पुष्प, रौंधों का अनन्त प्रसारी सौन्दर्य वैभव मटर, सरसों, तीसी की फसलों का आपसी आंकवार-भेंट एवं स्वागत -सत्कार को समारोहत आचरण आचार से करइल लोकमानस अपनी पहचान कराता है ।

विवेकीराय का गांव केन्द्रित और एक आंचलिक उपन्यास है 'समरशेष है' । इस उपन्यास के केन्द्र में चार गांव भरतपुर, असवलिया, उझंखा और गैरतगंज हैं । इस उपन्यास का घटना क्षेत्र भी पूर्वी उत्तर प्रदेश का अविकसित भूभाग है । आज़ादी के चालीस वर्षों के बाद भी पूर्वी उत्तरप्रदेश के कई अंचलों में सड़क नाम की चीज़ नहीं है । इस उपन्यास का मुख्य पक्ष संघर्ष है । यह संघर्ष पूर्वांचल के एक छोटे से नगण्य गांव जगरता से आरंभ होता है । जगरता या असवलिया केवल दो गांव नहीं है वरन् पूर्वांचल के सभी पिछड़े गांवों के प्रतीक है ।

'बीस बरस' में रामदरश मिश्र फिर एकबार गांव की ओर लौटे है । इस उपन्यास में बीस बरस के बाद दामोदर दिल्ली से अपने गांव लौटता है, और देखता है कि उसका गांव कितना बदल गया है । गांव में बदलाव की प्रक्रिया तो आज़ादी के बाद ही शुरू हो गयी थी। चिउटहा, बसावनपुरा, शिवपुरा आदि गांव दामोदर के गांव से एक मील की दूरी पर है। दामोदर के गांव का सारा कछार गुजरात था । तमाम गांवों के रास्ते यहां आकर मिल जाता था। अभावों की मार से छटपटाता हुआ यह इलाका रोज़ी रोटी केलिए कभी कलकत्ता, कभी बनारस, कभी बंबई, कभी अहमदाबाद, कभी कानपुर भागता था ।

हिन्दी के सुपरिचित उपन्यासकार द्रोणवीर कोहली ने अपने प्रस्तुत उपन्यास 'तकसीम' में विभाजन पूर्व के पश्चिमोत्तर भारत के गांवों, कस्बों और शहरों की पृष्टभूमि को अंकित किया है । गांव का नाम है थोहा मार्हम खाँ, थोहा अब इनका मूल स्थान माना जाता था इस उखाड़ को लोग 'पहली भाजड़ा' की संज्ञा देता था । कुछ लोग इसे वर्तमान हज़ारा जिला मानते है तो कुछ इन्हें मानसहेरा के निकट बफ़ा, शंक्यारी, काकूल, और धमतौड़ जैसे स्थानों को अपना उत्स समझते थे । तलागंगा थोहा से करीब आठ कोस के फासले पर था । कोहमरी का प्राचीन नाम था मस्याड़ी । अंग्रेज़ों ने इस सारे पहाड़ी को मारी हिल्स नाम दिया, जो हिन्दुस्तानी में कोहमरी और स्थानीय बोली में कुर्मरी हो गयी ।

'इदन्नमम' के अंचल में छिपा है विंध्या का अंचल, विंध्या की पहाड़ियों से घिरे वर्णित गांव हैं सोनपुरा और श्यामली । इन गांवों के अंचल

में धूल है, नदी है, पर्व है, गीत है, आहें-कराहें है, सत्-असत है, रूढ़ी और परंपराओं की भरी पूरी दुनिया है । वरिष्ट कथाकार राजेन्द्र यादव के शब्द में कहें तो 'इदन्नमम' में "मिट्टी पत्थर के ढोकों या उलझी डालियों और खुरदरी छाल के आसपास की सावधान छँटाई करके सजीव आकृतियां उकेर लेने की अद्भुत निगाह है .....लगभग रेणु की याद दिलाती हुई "[3] सोनपुरा के पास के गांव है एटकोंच । विंध्याचल की पहाड़ियों में बसे कई गावों के बीच में पड़ता है सोनपुरा । ओरछा जंगल का भी उल्लेख उपन्यास में किया गया है, यह कंचन घाट के बातरफा, बेतवा और पिरथीपुर के रास्ते में है । सोनपुरा और श्यामली गांव के अलावा बिरगांव की स्थिति का भी वर्णन लेखिका ने किया है । बिरगांव इतना छोटा है कि मुश्किल से सौ घर से ज़्यादा नहीं होगा।

'जहां खिले है रक्त पलाश' उपन्यास का नायक झारखंड़ का एक उपेक्षित जिला पलामू प्रदेश है । सच्चा पलामू अखबारों के लिए झूठा पलामू है और मात्र जंगल ही सच्चा पलामू है । उस सच्चे पलामू का आधे से अधिक भाग बंज़र पठार है। कभी जल था, अब गांव बसे हैं । गांवों के आसपास नंगी पहाड़ियाँ, पर्वत श्रृंखलाएँ हैं । जंगल के बाहर का पलामू ही सब जानते है । पलामू बिहार की कुल जनसंख्या की तीन प्रतिशत आबादी है । दो सौ व्यक्ति प्रति किलोमीटर । सरकारी क्षेत्र होने पर भी परिवहन की व्यवस्था अविकसित है। पलामू की ज़मीन कड़ी और पथरीली है । आधा किलोमीटर के भीतर दो तरह की मिट्टी है एक लाल और छौंह ज़मीन । यही तो पलामू

---

1. इदन्नमम - मैत्रेयी पुष्पा - पहले पृष्ठ से

की विचित्र भौगोलिक संरचना है । खेत में दो मट मिट्टी देखती है तो अगली क्यारी बलुआ ही, कहीं गड्ढे दिखती है तो दोहर में छाती भर ऊँची भर धान की फसल भी दिखती है, फिर उसी के किनारे फटी दरारों वाला टीला भी । पलामू की भूमि और प्रकृति ऐसे विरोधाभास दृश्यों से भरी पड़ी हैं । वहां के पठारी क्षेत्र में सिंचाई की स्थायी और कारगार योजना बेकार हो जाती है । पहाड़ियाँ नहर का रास्ता रोक लेती हैं । घाटियाँ टांग खींच लेती है । प्यासे खेत साल भर मूँह खोलकर आकाश की ओर पानी केलिए ताकते रहते हैं।

पलामू में जलगांव जैसे बड़े गांव बहुत कम हैं । दूर दूर तक शीशम, सखुआ, सागवान और पलाश के दरख्त है । जेठ, बैसाख में धरती सूख जाती है तब इलाके के कई गांवों में पथरीले कुओं का पानी सूख जाता है तो कोयल ही प्यास बुझाती है । कोयल नदी के सबसे निकट बसा गांव है जल । बाढ़ का पहला शिकार जलगांव होता है, इसलिए हर साल में पन्द्रह दिन तक जलमग्न रहता है । वहां बाढ़ एक नित्या प्रक्रिया है इसलिए इस गांव को 'जलगांव' कहा जात है । कोयल के पार बसे गांवों के लिए नदी पार किए बिना शहर पहूँचना कठिन है । कोठिलवा पहाड़ से निकलती है धनकाई नदी । शिवघाट से ऊपर पूरब में मील भर आगे धनकाई कोयल नदी से मिलती है । इसी शिवघाट के ठीक नीचे है जलगांव । कोटिलवा पहाड़ी के तलहटी में बसे बिसुनपुरा गांव का उल्लेख भी उपन्यास में किया गया है ।

'डूब' में मध्यप्रदेश स्थित तीन तरफों से गिरे और एकतरफ से नदी से छिके लड़ैई गांव को बहुत कम लोगों को मालुम है । लड़ैई नाम पड़ने के पीछे बहुत अधिक कथा है - कभी झाँसी में मोतीसाव के पूर्वज राज काज के

झंझट में फंसकर खानाबदोशी की तरह इस गांव में आये थे, पहले यह गांव घना जंगल था । लड़ाई से बेहाल होकर यहां डेरा डालने के कारण ही गांव को लड़ैई नाम लगा । लड़ैई का अर्थ है 'लड़ाई वालों का गढ़' दूसरी कथा का उल्लेख वीरेन्द्र जैन ने 'पार' उपन्यास में किया है । वह यह है कि गुरीला पर पानी का अकाल पड़ने पर गुरीला गांव पठार से तराई में उतर आया था । फिर 1857 में रानी लक्ष्मी भाई के शहादत के बाद जब उनके हिमायतियों को गोरी पलटन और लशकर दरबार में सताया गया तब बहुत से परिवार झांसी पलायन कर गए । उन्हीं में से कुछ परिवारों ने चंदेरी राज्य की तलहटी में बसे इस गुरीला गांव में डेरा डाला । ऐसा करके गुरीलावालों का मान बढ़ाया गया । सो गुरीलावालों ने उन्हे मान देने के लिए अपना गांव का नाम बदलकर 'लड़ैई' नाम दिया ।

'पार' और 'डूब' दोनों उपन्यासों का केन्द्र पात्र लड़ैई गांव है । बेतवा नदि के किनारे राजपरिवार हवाखोरी, नौकाविहार या पूजा अर्चना के लिए आते रहते थे, इसलिए बेतवा के घाट को राजघाट कहलाया गया । घाट के एकतरफ चंदेरी राज्य की सीमा थी और दूसरी तरफ ललितपुर की । आज भी मध्यप्रदेश और उत्तरप्रदेश यहीं से बंटे है । लड़ैई गांव पहले पहाड़ के ऊपर था वहाँ आज भी बानियों के गुरीला बाबा का मन्दिर है । हज़ारों वर्ष तक गांव वहीं रहे ये वहां से चंदेरी और देवगढ़ और बिना पर्वत चढ़े उतरे पहूँचा जा सकता था । फिर भूकंप आया तो पहाड़ ही वहाँ न रहने दिया । चंदेई ओर गांव में दूरी कायम हो गई । फिर पहाड़ से उतरकर नीचे आकर लोग बसने लगे । लड़ाई में सताए लोग भी आए । मध्यप्रदेश और उत्तरप्रदेश की

बुर्देलखंड सीमा पर स्थित बेतवा नदी के राजघाट पर बाँध बनाने की एक योजना शुरू हुई थी दशकों पहले । इसके तहत इस बृहद लड़ैई क्षेत्र का डूब क्षेत्र घोषित कर दिया गया था ।

'ज़िन्दगीनामा' पंजाबी जन जीवन का जीवन्त उपन्यास है । इसमें लेखिका ने झेलम और चनाब नदियों के बीच के गुजरांवाला गांव के एक निश्चित कालखंड़ के जीवन का आकलन किया है । यह उपन्यास पूर्णतया पंजाब की भूमि से जुड़ा है । विभाजन पूर्व पंजाब के ग्रामीण परिवेश का वर्णन लेखिका ने विस्तारपूर्वक अत्यन्त आत्मीयता से किया है । 'चाक' में ब्रज प्रदेश के गांव अतरपुर, तहसील, इग्लास, जिला अलिगढ़ आदि इसके केन्द्र में हैं । अतरपुर के ईर्द-गिर्द कथा चलती है । गांव की भौगोलिक सुषमा देखे तो उत्तरी छाव पर विशाल ऊसर, जिसमें रोह सोड़ा दिखाई देता है । करबन नदी उसी के सहारे खेत के बीच प्रवेश कर जाती है। 'यह अन्त नहीं' उपन्यास की कथाभूमि बिहार के भोजपुर की विराट संस्कृति है । इसके द्वारा लेखक ने सम्पूर्ण बिहार के गांवों की त्रासद स्थिति को अंकित किया है । यह कहानी भोजपुर जनपद के तीन गांवों खवासडीह, पहाड़पुर और रघुनाथ पुर में घटती हैं।

इसप्रकार विभिन्न अंचलों की भौगोलिकता को अपने उपन्यासों में चित्रित करके समकालीन आंचलिक उपन्यासकार भारतीय संस्कृति के भौगोलिक विविधताओं से हमारा परिचय कराते हैं और साथ ही साथ इस प्राकृतिक पहाड़, नदी, जंगल, आदि के साथ मनुष्य के बदले हुए रवैये को भी प्रस्तुत करते हैं ।

धार्मिक जीवन और अंधविश्वास :

विविध धर्मों की मान्यता के अनुसार सांस्कृतिक मान्यता युक्त विविध पवित्र विश्वास ही धर्म की श्रेणी में आते हैं जो कि मानव समाज को अपनी प्राचीन पीढ़ियों से विरासत के रूप में जो प्राप्त होते हैं । उन्हीं के आधार पर वे जीवन क्रम का निर्धारण करते हैं और भविष्य की विपत्तियों से बचने का रास्ता खोजते हैं । धर्म एक विश्वास भी है और शक्ति भी । नरेन्द्र मोहन के आनुसार "धर्म का संबन्ध कर्म से है । धर्म केवल दार्शनिक परिकल्पना नहीं है, वह एक ऋत सत्य है"[1] भारतीय ग्रामीण समाज को संचालित करने वाले तत्वों के अन्तर्गत धर्म का महत्वपूर्ण स्थान है । भारतीय ग्रामीण अंचलों में अनेक प्राचीन आस्थाएँ अब भी अपने प्राचीन रूपों में विद्यमान हैं । हिन्दी के समकालीन आंचलिक उपन्यासों में धर्म व संस्कृति के आधार पर वास्तविक आस्था व अंधविश्वास पूर्ण जीवन प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है । अशिक्षित होने के कारण ग्राम्य जन धार्मिक दृष्टि से बड़ा जागरूक होता है ।

अन्धविश्वास सर्वत्र होते हैं, किन्तु ग्रामीण जीवन में उनका पुट कुछ अधिक ही रहता है । ग्रामों में भूत-प्रेत, जादू-टोना, टोटका आदि के बारे में तरह तरह की बातें प्रचलित हैं। ईश्वर के नाम पर धार्मिक अन्धविश्वास पैदा करके अशिक्षित गांव के लोगों को चूसकर उससे कमाई करते हैं कुछ लोग । "भारतीय ग्राम चेतना अपनी प्रकृति और परिवेश में अन्याय अज्ञान जनित भूत प्रेत संबन्धी प्रकल्पनाओं को समाहित किए हुए है।"[2] अन्धविश्वासों के नीचे

---

1. नरेन्द्रमोहन - धर्म और सांप्रदायिकता - पृ. सः 17
2. ज्ञानचन्दगुप्त - स्वातंत्रयोत्तर हिन्दी उपन्यास और ग्राम चेतना - पृ. सं : 203

पलने वाले भारतीय गांवों में जहां ज्ञान की किरण अब भी कोसों दूर है । पाप, पुण्य, शकुन, अपशकुन जैसे अन्धविश्वासों को धर्म की आड़ में पलते देखा जा सकता है । आंचलिक उपन्यासकारों ने भारतीय जनमानस में व्याप्त अन्याय अज्ञान-जनित भूत-प्रेत संबन्धी प्रकल्पनाओं और अन्धविश्वासों, परंपराओं एवं रूढ़ियों का यथार्थ चित्रण अपने उपन्यासों में किया है ।

भारत एक विशाल देश है । यहाँ अनेक जातियाँ धर्मों, संस्कृतियों और भाषाओं का संगम है । पंजाब में मुख्य रूप से हिन्दू, सिक्ख और मुसल्मि तीनों धर्मों के लोग रहते हैं । कृष्णासोबती के उपन्यास 'ज़िन्दगीनामा' में विभाजन पूर्व पंजाब की धड़कती ज़िन्दगी का लुभावना चित्र अंकित किया गया है । हिन्दू और सिक्खों में अनेक समान उपजातियाँ । उपन्यास में शाह परिवार हिन्दू है । चाची महरी सिक्ख परिवार की है, जिसका प्रेम गणपत शाह से हो गया था । गांव में हिन्दू और मुसलमान सदियों से दो भाईयों के समान रहते हैं । लेखिका ने साम्प्रदायिकता को विष कहकर और समाज में फैल रहे उसके प्रभाव की ओर इशारा किया है । सही साम्प्रदायिकता गहन होकर सम्पूर्ण पंजाब को ध्वस्त कर देती है । चाहे हिन्दू हो या मुस्लिम दोनों प्रकार की साम्प्रदायिकता का नेतृत्व प्रायः आभिजात वर्ग के हाथ में है, जो स्वयं नहीं लड़ता अपने वर्ग हितों के लिए जन साधारण को लड़ाता रहता है ।

यहाँ के ग्रामीण लोग आपस में भेदभाव नहीं रखते हैं । उनकी संस्कृति की विशेषता है कि हिन्दू और मुसलमान में आपसी मतभेद नहीं है । मसीत गुरुद्वार, गुरूनानक, बाबाफरीद, बारिश शाह, बुल्लेशाह, मियांमीर और कज्जू भगत की बोली गांव के सभी लोग रटते रहते हैं । बैसाखी, लोहड़ी,

शबेरात, ईद सभी मिलजुलकर मनाते हैं । शाह भी कटाई के समय सभी किसानों को खुशी-खुशी भोजन करवाता हैं, जिसमें हिन्दू मुस्लिम का कोई अन्तर नहीं रहता। शाह इतिहास का स्मरण करके हिन्दू मुस्लिम एकता का प्रमाण देता है । गांव में आर्य समाजी लोग आकर गांव के हिन्दुओं को अधिक कट्टर बनाने का काम करते हैं । शहरों के प्रभाव के कारण गांव में भी धर्म को लेकर मारकाट आरंभ होगया है । "तुम्हारा नाम क्या गदर तुम्हारा काम क्या गदर। तुम्हारा पेशा गदर । तुम्हारा ईमान क्या गदर ।"[1] देश का राजनीतिक घटनाचक्र साम्प्रदायिक ताकतों को भटकाता है । राजनीतिक घटनाचक्र से प्रभावित ग्रामीण जन जीवन का अत्यन्त सफल व सूक्ष्म चित्रण लेखिका ने किया है 'ज़िन्दगीनामा' के पात्रों में ईश्वर के प्रति असीम आस्था है। इस उपन्यास का आरंभ ईश्वर की सृष्टि के अनुपम वर्णन से होता है ।

'ज़िन्दगीनामा' के पात्र धर्म के भाव में अकण्ठ डूबे हैं । वे अग्निदेवता, सूर्यदेवता, अन्नदेवता और साधु सन्त महात्माओं की पूजा करते दिखाई देते हैं। त्योहारों के पीछे उनकी धार्मिक भावना कार्य करती है। धर्म की आस्था लोगों को पुण्य कार्य की ओर प्रेरित करती हैं, साथ ही पाप का भय अपराध से दूर रखता है। गांव के हिन्दू मुसल्मानों के धार्मिक विचारों में तो अंतर होता है । लेकिन सामाजिक, सांस्कृतिक आचार विचार में अन्तर दिखाई नहीं देता।

ग्रामीण लोगों के जीवन में विश्वासों के साथ अंन्धविश्वास भी जुड़ा रहता है । 'ज़िन्दगीनामा' में सुक्खानी के पुत्र ने नींद से खांस खांसकर दूध

---

1. कृष्णासोबती - ज़िन्दगीनामा - पृ. सं : 34

फेंक दिया तब भूत प्रेत का वास क़हकर लड़के के चादर के नीचे नींबू और धरेक के पत्ते और लोहा रखते हैं । जमीला का विश्वास है कि आवानों के लड़के का रूह गांव में भड़कती है, मामू मुसल्ली ने जिसका कत्ल किया था। इसके अलावा ग्रामीण लोगों के बीच अनेक रीति-रिवाज़ें है जिनका सम्बन्ध अन्धविश्वास से है । नज़र उतारने के लिए हथेली में थूकना, कनाली से आटा बाहर गिरने से मेहमान की प्रतीक्षा करना आदि ग्रामीण जन जीवन से प्रचलित अन्धविश्वासों के अनेक उदाहरण हैं ।

'इदन्नमम' में चित्रित श्यामली गांव में सिर्फ एक बनिया का घर मोदिलला का और एक मुसलमान का घर चीफ साब का है । दादा, मोदिलला और चीफ साब को गांववाले 'डंडा, झोला, छाता' कहकर पुकारते हैं । कही भी जाना हो, किसी समस्या का हल ढूँढना हो, तीनों एक साथ मिलकर करते हैं । साम्प्रदायिक सद्भाव के उत्तम उदाहरण के रूप में तीनों रहते हैं । अयोध्या ध्वंस की खबर तक गांव के सब लोगों के बीच मित्रता की भावना थी। जब रेडियों से रथयात्रा और अयोध्या की खबर पाते ही श्यामली गांव में भी लोग तहलका मचाने लगे । "मस्जिद दहाई से मुसलमानों ने हिन्दुओं को मारा है, काटा है । चलो हम भी मारेंगे मुसल्मान, काटेंगे उनके सिर, हाथ पाँव"[1] सांप्रदायिकता को लेकर जिसप्रकार की समस्या हमारे देश में है उतनी अन्य देशों में नहीं होगी । आज की राजनीति ने इसे पनपाने केलिए नये नये षड्यन्त्र रचे जा रहे है । साम्प्रदायिकता के मूल में जो घृणा भाव काम करता है, वह जातियों, धर्मों को लेकर सदियों से हमारे देश में है । अंग्रेज़ों ने इस देश के

1. मैत्रेयी पुष्पा - इदन्नमम - पृ. सं : 273

लोगों के मतभेदों का लाभ उठाकर शासन किया और यहां के लोगों के मन में धर्म के स्थान पर सांप्रदायिकता का विष बो दिया।

बचपन से गांव के लोगों के साथ पले बढ़े हुए चीफ साब अयोध्या की खबर पाते ही गांववालों के लिए सबसे बड़ा शत्रु बन गया । अयोध्या से कोसों दूर रहने वाले लोगों के मन में इस घटना का असर इतना पड़ा कि वे मस्जिद में जाकर गू-मूतों से भर दिया और चीफ साब के घर आने वाली नौकरानी को धमका दिया कि हिन्दू हो के मुसलमान के घर जाना नहीं । अन्त में चीफ साब को गांव छोटना पड़ा। अपने जन्म स्थान छोड़कर जानेवालों का दर्द का टिकाना नहीं होता। उसके जाने के बाद भी कुसुमा मस्जिदवाली जगह साफ करके दीप जलाते थे। दादा खुरान को संभालके रखा है इसलिए गांव के लड़के मज़ाक उंठाते हैं कि दादा मुल्ला होगये । बन्नेसाब भी नहीं रहे गांव में। दंगे फसाद में किसी नासिया ने उनका कत्ल कर दिया। बन्नेसाब की लड़कियों को भी गांव के लड़कों ने नहीं छोड़ा। धर्म या धार्मिक व्यवस्था को मानना साम्प्रदायिकता नहीं बल्कि धर्म का शोषण ही साम्प्रदायिकता है । साधारण जनता धार्मिक होती है न कि साम्प्रदायिक उसकी धार्मिकता को धर्मनिरपेक्ष नेता साम्प्रदायिक रूप देते है ।

सैद नगर में मन्दिर ही मन्दिर है, बीच बीच में मस्जिद भी । कहाँ से भजनों की धुन आ रही है, कहाँ से तीसरे पहर की नमाज़ की आवाज़ आ रही है इसका पता लगाना कठिन होता है । यहां कभी भी हिन्दू मुसल्मान दंगे भी नहीं हुए हैं । गांव की सारे स्त्रियाँ व्रत रखती हैं, त्योहार मनाती है, कोयलेवाले महाराज को सुनने के लिए सब इकट्टे होते हैं । मन्दा गांववालों

को रामायण सुनाती हैं । बाद में मन्दा को लगा कि रा़मायण सुनाकर समय नष्ट करना व्यर्थ है। सिर्फ मन बहलाने के लिए नहीं है रामायण । तुलसीदास की चौपाइयाँ विपत्तिकाल की कथा है । जब धरम की हानी हो रही थी तब असुरों को ध्वंस करने केलिए राम मनुष्य रूप में अवतिरत हुआ था । इसलिए मन्दा ने रामायण के इस संदेश को लेकर वह गांववालों के पीर हरने की कोशिश करने लगी । इस उपन्यास के बऊ भी भूत, प्रेत, जिन्नों के अन्धविश्वासों से मुक्त नहीं हैं। बऊ मन्दा की चढ़ती जवानी को देखकर उससे खसबोइया का तेल लगाने को कहता है । क्यों कि चढ़ती उमर को ही भूत पसन्द करता है । फिर सारी उम्र शरीर से नहीं छूटती।

हिन्दी के अधिकांश उपन्यासकारों ने देश विभाजन के बाद के परिप्रेक्ष्य को ही अपने उपन्यासों का आधार बनाया है । मैत्रेयी पुष्पा ने एक पात्र के ज़रिए 'चाक' में स्वतंत्रता प्राप्ति के पहले की बात का थोड़ा सा ज़िक्र किया है । पाकिस्तान के अलग होने पर नम्बरदार बड़े धर्मपिता बनकर अपने गांव को पूरे हिन्दू लोगों के गांव घोषित करके, सारे मुसल्मानों का नाम बदलकर हिन्दू बनाया । सालों के बाद थानसिंह मुसलमानों को भटकाने के लिए धर्म को औज़ार बनाया । मुसलमानों के मन में यह ज़हर भर दिया गया कि गांव में दो मन्दिर है लेकिन एक मस्जिद भी नहीं और उनसे अपने हक केलिए लड़ने को कहा गया। वैर्य और शत्रुता नंबरदार और थानसिंह के बीच है लेकिन इसका शिकार होते है गांव के साधारण जनता और इनके औज़ार है धर्म । "आजकल बहादुरी एक कोने में पड़ी भिनकती है । धर्म कर्म की

सबसे बड़ी चतुराई है।"[1] राजनीतिक़ नेतागण हिन्दू और मुसलमानों को आपस में लड़ाकर अपना उल्लू सीधा करते रहे हैं ।

गांव के लोग भूत प्रेतों पर बहुत विश्वास करते हैं और उनसे बहुत डरते हैं । उनमें ऐसा विश्वास हैं कि आत्महत्या, कत्ल, दुर्घटना से प्राप्त मृत्यू तथा जीवन भर उत्पीड़ित व्यक्ति की मृत्यू के पश्चात व्यक्ति भूत प्रेत बन जाता है । भूत, प्रेत या चुड़ैल का वास गांव वालों के अनुसार पेड़, मरघट, तालाब, या नदि का किनारा माना गया है । लोग विभिन्न प्रकार के मानसिक रोगों और पागलपन को गांव में भूत प्रेत या चुड़ैल का प्रकोप मानते हैं । व्यक्ति के ऊपर से भूत प्रेतों और चुड़ैलों के प्रभाव को समाप्त करने के लिए ओझा या तांत्रिक, झाड़-फूंक और मंत्र आदि का प्रयोग करते हैं । इन रोगियों को झाड़-फूंक की क्रूर यातनाओं से गुज़रना पड़ता है । लोगों का विश्वास है कि जिरौलीवाली मनोहर की बहु के शरीर पर भूत चढ़ने के कारण ही वह रोज़ घर के छत के ऊपर नंगा नाचती है । चुड़ैल को उतरवाने के लिए मनोहर की बहु को बहुत पीटा जाता है । लेकिन इसके विरोध में गांव वाले एक शब्द भी नहीं बोलते बल्कि बड़े भक्ति भाव से प्रार्थना करते हैं । मनोहर बहु के इस मानसिक विभ्रम का कारण चुड़ैल चढ़ने से नहीं बल्कि उसके छः माह का गर्भ कटवा-कटवाकर निकाल देने के कारण हुआ था मुशक्लि से उसे बहुत साल के बाद गर्भ हुआ था लेकिन शक की वजह से उसके पति ने उसका गर्भपात किया था । मनोहर बहु कि नंगा नाच देखकर गांव के सब लोग हंसी मज़ाक करते हैं सिवाय स्त्रियों को छोड़कर ।

---

1. मैत्रेयी पुष्पा - चाक - पृ. सं : 147

देवी देवताओं में विश्वास, भाग्य, पुनर्जन्म में आस्था, भूत-प्रेत की कल्पना, तंत्र-मंत्र, जादूटोना आदि में विश्वास, साधू महात्मा जैसे तत्व ही ग्रामीण के धार्मिक जीवन के अन्तर्गत आते हैं । 'सोनामाटी' में धार्मिक जीवन के इन सारे पहलुओं का चित्रण मिलता है। गांववालों के मन को परलोक प्राप्ति या स्वर्ग प्राप्ति या मोक्ष प्राप्ति की चिन्ता अधिक व्यथित करती है । अपने पापों को नष्ट करने केलिए गांव वाले गंगा जैसी पवित्र नदियों में स्नान करते हैं, तीर्थ यात्राओं पर जाते हैं । घर में हवन, यज्ञ, अखण्ड रामायण कीर्तन आदि करते हैं । धर्म ने करइल के सांस्कृतिक जीवन को बाँध के रखा है । कथा सागर में मनोरम द्वीप जैसे सावन में नागपंचमी, रज्जेबाबा की पूजा, सतिमी पूजा, नाथा बाबा के यहाँ होम, बन्नी दाई, शीतल माता की सिरजना, पनठरकउआ, माता नाई की छाक सोहारी और जय का चढावा, काली स्थान का कराह-बकरा, झंड़ी रपटोला, पचरा, ओझा-सोखा का खोलना, भाखना, भादी के तीज, उसके निर्जल व्रत की प्रासंगिकता आदि चित्रण 'सोनामाटी' उपन्यास की एक महत्वपूर्ण उपलब्धि बन गया है।

नयी पीढ़ी धार्मिक मूल्यों के स्थान पर भौतिक मूल्यों की ओर अधिक प्रवृत्त हो रही है । पुरानी पीढ़ी अवश्य ही आध्यात्मवाद की ओर झुकी हुई है, लेकिन नई पीढ़ी पूजा पाठ को महत्व नहीं देती है । गांव में धर्म केवल आडम्बर और पाखण्ड बनकर रह गया है । धर्म के पीछे केवल गांववालो के पाप के डर से उत्पन्न डर की भावना है । 'सोनामाटी' में रामरूप एक शिक्षित युवा होने पर भी अन्धविश्वास से मुक्त नहीं है । अपने ज्वार के बाल की चोरी का नाम निकलवाने के लिए वे छातापुर के सोखा के यहाँ जाता है। गांव के

सारे लोग अपने ऊपर आने वाली विपत्ति को कर्मफल समझकर सिद्धों के पास जाते हैं और पूजा करते हैं । रामरूप अपने पुत्र को जोंडिस होने पर चिकित्सा के लिए ओझा को बुलाता है। इसप्रकार कुछ अंधविश्वास करइल अंचल के लोगों के बीच में व्याप्त हैं ।

विवेकीराय का 'समरशेष है' में पण्डित से रामराज धर्म के संबन्ध में कहते हैं कि 'हिन्दू धर्म सड़ गया है । धर्म, नीति, परंपरा, सभ्यता और मीठी मीठी बातें सब धोखा है, इन सब चीज़ें हमें दबाकर कायर बना दिया है।"[1] हिन्दुस्तान में गगनान्द, उनके गुरू शून्यानन्द जैसे अनेक धर्मगुरुओं और भगवानों के पीछे विराट पूँजी लगी है और नानाप्रकार के उच्छाटन के सहारे ये लोग बुद्धिजीवियों के सुलाने के प्रयत्न में लगे हुए है । रामराज कों हिन्धू धर्म में बुराईयाँ ही बुराईयाँ नज़र आती हैं । उनके अनुसार हिन्दू शास्त्र और धर्म धूर्तता, पाखणड़ और छल की खान है ।

'सोनामाटी' के रामरूप की तरह इस उपन्यास का संतोषी पंड़ित अध्यापक है, शिक्षित है, लेकिन थोड़ी बहुत अन्धविश्वासों से वह भी मुक्त नहीं है । रामराज जब रात को रोते हैं तब उसका कहना है कि रात में रोने पर मनुष्य की अतृप्त इच्छाएँ मरने के बाद भी उसके पीछे लगी रहती हैं । मछली का दर्शन पंड़ित शुभ मानते हैं । ग्रामीण जनता को सिद्ध पुरुषों में बहुत अंध श्रद्धा होती है और सिद्ध पुरुष ग्रामीण जनता की इस अन्ध श्रद्धा का फायदा उठाकर उसे अपनी ठगी का शिकार बना लेता है। गांव के लोग ब्राह्मण की गाली को भी आशिर्वाद मानते हैं।

---

1. विवेकीराय - समरशेष है - पृ. सं : 225

'बीस बरस' में बरम बाबा का पक्का पूजारी था दामोदर । वह हर सोमवार को दूध चढ़ाता है । गांव में बरम बाबा को भय मोचन देवता माना जाता था । बीस वर्ष के बाद गांव अए दामोदर को ऐसा लगता है कि पूरी दुनिया में एक ओर विज्ञान अपनी बौद्धिकता का दावेदार बना हुआ है तो दूसरी ओर धार्मिक उन्माद और अज्ञात सत्ता के प्रति आग्रह बढ़ता जा रहा है । मन की शान्ति के लिए गांव के अध्यापक जन हनुमान मन्दिर बनवा रहे हैं । देश में मन्दिरों की कोई कमी नहीं है । "यदि मनुष्य मन को साफ कर ले तो मन्दिर मस्जिद के बिना भी इसे शान्ति मिल सकती है और न साफ करे तो मन्दिर मस्जिद उसे और भी अशान्त कर सकता है ।"[1] धर्म के संबन्ध में दामोदर कहते हैं कि "धर्म आज बड़े ज़ोर शोर से आपसी कलह का साधन बन रहा है।"[2] गांव के लोगों को चुड़ैल पर विश्वास है । आज बीस वर्ष के बाद भूतों के भय से भरा सुनसान जगह और विषम स्थान मानव जाति के स्पर्श से रौनक में बदल गया है । परीक्षा पास होने के लिए बरम बाबा पर दूध चढनेवाले कुमार बाबा के पोते का कहना है कि देश के बड़े बड़े लोग, तंत्रि मंत्री, नेता सब जादू टोना, मंत्र आदि के चक्कर में हैं, फिर क्यों वह नही कर सकता।

हिन्दी के सुपरिचित उपन्यासकार द्रोणवीर कोहली ने अपने प्रस्तुत उपन्यास 'तकसीम' में विभाजन पूर्व के पश्चिमोत्तर भारत के गांव, कस्बों और शहरों की पृष्ठभूमि को अंकित किया है । उस वक्त थोहा गांव में हिन्दू मुसलमानों के बीच सांप्रदायिक झगड़े विरलें होते थे । उन दिनों इलाके में आर्य

---

1. रामदरश मिश्र - बीस बरस - पृ. सं : 124
2. रामदरश मिश्र - बीस बरस - पृ. सं : 125

समाज की लहर चल रही थी । काशीराम और हकूमत गांव गांव में आर्य समाज का प्रचार करते थे। वे दोनों वैदिक धर्म चिन्तन को लोगों तक पहूँचाने की कोशिश में थे । बाहर से वे दोनों आर्य समाज के उन्नत आदर्शों को रटते रहते हैं लेकिन अन्तर से वह इतना संकुचित मनवाला है कि जब उसके रिश्तेदार मुसलमान बन जाने की खबर से तड़प उड़ता है और उसे फिर से हिन्दू धर्म में लाने की कोशिश भी करते हैं । इस उपन्यास में हैदराबाद आन्दोलन का उल्लेख किया है। हैदराबाद आन्दोलन के वक्त नए मन्दिर बनवाने और पुराने मन्दिरों की मरम्मत मना कर दी गई । निज़ाम ने मंदिर गिराकर उनके स्थान पर मस्जिद बनाया गया । वास्तव में निज़ाम सारी रियासत को मुस्लिम रियासत में तब्दील करने के मंसूबे बाँध रहा था। जिसमें मुसलमानों के सिवा अन्य धर्मावलंबियो के लिए कोई स्थान नहीं था। इसी वजह से देश की जगह-जगह आन्दोलन होने लगा था।

'तकसीम' में थोहा मार्हम खाँ गांव में प्रचलित अनेक शकुन, अपशकुन, जादूटोने आन्धविश्वासों का चित्रण करके द्रोणवीर कोहली ने गांव का एक यथार्थ रूप और लोगों के अज्ञानता पाठक के सामने रखा है। थोहा गांव में स्त्रियों का विश्वास था कि यदि कोई निःसन्तान स्त्री कोई बच्चा गोद ले तो उसकी गोद भरती है इसलिए धनदई हकूमत के चौथे बेटे धरम को गोद लेते है, और तीन चार वर्ष के बाद वह गर्भवति भी होती है तब लोगों के मन में यह विश्वास ज़्यादा से ज़्यादा अमिट होता है । सतभिराई ने चार लड़कों को जन्म

---

1. रामदरश मिश्र - बीस बरस - पृ. सं : 125

दिया इसलिए उनकी मृत्यू के संबन्ध में गांव की स्त्रियों का क़हना है कि उसकी कोख पर किसी की आँख लगी थी, इसलिए वह जल्दी मर गयी । गणपत घर से निकलते वक्त पीछे मुड़कर नहीं देखता। क्यों कि पीछे मुड़कर देखने से मन का कार्य संपन्न नहीं होता । मुड़ंन संस्कार के दिन हर घर में मांस की बोटियों से भरी परात छत पर रखते है । लोगों का विश्वास था कि यदि कोई चील परात में से मांस उठाकर ले जाती है तो समारोह मंगलमय माना जाएगा। लेकिन चील ऐसा पक्षी है कि मीलों ऊपर उड़ते वक्त भी नीचे मांस देखकर उतर आता है । लेकिन यह सब जानते हुए भी गांववाले इस रिवाज़ को छोड़नेके लिए तैयार नहीं है । इसीप्रकार के अन्धविश्वास हमारे समाज की जड़ों को खोखला बना देते है ।

विधवा को अपशकुन माना जाता है । इसलिए रांस्ते में कहीं विधवा को देखने पर लोग यात्रा स्थगित कर देते हैं । बहुत से गांवों में चेचक, हैजा, प्लेग आदि बिमारियों का कारण देवी का प्रकोप माना जाता है । इन बीमारियों को दूर करने केलिए बहुत से अंधविश्वासी ग्रामीण रोगी का उपचार न करके देवी की पूजा करते हैं । जब धनधई की बेटी को चेचक पड़ा तब गांव की बडी बूढ़ी औरतों का कहना है कि जातकी को तो माता निकल आई है । चेचक आने पर घर की रीतियों में सख्त नियंत्रण होता है । घर में कपड़ों की धुलाई बंद करते हैं, साबून इस्तेमाल नहीं करते, प्याज़, मीट-अंड़ा, मछली नहीं खाते और घर के मर्दों को दाढ़ी बनाना भी वर्जित था । जब धनदई के दूसरे बेटे को टी.बी हुआ तब रामरक्खी उसे कोसता है कि उसने पुरखों के रस्मों रिवाज़ की अवहेलना करने का दुस्साहस किया था ।

'डूब' उपन्यास में मुख्यतः तीन धर्म के लोग आते हैं, वे हैं -हिन्दू, इस्लाम और जैन धर्म । धर्म के नाम पर होनेवाले अत्याचारों, आडम्बरों और अनीतियों का भी चित्रण इस उपन्यास में भी हुआ है । बड़े साब के बड़े लड़के ने गांव के सब लोगों को बहका दिया कि मुसलमानों के रहते आज़ादी का कोई अर्थ नहीं है । उसके बाद हुए सांप्रदायिक दंगे में मारे मुसलमानों के शव दूर जंगल में गड्ढे खोदकर गाड़ दिए गए और उनपर बड़े बड़े पत्थर रख दिए गए, जो आज 'मुसल्मानी पथरा' के नाम से जाने जाते हैं । एक दिन अचानक गांव के लोग एक पत्थर को पूजने लगे, किसी को पता नहीं उसके संबन्ध में । उसका नाम भी दिया पथरा बब्बा। पथरा बब्बा की पूजा करने के कारण मोती साव को बिरादरी से बाहर कर दिया गया। लड़ैया गांव का और एक देवता है देहरे बब्बा । वे गांव के रक्षक देवता मानते थे । 'डूब' में लड़ैया गांववालों का विश्वास है कि मरने के बाद हर व्यक्ति भूत बनकर आता है । यदि पूरी संतुष्टि के साथ मरे तो वह भूत नहीं बनेगा। अगर फसल में कोई कमी आने पर गांव के सब लोग जाते हैं बामन महाराज के यहाँ, अपना भाग्य कोसता हुआ वे लोग अपने ग्रहदशा सुधरवाते हैं । पहले पहले बरसात को देवी मैया का वर समझता था, यह वर गांववालों को इतना ज़्यादा मिला कि बिना, बादल बरसात से बाढ़ आ गया । गांववाले अपने रोक शोक दूर करने केलिए कुम्हार बब्बा पर सवारी गाँठते हैं ।

'पार' में मूसरखेरे के लोग गौंड़ बब्बा पर विश्वास करते हैं । खेरे के किसी ने देवता को पत्थर समझकर तोड़ दिया और उस पर हग मूत दिया था इसलिए खेरे का डर है कि उनपर गौंड़ बब्बा का कोप होगा । हल्के साव

बानियों के मंदिर से भगवानजी को उठाकर राजघाट ले जाते है । कैलाश भी जिठौत में मन्दिर बनाकर लड़ैई के मन्दिर की प्रतिमाएँ ले जाने की तैयारी में है । तब लोगों का डर है कि जब देवता चले जाएँगे तो अकाल पड़ेगा, सूखा पड़ेगा लोग बेमौत मरेंगे । पंडित महाराज भगवान की पूजा करते हैं इसलिए उनके पुत्र कुपुत्र होने पर भी गांववालों का उसपर विश्वास है । यह विश्वास उन्हे संस्कारों से मिला है । भक्त मन्दिर में भगवान से प्रार्थना करके अपने पापों से मुक्ति के लिए आता है और पूजारी ही भगवान की सेवा करते हैं। पूजारी जितना भी नीच हो फिर भी भगवान की सेवक होने के कारण गांववालों को उन पर विश्वास हैं । यह गांववालों का संस्कार हैं । यह संस्कार गांववालों को सदियों से हस्तान्तरित करके मिला है । माते को प्रसाद में बामन महाराज कांच का टुकडा डालकर देता है, भगवान का प्रसाद थूक नहीं सकते इसलिए दस वर्ष तक वह कांच का टुकडा माते के तालू पर रहता है । आठ साल तक माते का बोलना बन्द भी हो जाता है । धर्म के प्रति गांववालों में इतना आसक्ति हैं । जब फुलिया के तीन चार बच्चे जन्म होते ही मर जाते हैं तब वह प्रसूति के बाद सब किसम के कन्द, मूल, जड़-पीपल, उबलकर, पीसकर, धोलकर पीती है, क्यों कि उनका विश्वास हैं कि देह में विषैले रक्त होने के कारण ही ऐसा होता है । इसलिए वह देह से विषैला लहू जाने के लिए यह औषधी पीती है । लेकिन यह स्वास्थ्य के लिए बड़ी हानिकारक है । 'यह अन्त नहीं' में बिहार में प्रचलित अन्धविश्वासों का उल्लेख मिथिलेश्वर ने किया हैं । चुनिया बचपन से ही सुनती आ रही है ज़मीन पर गिरे दूध को छाँगना अच्छा नहीं होता । लेखक जोखन के ज़रिए इन अंधविश्वासों को भ्रामक फिज़ुल और आधार हीन बातें मानते हैं ।

इन आंचलिक उपन्यासों में चित्रित धार्मिक और अन्धविश्वासों से यह बात स्पष्ट होती है कि भारतीय ग्रामीण समाज के समसामयिक धार्मिक जगत में परिवर्तन स्थान ग्रहण कर रहा है । धर्म संबन्धी पुरानी मान्यताएँ उन्मूलित हो रही हैं तथा नवीन धारणाएँ एवं मान्यताएँ उनका स्थान ग्रहण कर रही हैं । गांव में अन्धविश्वासों को जीवित रखना बैगा, गुनिया, ओझा, तान्त्रिक लोगों के निहित स्वार्थ के लिए आवश्यक है । ईश्वर पर गांववालों का अटूट विश्वास होता है । ये लोग इस विश्वास का स्वार्थ लाभ उठाते हैं । ग्रामीण जीवन अस्वस्थ रूढ़ियों और विगलित मान्यताओं की जखड़ से ग्रसित है । गांव में अंधविश्वासों का मूल कारण अज्ञान और अशिक्षा है। ग्रामीण अंधविश्वासों को धार्मिक मान्यता मानकर कभी त्याग नहीं करते । युग आज तेज़ी से करवट बदल रहा है लेकिन गांवों से आज भी अन्धविश्वास दूर नहीं हुआ है ।

रीति-रिवाज़ :

किसी व्यक्ति या समाज के जीवन निर्वाह का ढंग उसके रीति-रिवाज़ के अन्तर्गत आता है । इस दृष्टि से गांवों में लोगों का रहन सहन का ढंग अपनी विशिष्ट पहचान रखता है । ग्रामीण जीवन में अनेक रीति-रिवाज़ है जिन्हें ग्रामीण लोग पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तान्तरित करते आ रहे हैं । 'ज़िन्दगीनामा' में पंजाब के गुजरांवाला गांव में प्रचलित अनेक रिवाज़ों का उल्लेख कृष्णासोबती ने किया है । शाहनी के घर में हर वर्ष ब्राह्मणों की भोजन देने की प्रथा है । लाली शाह मदरसे बैठने से पहले हाथ में भिक्षा पात्र लेकर सात घरों से भिक्षा मांगने निकलता है और बड़ों से आशिर्वाद लेता है । बड़े आशिशें देते हैं कि

"जाओ गुरू के चरणों में । विद्या पढो। गुणवान बनो । यशवान बनो ।"[1] हर एक गांव का अपना रिवाज़ शादियों में भी होता है । मिट्ठी की शादी में सिक्खों की शादी की रीतियां दी गयी है । मंगनी के दिन नारियां सुहाग गा गाकर रोती हैं ।

'तकसीम' उपन्यास के थोहा गांव में प्रचलित रीति रिवाज़ों को पढ़कर ऐसा लगता है, जैसे ज़िन्दगी जीना उतना आसान नहीं है । जब किसी की मृत्यू होती है तब उससे जुड़े अनेक रिवाज़ होते हैं । मृत्यू के बाद घर की औरतें मलिन ओढ़नियाँ ओढ़ती हैं क्योंकि वर्षापर्यन्त नया पल्ला सिर पर रखने का प्रतिषेध था । यदि रखना है तो मैला करके रखता है । ताकि प्रकट हो कि घर में कोई मौत हुई है । मृत्यु के तेरहवीं दिन पर 'फूड़ी छंड़ना' एक प्रतीकात्मक प्रथा था । तेरह दिन भूमि पर बैठकर घर के सारे लोग शोक मनाते हैं । अन्तिम क्रिया 'धरमसांत' के दिन प्रातः ब्राह्मणों को सात्विक भोजन देकर दक्षिण में पांच कटोरी, पांच गिलास, दिए जाते है, इसके साथ मरणशौच का अन्त हो जाता हैं । पत्नि की मृत्यु पर पति का रोना असहज व्यवहार माना जाता था और निपट अस्वाभाविक भी । इसलिए हकूमत पत्नि की मृत्यु पर रोता नहीं, सारे दुःखों को मन के अन्दर दबाकर रखता हैं । 'धोती निचोड़ना' थोहा और लाहोर के आसपास के इलाकों में प्रचलित एक प्रथा थी । यह एक प्रतीकात्मक प्रथा है । मृत स्त्री की अंतयोष्टि के पश्चात जब रँडोरा मृतस्नान करके अपनी गीली धोती उतारकर फेंक देता है तब कोई उठकर उस धोती को निचोड़ने को उद्युत होता है, यह इस बात को सूचित करता है कि वह अपनी

---

1. कृष्णासोबती - ज़िन्दगीनामा - पृ. सं : 331

बेटी बहन का रिशता रँडुए के साथ करने को तैयार है । लेकिन एक विधवा के साथ ऐसी कोई प्रथा नहीं थी, दूसरा विवाह करने को उसे अनुमति नहीं थी।

फसल काटने के अवसर पर दो जगहों में चार चार 'चहा' डालते हैं उनमें से एक देरी मसीत मस्जिद के लिए दूसरी धरमशाला केलिए उसके बाद ही विधिवत् मिणाई शुरू करते हैं। बच्चों को लेकर थोहा गांव में अनेक रिवाज़ें मौजूद थी । तीन साल पूरे होने पर बच्चों का मुंड़न कर दिया जाता था । और चौथे बरस में चोरका, फिर पांच बरस के होने पर ही दूसरा मुंड़न करने का विधान था । मुंड़न एक ऐसा आयोजन था जिसमें सब रिशतेदार आते हैं । पांच दिन तक स्त्रियाँ गीत गाती रहती हैं । प्रसूति के तेरहवां दिन सूत निकालने की प्रथा है । उस दिन घर के सारे बर्तन बदल जाते हैं । बच्चे और मां को पंचगव्य घी, दूध, दंही, गोबर और गोमूत्र देते हैं । बालक को जन्म देने पर माँ को छट्ठी रखने की प्रथा थी, छः महीने तक माँ को घर की किसी वस्तू याने पानी तक छूने का अधिकार नहीं था।

जीवणमल के पोते के मुण्ड़न के दिन गोपाल रुष्ट होकर चला गया क्यों कि जीवणमल की बहू साड़ी ब्लाउज़ पहनी थी इसलिए । लेकिन जीवणमल, गोपाल की रुष्टता से खुश हुआ । क्यों कि गोपाल ने रुष्ट होकर एक पुरानी परिपाटि का निर्वाह किया था । बिरादरी में ऐसा रिवाज़ था कि खुशी के मौकों पर कोई संबन्धी रूढ़े नहीं तो समारोह अधूरा ही माना जाता था। विवाह के अवसर पर दुल्हा ऐसा रूढकर चला जाता हैं, फिर सारी बिरादरी इसे विधिवत् मनाती थी । थोहा गांव के लोग इन रिवाज़ों का पालन करना अपने कर्तव्य मानते हैं । इन प्रथाओं के पीछे धर्म की छाया ही नज़र आती है ।

'समरशेष है' उपन्यास में विवेकी राय ने पूर्वी उत्तर प्रदेश के पिछड़े अंचलों के रहन-सहन का विस्तार वर्णन बड़े सहज ढंग से किया है । जब पंडित रामराज के घर आता है तब उसने रामराज को 'सुजनी' पर सोते हुए देखा । पंडितजी की माँ भी सुजनी बनाया करती थी। घर के पुराने नये कपड़ों को जुटाकर बनाता है सुजनी । अब नयी औरतों में ऐसी बिछौनियाँ बनाने की फुरसत नहीं है । आर्दा नक्षत्र के स्वागत में हर किसान के घर में खीर बनाते हैं। क्योंकि आर्दा नक्षत्र ही किसान को फसल के लिए पानी देता है । गांव में घर की बनावट एक एक व्यक्ति की हैसियत और आर्थिक दृष्टि से अलग होती है। पण्डितजी का घर पुराने बाप-दादे की बनवायी हुई दो दरवाज़ोंवाली पुरातन दालान है ।

अतिथी सत्कार की भावना उसके सच्चे रूप में गांव में ही हम देख सकते हैं । अतिथी देवो भवः आदर्श को मानने वाले भारतीय का सच्चा चित्र गांव के लोगों का है । घर के द्वार पर आनेवाले लोगों का आता पता पूछने से पहले उनका सत्कार किया जाता हैं, देव तुल्य मानकर पूजा की जाती हैं । रघुनाथपुर में मिले सत्कार के सुख से पंड़ित खुश है कि यह परंपरा गांव में आज भी जीवित है । दहेज को इकट्टा करने के लिए पीड़ित एक पिता रामरूप को हम 'सोनामाटी' में देख सकते हैं उसी रामरूप की पीड़ा को लेकर जीनेवाला विवेकीराय का दूसरा पात्र है संतोषी पंडित । जब वह अपनी बेटी के लिए योग्य वर ढूँढने में असफल होने पर बेटी का विवाह गैर जाति के धनेसर के साथ करने का निश्चय कर लेता है । वह ऐसा करके रूढ़ियों को झटकाना चाहता है।

'सोनामाटी' में करइल गांव के विभिन्न रीति-रिवाज़, रहन-सहन का विस्तृत वर्णन किया गया है । गांव के छप्पर, बँड़ेरी, धरन, बांस-फूस, टाटी-खाटी और खपरैल से बने कच्चे घर झोपड़ी मकान लोकजीवन की यथार्थ तस्वीरें उभारते हैं । मकान के द्वार पर चबूतरा, चबूतरा पर पेड़, पेड़ को घेरकर बनी हुई मिट्ठी की नाद-चरनी, उनपर खाते पीते मवेशी, बैलों के पग चिन्ह का अनुकरण करते कंधे पर हल-हेंगा- बीज लिए हुए हलवाहे मज़दूर, खेत खलिहान की कठोर ज़िन्दगी से क्षणिक शांति-आराम के लिए वृक्षों की छाया में बैठे हलवाहे चरवाहे - सहज ग्रामीण परिवेश हैं, जिनसे करइल का लोकजीवन आज भी प्रभावित है ।

'सोनामाटी' में विवेकीराय ने भोजपुरी विवाह का विस्तृत रूप से वर्णन किया है । भोजपुरी समाज में लड़ंकियों का विवाह एक विषम समस्या बनगया है, इसका प्रधान कारण है तिलक और दहेज की कुत्सित प्रथा। विवाह में वर रक्षा, तिलक चढाना, माड़ोगाड़ना, भतवानी, मातृपूजा, द्वारपूजा, कन्यानिरीक्षण, कन्यादान आदि अनेक रीतियँ होती हैं । भोजपुरी रस्मों को लेकर दो विवाह का उल्लेख 'सोनामाटी' में हुआ है, कमली और भुवनेश्वर प्रसाद का । वास्तव में ये मांगलिक और सांस्कृतिक अवसर भीतर से गांव को जोड़ रहे हैं । बेटी को तिलक चढ़ाने के लिए रामरूप को बहुत कष्ट उठाना पड़ा। एक सांस्कृतिक व्यापार है 'दहेज', उसे गांव में द्रव्य दक्षिणा कहकर पुकारा जाता हैं । विवाह में गीत गाने के लिए आनेवाले ब्रह्माणियों से लेकर लड़की के जाने तक की क्रिया व्यापार है । एक विवाह में अनेक लोगों का व्यापार समाया गया है । मूर्ख तो लड़कीवाला बन जाता है और

लूटनेवाला लुटेरा लड़केवाले होते हैं । "इस विवाह व्यापार के सांसकृतिक समर में जो कटघरे में खड़े जैसे किसी बेटी की बाप की कमर टूट जाती है तो लोग समझते है, यह उसे मटका मटकाकर नाच रहा है ।"[1] गरीबी में विवाह की पवित्रता एक हद तक रक्षित है, किन्तु भुवनेशवर के विवाह से लेखक ने सिद्ध कर दिया है कि यह धन का विवाह है । इस उपन्यास में विवेकी राय ने विवाह संस्कार का विस्तार से वर्णन करके लेखक ने यह याद दिलाया है कि कैसे शहरी सभ्यता गांव के इन पवित्र रिशतों एवं कर्तव्यों पर भी अपनी काली छाया फैला रही है उसके प्रभाव से गांव लूटा जा रहा है । यह उपन्यास बरबस ही उन भूलती हुई परंपराओं की याद दिला देता है, जिसके माध्यम से गांव का जीवन सामुदायिक जीवन के रूप न्यस्त था।

'डूब' में ग्रांमीण संस्कृति के रीति-रिवाज़ों का सच्चा चित्रण हुआ है। गांव की चारों सरहदों पर एक-एक बावड़ी कुआं बनाया गया था । पीपल का पौधा रोपा गया था, उन बावड़ियों के पास । इस पीपल के बड़े हो जाने पर उसके नीचे दोहरे बब्बा की स्थापना की गयी थी । बाहर से आनेवाले उस पीपल के नीचे बनाये गये चबूतरे पर थोड़ी देर विश्राम करते थे । यह कभी कभी भूल-भटके राहगीर को भी आश्रय प्रदान है । अतिथी सत्कार की भावना भी हम इस उपन्यास में देख सकते हैं ।

उसी प्रकार वीरेन्द्रजैन का 'पार' उपन्यास 'डूब' का ही शेष भाग है फिर भी इसमें राउत जनजाति की संस्कृति का खूब वर्णन किया गया है । इन

---

1. सोनामाटी - विवेकीराय - पृ. सं : 166

लोगों की संस्कृति शहरवालों और गांववालों से भिन्न संस्कृति है । मूसरखेरे और जीरोनखेरे नामक दो खेरे की जनजातियों का उल्लेख इसमें है । वे लोग पहले इक्का दुक्का डेरा डालकर रहते समय मवेशी के बदले मौढ़ी और मौढ़ी के बदले मवेशी लेते देते रहे । अब वे आदमियों की ज़िन्दगी जीने को सीख रहे हैं । आदमी बनकर जीने केलिए नेक नियम, उसका रहन-सहन आदि का पालन करना चाहते हैं । वे लोग अपनी ज़िन्दगी में प्रगति चाहते हैं । लेकिन सरकार तो उन्हें फिर से आदिम बनाने की कोशिश में है ताकि पर्याटक जान सके कि ऐसे आदिम लोग आज भी हमारे देश में हैं । प्रगति हमारे सुख-सुविधाओं में नहीं बल्कि मानसिकता में होनी चाहिए । लकड़ी की बाड़ के बाद पेड़ों की बाड़ से घिरा हुआ मज़बूत टपरा है मुखिया का । मुखिया बनाने के पीछे अनेक रिवाज़ हैं । अगले मुखिया का नाम गुनिया रखकर उसे सारा काम सिखाता है जैसे टपरा छाबना, घन चलाना, हंसिया, हल पाँजना आदि । गुनिया को अपनी देखरेख में पारंगत करना मुखिया की नैतिक ज़िम्मेदारी है । मुखिया का कोई नाम और आस औलाद नहीं होगा । पूरा खेरा ही उसकी आस औलाद होता है । यही रीति है खेरे का । बदले ज़माने के अनुसार खेरे के रीति रिवाज़ों में परिवर्तन लाना चाहता है मुखिया । राउत जनजाति के विवाह भी अनेक रिवाज़ों से युक्त हैं ।

'जहाँ खिले है रक्त पलाश' में पलामू जंगल के अन्दर और बाहर रहनेवाले लोगों के रहन-सहन का वर्णन मिलता हैं । बिसुनपुरा के घर की बनावट अलग ढ़ंग की है। लाल गुलाबी रंग के होते है दीवार, गांव में अधिकतर घर इसी मोरम से लीप जाते हैं । आर्दा नक्षत्र चढ़ने की प्रतीक्षा में

रहते है पलामू के लोग । क्यों कि पलामू में नहर का रास्ता रोक लेती है घाटियाँ । सिंचाई की कोई स्थायी कारीगर योजना पलामू में बेकार हो जाती है । इसलिए आर्दा नक्षत्र के चढ़ते ही किसान आकाश में बादल को ढूँढते हैं, इससे बीज के कोठिलों के मूँह खोले जा सके । परंपरा से हमें संस्कार के साथ कुछ बेड़ियाँ भी मिलती हैं । सत्तोगुरुजी का विवाह गांव के पंडित वृजभान के पुत्र उदयभान से हुआ था । विवाह के बाद सात परदों की चिरई हो गयी थी सत्तोगुरुजी, यही है गांव देहात की रीति । नयी बहुओं को सूरज की किरण भी देखने के लिए अवकाश नहीं । मुंह अंधेरे में ही नहला धुलाकर कोहबर की कोठरी में बंध रहते है । सांस के जीते जी पतोह घर से पांव नहीं धरती। औरतें सांस के मरने के बाद ही शादी ब्याह गोतिओंझी लोकाचार के लिए घर से बाहर निकलती हैं ।

'यह अन्त नहीं' में बिहार के अंचलों में व्याप्त रीति-रिवाज़ का उल्लेख मिलता है । चुनिया के घर छोटा और बिलकुल साधारण का कच्ची मिट्टी की दीवारों तथा कपड़ैल के छत से बना है । मवेशियों के लिए पत्तेल और फूंस की तरह झोंपड़ी का एक दुमूँहा पक्के घरों की तरह सुविधा और सुरक्षा यहाँ नहीं थी । उसका घर तो इज़्जत के साथ गरीबी गुज़ारने का एक घेरा भर था । बड़टोली के पांच सात घरों को छोड़कर सारे घर पक्के के थे। कुछ घर तो पलास्तर और पोताई से शहर के घर जान पड़ते थे । जो घर पलास्तर हीन थे वे भी पक्की ईटों की जोड़ाई और कंकरीट छतवाले ही घर थे, नन्हटोली के अधिकांश घर कच्ची मिट्टी की दीवारों और खपरेल छतवाले घर थे ।

चुनिया के शादि के बीच का 'बहुरहंत प्रथा' का वर्णन किया है । बहुरहन्त में लड़की के कपड़े के साथ-साथ उसके पूरे परिवार के लिए कपड़े, फल तथा खाजा, लहडू आदि अनेक मिठाइयों से भरे झाँपी झोले रहते थे । बच्चे के जन्मावसर के एक समारोह है 'बरही' जब चुनिया के बच्चे का जन्म होता है तब आस पास के सब लोग बच्चे को आशिर्वाद देने के लिए आते हैं। कार्तिक पूर्णिमा के दिन गंगा स्नान के लिए रघुनाथपुर के काफी स्त्री पुरुष बकसर चले जाते हैं । रात में वहीं रहकर लिट्टी बनाकर खाते हैं । फिर सुबह कार्तिक पूर्णिमा के दिन गंगा के पवित्र जल में स्नान और पूजा अर्चन कर अपने गांव लौट आते हैं । ये रीति-रिवाज़ उनके शरीर में लहू के समान फैले हैं । इसलिए कभी भी ये सब छोड़ने के लिए तैयार नहीं होते। लेकिन जितने भ्रष्टाचार और कुकर्म ऐसे जगहों में होता है वैसा कहीं नहीं होता ।

गांव के रीति-रिवाज़ गांव को शहरी समाज से अलग करती है, क्यों कि गांवों की अपनी निजी ज़िन्दगी है, वहाँ कोई कृत्रिमता नहीं है । आज नगरोन्मुखता के कारण गांवो के रहन सहन में काफी बदलाव आ गया है । लोगों के रहन सहन में बीस बरस के बाद आए बदलाव को देख रहा है दामोदर 'बीसबरस' में । पहले तो गांव में गरीबी, भूखमरी, अशिक्षा, बाढ़ के अलावा कुछ नहीं था । अब अंग्रेज़ी स्कूल और कॉलेज खुल गया है । लड़के अफसर हो गये है, पक्के मकान बनगया है गली गली में, ट्यूबवेल गड़ गये हैं, हरिजन टोली भी अब वह नहीं रही वे अब किसी के वश में नहीं रहे । लोगों के रहन-सहन में आए बदलाव को देखकर दामोदर खुश भी होता है लेकिन थोड़ा बहुत संस्कृति को लीन होते हुए देखकर दुःख भी होता है । दामोदर जब काशीनाथ

की बेटी की शादि में भाग लेने के लिए जाता है तब उसे बदले हुए एक गांव का चित्र मिलता है । पहले किसी की शादी गांव भर के लिए उत्सव हुआ करती थी । लेकिन अब तो लोग शादी के अवसर पर आपने काम धाम से छूटकर अतिथी की तरह थोड़ी देर केलिए आते हैं, फिर लौट जाते हैं।

'चाक' में चित्रित अतरपुर गांव पुराने रीति-रिवाज़ों और कुछ बूढ़े खैयड़ों की परंपरा निभानेवाला कबीला है । लाला भवानीदास अपने पोते के 'चरुए' चढ़ने के समारोह में सारे गांववालो को बुलाते हैं । 'चरुए' का मतलब बालक के जन्म के दो दिन बाद का उत्सव है। लेकिन लाला की बहू सीमा को यह सब करना स्वाँग सा लग रहा है क्यों कि उनकी प्रसूति हो के डेढ़ साल होगया था, ये सब लाला गांववालों को खुश करने के लिए ही करता है ताकि उसंके बेटे को राजनीति में एक अच्छा स्थान मिले । 'चट्टा चौंथ' के त्योहार बालकों के लिए होता है । चट्टा चौथ के दिन सारा बालक इकट्ठे होकर गांव के सारे घर द्वार पर आते हैं । संक्रान्ति के दिन सूरज का घाम है कि चाँदनी माघ माह की किट किटाती ठंड में अतरपुर की जन प्रजा करबन नदी के पार जमा होते हैं । गांववालों का विश्वास है कि पछाइयों की शीत हवाओं के महूरत में पुण्य नहाने से स्वर्ग प्राप्ति होती है । 'अक्षय तृतीया' गांववालों के लिए बड़े महत्व का दिन है । क्योंकि इसी दिन खेत में पहली जोत लगेगी । बीज भरी डलिया लेकर कोई खड़ा होता है उसदिन और किसानों को बीज देने सात कुंआरी कन्या खेत में जाती है । चार घड़े में पानी भरकर मुट्टी भर चने डालेंगे पानी में । घडों का नाम भी रखेंगे - आसाढ़, सावन, भादों, क्वार, आदि। चने जल्दी उगने के लिए ही नाम रखा जाता है । उगे महीना ज़्यादा

बरसात का जोग माना जाता है । दिशा को लेकर गांववालों का विश्वास है कि उत्तर दिशा की ओर मूँह करके बैठने से उमर बढ़ती है । पूरब की ओर बैठने से यश और पश्चिम की ओर धन और दखिन दिशा सत्य की है ।

मैत्रेयी फुष्पा का गांव केन्द्रित दूसरा उपन्यास है 'इदन्नमम' इसमें अपने गांव सोनपुरा में आए बदलाव को देखकर बऊ हैरान है । लिपी दीवारों वाले घरौंदे की खपरैलों के बीच गांव में पक्के मकान भी दिखाई पड़ने लगे हैं। गांव का कोई भी स्त्री अपने पति का नाम ज़ुबान से नहीं बोलती क्यों कि ऐसा करना परंपरा को खंड़ित करने जैसा है । एकादशी के दिन गांव की सारी स्त्रियाँ व्रत रखती हैं । बऊ और प्रधान काकी ट्रैंक्टर की पूजा ऐसा करती हैं जैसे पालकी से बहू उतारने के लिए की जाती है । गंदाफूलों की माला पहना दी, काना चुटीला बाँध दिया । ट्रैंक्टर में लिखा गया कि 'बुरी नज़रवाले तेरे मूँह काला' । प्रधान काका ने 'श्री लक्ष्मी जू सदा सहायता करे' ऐसा लिखा। ये सब हम अन्धविश्वास मानते हैं, फिर भी ये गांववालों की ज़िन्दगी का अपना ही रीति-रिवाज़ है इसमें ही अपनी खुशी और संतृप्ति है । जब मन्दा की शादी मकरन्द से तय की जाती है, तब भी विवाह की तरह अनेक रिवाज़ होते हैं । सगाई की रस्में भी बड़े महत्वपूर्ण होती है गांववालो के लिए ।

इसप्रकार करइल, अतरपुर, सोनपुरा, श्यामली, बसावनपुरा, गुजरांवाला, पलामू, थोहा मार्हम खाँ, बड़टोली, नन्हटोली, आदि अंचलों के रिति-रिवाज़ और गांव में विवाह के अवसर पर होनेवाली रीतियों के साथ, सांस्कृतिक कार्य में आए हुए बदलाव को भी हम समकालीन आंचलिक उपन्यास में देख सकते हैं । एक एक अंचल के संस्कार बाहर से अलग होते ही भीतर से साम्यताएँ

ही अधिक नज़र आती हैं । एक एक गांव में चित्रित संस्कार भारतीय संस्कृति का ही द्योतक है । भारतीय संस्कृति का एक खुला चित्र हमें इन गांवों की गलियों से, लोगों के बोलचाल से, स्त्रियों के व्रतों से, बच्चों के खेल से, गांव के लोगों के मनोरंजन से, घर के बनावट से, वेश-भूषा से, एक दूसरे के बीच के संबन्धों की मूल्य से मिलते हैं। उसी चित्र में जीवंतता लाने की सक्षमता इन्हीं गांवों के भोले लोगों में है ।

खान-पान :

एक एक अंचल के भोजन, खाना-पकाना अलग होते हैं । यदि किसी अंचल में अतिथी के लिए गुड़ का शर्बत दिया जाता है तो, किसी अंचल में लस्सी है । निर्धन ग्रामीण अपनी हैसियत के अनुकूल भोजन करते हैं । 'तकसीम' में सतभिराई हमेशा लस्सी तैयार करके रखती है, ताकी घर में आनेवाले लोगों को वे खाली हाथ नहीं छोड़ती । इस लस्सी से जुड़ी एक लोकोक्ति है उस गांव में "लस्सी और लड़ाई बढ़ाने में क्या देर लगती है"[1] प्रायः हिन्दू घरों में किसी मुसलमान के खातिर ताज़ा गुड़ से सत्कार किया जाता है । थोहा गांव में स्त्रियाँ तरह तरह के पकवान बनाती हैं । रामरक्खी अपने बेटे गोपाल को रावलपिंड़ी भेजने के लिए मैदे से जावले बट बनाती है , और पोते केलिए मुरुंड़े बनाती है । थोहा गांव में खुशी के मौके पर सदैव मीठा चावल बनाया जाता हैं । धनदई की बेठी जन्मी की खुशी पर घी में गुड़ और जीरा डालकर जीरा बनाता है, और सारे गांव में बादाम, किशमिश, पिस्ता,

---

1. द्रोणवीर कोहली -तकसीम - पृ. सं : 40

छोटी इलायची वगैरह बाँटते हैं । बच्चे के मुड़न समारोह में हर घर में हलवा बनाता है । बंगाल में जब अकाल की स्तिथि उत्पन्न हो गयी थी इसलिए थोहा गांव में एक बार सार्वजनिक रूप से दावत देने खास तौर पर मैदे की चीज़ बनाने, परोसने की पाबंदी थी । भोजन संबन्धी प्रतिबन्ध से एक तात्पर्य यह है कि उच्च जाति के लोग निम्न जाति के व्यक्तियों के साथ बैठकर भोजन नहीं करते हैं और उसके हाथ का खाना भी नहीं खाते । जब हकूमत के बेटे धरम भूख के कारण पड़ोस के मुसलमान घर से रोटी खाती है, तब रामरक्खी उसे बहुत टांड़ते है और उसे शुद्ध बनाने के लिए गंगाजल पीने को देता है ।

'सोनामाटी' में रामरूप अपने घर आये मेहमानों को खाने केलिए नाना तरह के पकवान देते हैं । उसमें बेसन का मोहन भोग और खंडवरा, पील-पील कायदे, बजी बजी बरफी की तरह के तिरछे आयताकारं कटा, चने की भींगी दाल आदि विशिष्ट भोजन होते हैं । करइल गांव में विवाह और त्योहारों के अवसर पर तरह तरह के पकवान बनाते हैं । विवाह में आये लोगों को तरह तरह के शर्बत का पान भी ये लोग देते हैं। जब रामरूप कोलह आड़े में पहूँचने पर वहाँ के लोग उसे ईख, पानी, शर्बत और गुड़, महिया देकर उसका सत्कार करते हैं ।

'समरशेष है' में आर्दा नक्षत्र के स्वागत में हर किसान के घर में खीर बनाया जाता है । क्यों कि किसान को आर्दा नक्षत्र के चढ़ने पर ही पानी मिलता है । उसके चढ़नेवाले दिन हर घर में बहुत हुलास के साथ खीर तैयार किया जाता है । गांव के लोगों के बीच अतिथी सत्कार की भावना ज़्यादा है। अपने घर आए हुए लोगों के नाम, पता पूछने से पहले ही अतिथी सत्कार

करके भर पेट खान-पान सबकुछ दिया जाता है । भारतीय संस्कृति के अनुसार 'अतिथी देवो भवः' का पालन हम गांव में ही उसके यथार्थ रूप में देख सकते हैं।

ज़मीन्दारों के घर का खाना बहुत बढ़िया होता है । 'यह अन्त नहीं' में जब श्रवणसिंह का पुत्र आगम कॉलेज जाने लगती है तब श्रवणसिंह की पत्नी उसके लिए शुद्ध घी के खजूर तथा नक्कीन, काजू की बरफी, कोहाड़े का मुरब्बा और बेसन के लड्डू आदि खाद्य सामग्री भेज दिया जाता है और जब वह गांव आता तो उसके खानपान में हर रोज़ कुछ न कुछ नया और विशिष्ठ भोजन अवश्य जोड़ जाता है जैसे कभी मूँगा का हलवा, केखा दही अउरी, कभी उड़द का बार, मुर्ग मुस्ल्लम, कभी रेहुम छली, कभी बैंगन का भुर्ता, सेवई, मालपुआ, आलू कटहल का दम, मटर पनीर, मखानी दाल, रसदार बड़ी, रइतो कभी कभी खट् मिट्ठी भी । ज़मीन्दार लोगों के घरवालों के बीच में ऐसी चिन्ता है कि खानपान से ही घर की प्रतिष्ठा और मान मर्यादा का पता चलता है इसलिए घर का खाना अच्छा बने । श्रवणसिंह के यहाँ नौकरानी है चुनिया, जब वह अपना काम निपटाकर वापस जाने पर उसे श्रवणसिंह की पत्नी ने सड़ा हुआ पिछले दिन का खाना और जूठाखाना ही देती है, क्यों कि उनकी नज़र में नौकरीनियों के लिए यही काफी है ।

गरीब के घर में हमेशा किसी न किसी खाद्य सामग्री का अभाव होता रहता है । लेकिन चुनिया को मालूम है ऐसी परिस्तिथियों को कैसे पार करके घरवालों को खुश रखना है । जब उसके बाप, माँ और भाई काम से थककर आते हैं तब वह दाल और सब्जी के अभाव में भात और बुट-प्याजी की तरकारी बनाती है, और जमाकर रखे दही मथकर मट्टा तैयार करती है। क्यों

कि उसे मालूम है कि मट्ट, भात और बुंट प्याज की तरकारी उसके बापू को खूब पसन्द है। कभी कभी मज़दूरी में चौरठ-गुड़ मिलते है । चौरठ गुड़ से ढकनेसर बनाया जाता है। बिहार प्रान्त के लोगों के बीच ढकनेसर एक विशिष्ट भोजन है । गुड़ का सिरा पी ढकनेसर खूब फूल-फूलकर मोटे होते है । जब ढकनेसर मूँह में काटा जाता है तो सारा मूँह रस से भर जाता है। चौख-जाड़े और बरसात के दिनों में बनानेवाला एक उत्तम भोजन है लिट्टी । एक दूसरे प्रकार का भोजन है चाय के साथ चावल भूँजा । अरवा चावल को भूँजवाकर फँकते वक्त अपनी आवश्यकतानुसार नमक मिर्च डालकर खाया जा सकता है। चुनिया अपने पति जोखन के लिए तरह तरह के खाना बनाकर देती है, दालभरी पूड़ियाँ, आलू और पटल का दम तथा नए गुड़ का खीर, आलू और बैंगन का चोखा तथा धनिया के पत्ते की चटनी आदि ।

'इदन्नमम' में जब दादा के घर के सारे छोटे बच्चे एक साथ मिलकर खाने के लिए बैठते है, तब बड़ी खुशी में गाते है "आलू भाटा की तिरकाई, नाचे मुन्ना की मताई"[1] बऊ और मन्दा को कुछ दिन अनवरी के घर छिपकर रहना पड़ता है तब बऊ उलझन में पड़ जाती है कि कैसे मुसलमान के घर से खाए? इसलिए वह मन्दा को समझाती है कि भूखी रहने पर भी मुसलमानों का खाना मत खाना है, गोस-मोस वे लोग नहीं खाते है, लेकिन मुसलमान होने के नाते अनवरी खाता है । अनवरी बुआ और मन्दा के लिए किसी ब्राह्मण के घर से खाना मँगवाकर देती थी । लेकिन मन्दा छिपकर अनवरी

---

1. मेत्रेयीपुष्पा - इदन्नमम - पृ. सं : 15

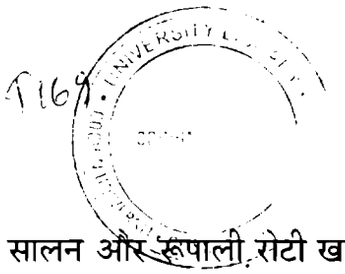

बुआ के बावर्ची खाने में आकर उनके साथ सालन और रूपाली रोटी खाना अच्छा लगता था।'समरशेष है' में जयन्ती एक महाभोज का अयोजन करती है और वह वेष बदलकर सारे गांव में महाभोज देती है । 'इदन्नमम' में भी एक सहभोजन भंड़ार का उल्लेख है । सामूहिक भोज से जो आनन्द प्राप्त होता है वह विशिष्ट है । इसलिए मन्दा सामूहिक भोजन भंडार दिवाली के ही दिन रखती है क्यों कि जो गरीब मेहनती परिश्रम करने के बाद भी पर्व, त्योहार पर अच्छा भोजन नहीं जुटा पाते, जो साधू - सन्यासी हफ्तों व्रत उपवास में निकाल देते है, ऐसे लोगों को वह भोजन कभी तो मिले, जिसे समृद्ध रोज़ ग्रहण करते हैं।

स्त्री के ऊपर होनेवाले अत्याचारों के खिलाफ आवाज़ उठाने का धैर्य दिखाने वाली सारंग एक अच्छी गृहणी भी है, उसे अपने घर के लोगों के खाने की रुंची के बारे में सब पता है, इसलिए जब उसके जेठजी घर आते हैं तो उसके पसन्देदार आलू के पराँटे बनाकर देती है। उसे मालूम है कि बाबा को आलू का साग पसन्द है और रंजीत कभी दाल बिना रोटी नहीं खाता है। जब उसके जेठजी आगरा से आते तब वह अपने बेटे चंदन को भेजने के लिए उसकी पसन्दीदार सूची का हलवा बनाती है । उपन्यास में एक जगह कहा गया है कि श्रीधर को देखने पर सारंग को हमेशा रसोई का ही ध्यान आता है, वह श्रीधर के लिए बड़े प्यार से बाजरा का भात, कठी और रसखीर बनाती है । प्रधानजी स्कूल की अर्जी में श्रीधर का दस्तखत कराने के लिए उसे भोजन सत्कार करके जाल में फंसा देना चाहते हैं । होली के दिन गांव के सब लोग गूँझा बनाते हैं, और दीवाली के दिन तरह तरह के मिठाई बनाते हैं । 'चाक' उपन्यास में इसका खूब वर्णन लेखिका ने किया है । 'ज़िन्दगीनामा' में पंजाबी

भोजन का विस्तार से वर्णन किया गया है । हर विशेष अवसर पर शाहजी के घर में गांववालों को भोजन दिया जाता है । लेखिका खुद अपने बारे में लिखती हैं अगर वह गृहस्थी जुटाएँगे तो घर में सबसे पहला तन्दूर बनाएगा और मिट्टी के बर्तनों की लंबी कतार होगी।

भारतवर्ष प्राचीन काल से ही कृषि प्रधान तथा अन्न उत्पादन में अग्रगण्य देश रहा है । कई प्रकार के अनाजों का उत्पादन यहाँ होता हैं । इनमें गेंहूँ, जौ, धान, चना, चावल, मोठ, मसूर, मक्का, ज्वार, उरद, मूँगा, तिल, मटर, सरसों, मंड़वा, साँवा, पसाई, कांगुनी, कोदो, मकरा आदि विशेष उल्लेखनीय हैं । इन विभीन्न अनाजों से अनेक प्रकार के व्यंजन बनाते हैं गांव के लोग ।

वेश-भूषा :

वस्त्राभूषण प्रत्येक संस्कृति की अपनी विशेषता रखती है । वस्तुतः एक ही संस्कृति में भिन्न भिन्न युगों में वस्त्रों के प्रकार और धारण करने की विधि में परिवर्तन होता रहता है । उत्तर भारतीय वस्त्रों की अपनी निश्चित विशेषता है । समाज के विभिन्न वर्गों के पुरुष और स्त्रियों के वस्त्र भी विभिन्न प्रकार के होते हैं । वेश-भूषा संस्कृति की व्यापक परिधि में समाहित होती है । ग्रामीण समाज को खानपान, वेश-भूषा, रहन-सहन आदि बातें शहरी समाज से अलग करती हैं क्यों कि गांवों की अपनी निजी ज़िन्दगी और उससे जुड़ी अपनी निजी संस्कृति है। जहाँ कोई बनावटीपन के लिए स्थान नहीं है । लेकिन आज के दौर में शहरों के संपर्क के कारण गांवों के रहन-सहन, खान-पान में जो

परिवर्तन आया है, वही परिवर्तन वेश-भूषा में भी दिखाई देने लगा है । गांवों में वृद्ध या पुराने विचारों के लोग परंपरागत पोशाक पहनते हैं तो, युवक शहरी प्रभाव या नये ज़माने की तड़क-भड़क से प्रभावित होकर अपनी अलग ही वेश-भूषा धारण करते हैं ।

वस्त्रों का प्रयोग दो रूपों में होता रहा है । निचले भाग को ढंकनेवाला वस्त्र अधोवस्त्र कहलाते है, जब कि शरीर के ऊपरी भाग में पहने जानेवाले वस्त्रों को अधिवास कहा जाता है । उत्तर भारत में पुरुषों द्वारा उपयोग में लाये जानेवाले अधोवस्त्र में धोती और पायजामा प्रमुख थे । अधोवस्त्र के रुप में हिन्दू स्त्रियाँ धोती, साड़ी तथा लहंगा तथा मुस्लिम स्त्रियाँ लहंगा, चूड़ीदार, पायजामा, सलवार आदी पहनती थी । पुरुषों के वस्त्रों में कुर्ता, झंगा, जामा, नीमा, पगड़ी आदि प्रमुख थे । कुर्ता गले से लेकर जाँघ तक लटकता था, हिन्दू लोग कुर्ता के बन्द बायीं ओर तथा मुसलमान दायीं ओर लागाते थे । झंगा, अँगरखे की तरह का एक वस्त्र था । जिसकी कमर पर चुन्नट होती थी। जामा ढीला- ढाल होता था, जो चारों और से लटकता रहता था । पगड़ी का विशेष प्रचलन भी एक ज़माने में गांव में हम देख सकते हैं। साधारण लोग जैसे कृषक एवं व्यावसायिक पुरुष ढीली पगड़ी बाँधते थे। इसे लपटी पाग कहा जाता था । सभी श्रेणी के लोग पगड़ी या साफा बाँधते थे। स्त्रियों के अधिवास वस्त्रों में अँगिया, चोला, कुर्ती, अँगिया कुर्ती तथा दुपट्टा आदि प्रमुख वस्त्र थे। दुपट्टा सिर्फ स्त्रियाँ ही उपयोग करती थीं और शाल का प्रयोग स्त्री-पुरुष दोनों द्वारा किया जाता था। ऋतुएँ बदलने के साथ मनुष्य का पहनावा भी बदलने लगता है ।

'तकसीम' में थोहा गांव के मुज़ेरों का वेश था गाढ़े का ख़ुली बाँहों वाला कुर्ता, जिसका गला बाई ओर बनाया जाता हैं । गणपत के खेत खलिहान में काम करने वाले सारे मुज़ेरा ऐसा वस्त्र पहनते थे । वे लोग नीचे गाढे की ही घिसी हुई बदरंग चादर सिर पर ढाई गाजी साफा और पैरों में खिड़ियाँ पहनते हैं । इस उपन्यास में भारत विभाजन पूर्व काल के गांवों की स्थिति का वर्णन है, इसलिए उस समय के अधिकांश मुसलमानों की वेशभूषा ऐसी ही थी, और ये लोग पगड़ी भी रखते थे । समय, काल, वर्ग, आदि का आकलन भी हमें पात्रों के वस्त्रों के द्वारा मिलता है । बच्चों को लोग बढती हुई 'रास' कहते हैं। इसलिए थोहा गांव के अधिकांश घरों में बच्चों के लिए नाप के कपड़े सिलवाने का रिवाज़ नहीं था । स्त्रियाँ ही हमेशा कानों में सोने की मुर्कियां पहनती थीं। लेकिन रामरक्खी के बच्चे बचते नहीं थे इसलिए वह अपने दोनों बेटे गोपाल और हकूमत के कानों बचपन से ही विन्हा कर सोने की मुर्कियाँ डाल दी जाती थी । गांव में उस समय कोट का नया नया प्रचलन था । पिरथमी चंद जब घर से निकलते है तब बंद गले का काले पट्टू का कोट सिरपर कलफ लगा बड़ा सा पगड़ी और पैरों में गुरगाबी पहनकर जाते हैं।

मनुष्य की वेश-भूषा उसकी सामाजिक स्थिति को भी प्रकट करती है। थोहा गांव में मृत्यू के बाद घर की सारी स्त्रियाँ मलिन ओढ़नियाँ ओढ़ती हैं, क्यों कि वर्षापर्यन्त नया पल्ला सिर पर रखने का प्रतिषेध था । यदि रखना है तो मैला करके रखते है, ताकि प्रकट हो कि घर में कोई मौत हुई है । इसके अलावा उन लोगों के बीच मृत्यु से जोड़कर धोती निचोडने का उपक्रम भी था। मृत स्त्री की अंत्योष्टी के पश्चात जब रँड़ोरा मृतस्नान करके अपनी गीली

धोती उतारकर पैरों में डालती है तब कोई उठ क़र उस धोती को निचोड़ने को उद्यत होता है । यह इस बात को सूचित करता है कि वह अपनी बेटी, बहन का रिशता रँडुए के साथ करने को तैयार है । लेकिन हकूमत अपने गीली धोती किसी को देने के लिए तैयार नहीं था । जब जीवणमल की बहू अपने बेटे के मुण्ड़न समारोह में साड़ी, ब्लाउज़ पहनते हैं तब गांव के लोग उसके संबन्ध में भला बुरा कहते हैं । थोहा गांव में छोटे, बड़े सब लोग कपड़े पहन सकते हैं, नवजात बालक को छोड़कर । क्यों कि गांव में नवजात बालक के लिए एक कठोर नियम विहित थे । पूरे छह महीने बालक को अनसिला कपड़ा पहनाने की परिपाटी थी । मात्र दो चोले बना लिए जाते थे । एक लाल खद्दर का दूसरा सफेद खद्दर का । फिर इस कपड़े को कैची लगाना वर्जित था । बालक के लिए कोई कपड़ा मोल नहीं लेते थे, मांगकर ही लाते थे । लाहोर और उसके आसपास के इलाकों की कुछ बिरादरियों में ही ऐसा विश्वास था ।

'समरशेष है' में संतोषी पंड़ित हमेशा धोती पहनते हैं । पढ़े-लिखे, कॉलेज के अध्यापक होने पर भी वह अपने परंपरागत वेश-भूषा का त्याग नहीं करता । इस धोती को लेकर एक अच्छा प्रसंग विवेकीराय ने 'सोनामाटी' में किया है । भोजपुरी वर की वेश-भूषा बड़ी सुन्दर होती है । मगनचोला को शादी के अवसर पर धोती पहनना पड़ा लेकिन उसे धोती पहनना मालूम नहीं है । जब विवाह के अवसर पर 'अग्निस्थापन' क्रिया के बाद पिऊरी धोती दाता द्वारा वर को धारण करने दिया जाता है, तब उसे पता नहीं कैसे धोती पहनना है । इसलिए भारी सभा में लड़कियाँ उसका परिहास करने लगी । वह तो गांव की बड़ा नेता है, शिक्षित है, सबकुछ है लेकिन धोती पहनना मालूम

नहीं । उस वक्त मगनचोला को एक बात महसूस हुई कि "धोती साधारण वस्त्र नहीं वह गांव का प्रतीक है । वह छूटी तो गांव छूटा । उसे याद आया कि माँ का कहना न मानकर उसने कितनी गलती की। बार बार वह कहती रही बच्चाजी विवाह के दिन पियरी धोती पहनना पड़ेगा। सीखलो नहीं तो बहुत हंसी होगा सो वही हुआ । गांव में रहकर वह गांव से कितना दूर होगया ।"[1]

गांव के सब लोग धोती, कुर्ता नहीं पहनते हैं । उन लोगों के बीच में जो पढ़े लिखे और शहर से आकर्षित लोग हैं वे कमीज़ पैंट पहनना ही पसन्द करते हैं । 'चाक' में भंवर ऐसा एक गोरे रंग का लंबे कद का युवक है । वह पढ़े लिखों की तरह उजले कपड़े पहनकर रहता है।

धोती-कुर्ता पहनना उसे नहीं रुचता । उनकी दावा है कि कमीज़, पैंट में किसान को भी सुविधा और राहत मिलती है । वह अपने सिर पर छोटे छोटे बाल नहीं कुछ लंबा ज़ुल्फें रखकर अपने को आधुनिक किसान कहता है । स्त्रियाँ साड़ी पहनकर घूँघट सिर पर ओढ़ती हैं । किसी पराये मर्द के सामने आते ही झट से घूँघट डालती हैं । इसलिए सारंग इसपर व्यंग्य करती है कि हर मर्द चाहता है कि स्त्री घूँघट में ही रहे कभी बाहर न आए । करवा चौथ के दिन सारंग का रूप देखकर गली के सब लोग उसे कनखियों से निखारते हैं । वह गुलाबी रेशमी साड़ी की हरी फूलदार किनारी ब्याह वाली साड़ी पहनता है । एक भारतीय नारी का पोशाक किसप्रकार का है, उसी रूप में सारंग का चित्रण मैत्रेयीपुष्पा ने किया है, माथेपर लाल बिन्दी, आंखों में काजल, पावों में

---

1. विवेकीराय - सोनामाटी - पृ. सं : 346

पायल, गले में हंसली और कानों में झुमकी आदि । विशेष त्योहार, मेले के दिन ढोल बजानेवाले, नृत्य करनेवाले और गानेवाले का पोशाक अलग ढंग के होते हैं । ढोला बजानेवाला ख्यालीराम आंखों में सुरमा और मूँह में गला खोल नसका रोली का लम्बटी लगाते हैं और गले में काले धागे में बँधी ताबिजिया भी पहनती है । बिसुनदेवा केसरिया कुर्ता और सफेद धोती काछे पहनकर ही ढोली बजाने और गीत गाने किलिए गांव में आते हैं ।

'जहां खिले है रक्त पलाश' में नन्दू घटवार भी धोती पहनता है, जब वह जंगल दस्ते में एक सदस्य बन जाता है तब उसे लूटने और आक्रमण करने की सुविधा के लिए पैंट पहनना पड़ता है । उत्तर भारत के अधिकांश लोग धोती ही पहनते हैं । 'बीसबरस' का नन्दलालजी, 'सोनामाटी' का रामस्वरूप, 'इदन्नमम' का दादापंचम सिंह, 'समरशेष है' का संतोषी पंड़ित, 'डूब' का माते आदि सब पुरुष पात्र धोती पहनते हैं ।

'इदन्नमम' में चीफसाब, मोदीलला और दादा को दूर से देखने पर गांव के लोग कहते हैं - 'छाता, डंडा, झोला आ रहे हैं' । क्यों कि उन तीनों के पोशाक में छाता, डंडा, और झोला हमेशा होता है । मोदिलला गांव का एक अकेला बनिया है । वह गले में तुलसी की दुकड़ी माला पहनता है और रोज़ सफेद धोती, कुर्ता धारण करता हैं । चीफ साब गांव का अकेला एक मुसलमान है वह शेरवानी और अलीगढ़ी पाजामा पहनता है । वह भी हमेशा सफेद कपड़े पहनता है, और सिर पर काली गोल टोली पहनता है । दादा के हाथ में छाता, मोदी के हाथ में छड़ी और चीफ साब के कंधों पर खादी का झोला होता है इसलिए ही गांववाले उनको छाता, डंड़ा, झोला कहकर पुकारते

है । स्त्रियों के बीच में गुदने की रीती है, वह अपने इच्छानुसार शरीर के किसी भी भाग में देवी, देवता, पति का नाम, पिता, भाई, माँ, बेटे आदि के नाम गुदती है। कुसुमा ने अपने हाथ के गुद्दा में अपने पति और भाई का नाम लिखा है ।

हर क्षेत्र की अपनी वेश-भूषा होती है । पंजाब के लोग विशेषकर नारियाँ सुन्दर वस्त्र पहनने की शौकीन हैं । 'ज़िन्दगीनामा' में हर स्त्री का प्रिय पोशाक सलवार कमीज़ है । त्योहरों में लोग नये कपड़े पहनते हैं । लोहड़ी के समय का वर्णन देखिए "कोई नवेली पहन अई सलते - जड़ा मखमल का लाल जोड़ा। किसी ने पहना हरे रंग की काबूली दरियाई का । किसी ने बांकड़ी के जालवाली गुलाबी ओढनी । किसी ने मुगिया खद्दर पर टंका सुनहरी गोखारू। कोई सास की प्यारी ओढ आयी फुलकारी चीरने फूल की। कोई बबोए और कोडीवाली ।"[1] इस तरह पुरुष के पहनावे का भी वर्णन हैं। पंजाब के पुरुष अपने धरम और जाति के मुताबिक तरह-तरह के पगड़ी पहनते हैं । फौज में गोरे सिपाहियों के सिर में टोपी होती है तो पंजाबी पलटनों के सिरों में साफे । क्यों कि साफा-पगड़ी उनकी इज्जत आबरू है।

पाश्चात्यों के वेष का अनुकरण करने की आशा ज़माने के पहले से ही दिखाई देता है । पाश्चात्य स्त्रियाँ अल्प वस्त्र धारण करती हैं, वे लोग अपनी संस्कृति के अनुसार ही जीते हैं, लेकिन हम क्या करते हैं, हम भूल जाते हैं कभी कभी हमारे संस्कृति को । 'डूब' में जब एक बार माते की पत्नी अपनी

---

1. कृष्णासोबती - ज़िन्दगीनामा - पृ. सं : 80

धोती घुटने तक ऊपर सरकाकर अपनी सुड़ौल पिडंली और टाँगों निहार रही थी । माते ने तड़ाक से उसकी पीठ पर एक धौंध जमाकर उसे गाली दी । उसने तो गांव में सैर के लिए आनेवाली मेम का अनुकरण करके देखा था । यह हमारी संस्कृति के अनुकूल न होने के कारण ही माते ने उसे धक्का मारा था।

सारे उपन्यासों में हम ने विभिन्न प्रकार के धोती, साड़ी, लहंगा, चोली पहननेवाले लोगों को ही देखा है । लेकिन बदन पर केवल लिंग ढाँपने के लिए एक टुकटा कपड़ा तक न होकर अपने घर के ही अन्दर रहनेवाले लोग भी हमारे बीच हैं । 'पार' में जीरोन खेरा के लोगों का वर्णन वीरेन्द्र जैन ने बड़े कारुणिक ढंग से किया है । जीरोन खेरे के लोग अपने पेट भरने के लिए लड़ैया जाकर काम करना, अपना सामान बेचना आदि चाहते हैं, लेकिन कैसे जाए ? उनके पास बदन परं एक टुकटा कपड़ा तक नहीं है । यदि ऐसा नंगे रूप जाए तो गांव वाले खदेड़ते हैं । जैसे खेत में सियार की घुसपैठ पर उसे खदेड़ते है वैसे । राउतों को चमड़ी में रहने की शौक नहीं है, लेकिन क्या करे यह तो उन लोगों की लाचारी है । "बताए कोई इन गांववालों को कि राउतों को भी चमड़ी में रहने की शौक नहीं हैं । घाम, जाड़े, बसकोर में उघारे बदन नंगा-धड़ेगा रहने का । यह तो हमारी लाचारी है लत्ता कहाँ से लाएँ हम । तुमरे पास बाहू हो तो दे दो पहन लेंगे। वही लपेटकर तुमरे गांव में आ जाएँगे ।"[1] मुखिया ये बात गांववालों से कहना चाहते है, लकिन कहने का अवसर तो कब देते है गांववाले, उसके अन्दर भगा देते हैं गांव से । कोई निपूती गांववाली

---

1. वीरेन्द्र जैन - पार -पृ. सं : 29

ने सिद्ध ब़ब्बा के थान पर धोती जोड़ा चढ़ा दिया था और खेरे का एक़ व्यक्ति ने उठाकर उसके तीन टुकड़ा करके तीन जनी को दे दिया । उसके बाद ही तीन जनी गांव जाने लगी । उसी दिन ही एक नई दुनिया के द्वार राउतों के लिए खुला । फिर राऊतों ने अपने सामान के बदले टूँका, लत्ता, उतरन, घाघरा, धोती, फरिया, पोलका, सलूका, ओढ़नी मांगने लगे । बाद में वही पहनकर जनी गांव में जाने लगा ।

समय के अनुसार और अन्य संस्कृतियों के संपर्क में आने के कारण भी हमारी वेश-भूषा में परिवर्तन आने लगा है । गांव में भी यह परिवर्तन हम युवा लोगों में देख सकते हैं, टी.वी. जैसे माध्यमों के प्रचलन भी वेश-भूषा के बदलाव का कारण बन गया है । गांव में आज परंपरागत और आधुनिक दोनों ही तरह की संस्कृतियाँ एक साथ फल फूल रही हैं ।

लोकगीत :

'लोक' का अर्थ होता है दृष्टिगत संसार अथवा इंन्द्रियगोचर संसार । विद्याविनास मिश्र के अनुसार "इन्द्रिय गोचर संसार, जो इंद्रियों द्वारा अनुभूत होता हो, जिसका प्रत्यक्ष अनुभव होता हो वही लोक है ।"[1] इस लोक में केवल मनुष्य समाज ही नहीं, प्रकृति, व्यवहार, भाषा आती हैं । लोक साहित्य का हर समाज व देश के जीवन में बहुत महत्व होता है । लोक की वास्तविक संस्कृति उसके मौखिक साहित्य में ही अभिव्यक्त हुई है । इसमें सदियों से

---

1. विद्यानिवास मिश्र - लोक और लोक का स्वर - पृ. सं : 36

शोषण, उत्पीड़न तथा सामाजिक कुरीतियों का शिकार जनता के जीवन की आर्थिक सामाजिक विषमता तथा उसकी विद्रोही चेतना का सजीव चित्रण हुआ है । लोक साहित्य की विभिन्न विधाएँ हैं - लोकगीत, लोककथा, लोकगाथा, लोकनृत्य आदि।

लेक संस्कृति को अभिव्यक्त करने के लिए उपन्यासकारों ने लोकगीतों का प्रयोग किया है । लोकगीतों का महत्वपूर्ण कार्य है - विशाल जनसभ्यता का उद्‌घाटन। ग्राम गीतों के द्वारा ग्राम संस्कृति का ज्ञान होता है। इन लोकगीतों में न केवल हमारी संस्कृति का मार्मिक इतिहास सुरक्षित है, बल्कि प्रतिदिन के सामान्य कार्यों में भी वे सहज ही अपनी अभिव्यक्ति पाते है। गांव में स्त्रियां आज भी झाड़ू देती हुई, दूध दुहती हुई और दही बिलोती हुई, गाय भैंसों की सेवा करती हुई गती हैं । स्त्रियाँ ही नहीं गांव के पुरुष लोग भी दैनिक कार्य को बिना संगीत की लय के सहारे नहीं करते। हल चलाते, कपड़ा बुनते, मज़दूरी करते, खेतनिराते, धान काटते वक्त गीत गाकर आह्लाद के वातावरण का निर्माण करते हैं । "लोकगीत का प्रयोजन लोक का ही मंगल, लोक का ही सुख दुःख निरूपण, लोक के ही उत्सव और लोक की ही आकांक्षा की अभिव्यक्ति है "[1] लोकगीत सामान्य तथा संस्कार, धर्म, श्रुत, श्रम, जाति, व्रत, त्योहार, मेले, पर्व, उत्सव, अनुष्टान, मनोरंजन, खेती भिखमंग, अनुभव वीरगाथा, इतिहास आदि से संबंधित होते हैं ।

साधारण जनमानस के पास पुस्तकों पर आधारित ज्ञान व्यावहारिक ज्ञान नहीं होता, लेकिन ये लोग अशिक्षित और असंस्कृत होने के बावजूद भी

---

1. आजकल - लोकगीत हमारी जातीय संपत्ति है - ब्रजरानी वर्मा - पृ. सं : 29

संवेदनशील, जीवन मूल्यों के पक्षधर तथा धर्म के प्रति आस्थावान होते हैं । इन अशिक्षित लोगों के दुख-दर्द, हर्ष-विषाद, जीवन -मृत्यु आदि मानवीय संवेगों को लोकगीतों में देख सकते हैं । 'तकसीम' में रामरक्खी निपट निरक्षर थे लेकिन उसे बहुत दोहा, कवित्त, कंठस्थ थे । जब पति उसे मारता है, तब वह बड़े दुःख से पति से रूढ़कर पति के प्रश्नों का उत्तर गीतों में ही देती है।

"दोल दमामा दूकड़ी । संहाई सखफेर
करनेगा सो भरन गे तू क्यों भयो उदास"[1]

रामरक्खी घर के एक एक कार्य करने के साथ साथ गीत गुनगुनाकर रहती है। बच्चे के जन्म पर गाए जानेवाले लोकगीत 'सोहर' या 'सरियाँ' कहलाते है । कुछ अंचलों में ये गीत बारह दिनों तक गाए जाते हैं और 'बरही' अर्थात बच्चे के जन्म के बारहवें दिन ही उनका समापन होता है ।

'यह अन्त नहीं' में चुनिया को बेटा होनेपर आस-पास की सारी युवतियाँ घर आकर गीत गाती हैं - "ए ललन, रामजी, जनम ले-लेदसर के अँगनवा"[2] एक या तीन वर्ष की आयू पूर्ण कर लेने पर बच्चे का मुंड़न संस्कार, जिसे चूड़ाकर्म भी कहते है। पाँच दिन रोज़ मुंड़न के दिन औरतें घर में गीत गाती रहती हैं । 'तकसीम' में थोहा गांव में प्रचलित 'घड़ोली' गीत का उल्लेख किया गया है । एक एक अंचल में गानेवाले मुड़ंन के गीत भिन्न होते हैं । पांच दिन तक गीत गाने के बाद औरत कुएँ से पानी भरने के लिए जाती है, और घड़ा भरकर आते समय ये गीत गते हैं यह उस गांव की प्रथा है -

---

1. द्रोणवीरकोहली - तकसीम - पृ . सं : 11
2. मिथिलेश्वर - यह अन्त नहीं - पृ. सं : 215

"घड़ोली भर आइ आं
वावा घड़ोली भ आइ आं
भर आई आं ।
भर चा सिरेते धर आइ ओ.....
थोहे न्या सिरदारा
तुद्यों डर आइ आं ।
वा-वा घड़ोली भर आइ आं"[1]

इस गीत की व्याख्या करते हुए उपन्यासकार ने लिखा है "घड़ोली भरकर आ रही हूँ । वाह वाह घड़ोली भरकर आ रही हूँ । भरकर सिरपर धरकर आ रही हूँ । ओरे थोहे के सरदार । तुझी से डरी हुई आ रही हूँ । वाह वाह।"[2]

विवाह गीत के अवसर पर गानेवाले हर गीत में लोक संस्कारों की झलक देखी जा सकती है । 'सोनामाटी' में आये हुए अधिकांश गीत विवाह के अवसर पर गाये जानेवाले गीत हैं। विवाह के गीतों में दो प्रकार के गीत गाये जाते हैं । एक तो कन्या के घर गाये जानेवाले और दूसरे वर के घर में गाये जानेवाले । कन्या पक्ष के गीत वर पक्ष के गीतों से अधिक करुण और मधुर होते हैं । विशेषकर बेटी के विदा के गीत में पत्थर को पिघलाने की क्षमता रखती है । वर पक्ष के गीतों में शोभा, सजावट और धूमधाम अधिक होती है । 'सोनामाटी' में इससे संबन्धित अनेक गीत हैं जैसे तिलक के गीत, मांड़ो के गीत, माटी कोड़ाई के गीत, हरदी के गीत, परिहास के गीत, मांड़ों खोलाई के गीत, बारात बिदाई के गीत आदि । कमली के तिलक हरू के वक्त बालिकाएँ बड़े शोर के साथ मंगल गीत गाती हैं ।

---

1. द्रोणवीरकोहली - तकसीम - पृ . सं : 398
2. द्रोणवीरकोहली - तकसीम - पृ . सं : 398

"जनि जनि हो समधी अंगन छोड बाडे
अंगना के मलिक हुवें रघुनाथ बाबू
तिलक लीहें नव लाख जी"[1]

तिलक चढ़ते वक्त से लेकर शादि के मुहूर्त तक गीतों का सिलसिला चलता रहता है । आश्चर्य की बात यह है कि मंगलमयी गीतों के बीच गालियों के गीत भी गाये जाते हैं । 'सोनामाटी' में इन गीतों के अलावा पर्व, त्योहारों और मेलों के साथ गाए जानेवाले गीत का भी उल्लेख है । जब ढोल, मृदंग, करताल और ताली पीट पीटकर गाए बजाए जाते हैं तो वातावरण रंगीन हो उठता है और श्रोताओं का मन प्रकंपनों से भर भर जाता है।

गांव की स्त्रियाँ अपने घर के काम निपटाने के लिए गीत गात रहती हैं जैसे 'तकसीम' के रामरक्खी पात्र ऐसा है। उसीप्रकार के एक अशिक्षित नारी है 'यह अन्त नहीं' की चुनिया की माई। सिर्फ स्त्रियाँ ही नहीं पुरुष लोग भी अपने काम करते वक्त, काम को हल्का करने के लिए, थकावट महसूस न करने के लिए बैलों को हांकते वक्त नाव चलाते वक्त, बीज बोते वक्त गीत गाते हैं।

'जहां खिले है रक्त पलाश' में घटवारों के बीच में प्रचलित कुछ गीतों का उल्लेख लेखक नन्दू घटवार के माध्यम से कियां है -

"ए - हे - हे - है.....माटी के बकनु आं हो
ए - हे - हे - है.....माटी के बकनु आं हो
मीरा म डी के बलमुआं

---

1. विवेकी राय - सोनामाटी - पृ. सं : 138

जियो जोयो हो झरेला
नदिया को पार गइले, रोजी जगावे रे"[1]

अर्थात रोज़ी रोटी कमाने नदी के पार गये मेरे प्रियतम अब तक लौटे क्यों नहीं? पानी में गल तो नहीं गये?

होली की रात गाये जानेवाले व्रज रसिया तो जगत प्रसिद्ध है । होली के अवसर पर गाये जानेवाले इस रसिया का उल्लेख हमें 'चाक' में मिलता है। चम्पारन नया नया रसिया बनाकर गाने के साथ नाचते है -

"डाकौ परिगयौ लौहरे देवरिया, मैं मरगई डर के मारे
जब डाकू मेरे आँगन आए, हाय छतिया
से सरिक गई सुनरिया"[2]

इस गाने के शुरू होते ही चम्पारन घाघरा चोली पहनकर नाचने लगते है । होली में बूढ़े भी दो दिन के लिए जवानी उधार ले लेते हैं । अतरपुर गांव में गांववालों को हमेशा गीत सुनाकर कथा कहने के लिए एक दादी है, खेरापतिन। खेरापतिन और ख्यालीराम ढोलावाले दादू दोनों तनमय होकर गांव समाज को गीतकथाएँ सुनाते हैं । नयी पीढ़ी को किस्सों, कहानी पर विश्वास नहीं, वे रोना धोना भी पसन्द नहीं करते, लेकिन दादी के कहानियाँ और लोकगीत ज़िन्दगी और मौत के अनमिट दस्तावेज़ हैं । सावन के महीने में औरतें किसी एक के घर में इकट्टे होकर रात-रात भर गीत गाती हैं । आजकल गीत सुनने में

---

1. राकेशकुमार सिंह -जहां खिले है रक्त पलाशा - पृ. सं : 55
2. मैत्रेयीपुष्पा - चाक -पृ. सं : 356

किसी को रुची नहीं है । गांव में गीत कथा के मर्म भूलनेवाले को 'डैमफूल' कहते है । नए ज़माने के लड़के बौहरे की बातों पर हंस देते हैं । धरम-कर्म और ढोला आल्हा में पार्टी बंदी नहीं चलती । ये सब गांव के विरासत में आते है।

चरन सिंह बौहरे का कहना है कि "आजकल के पढ़े लिखे लोग डैमफूल नल-दमयंती की कथा का मरम सौ किताबें पढ़कर भी नहीं समझ पाएँगे । उससे ज़्यादा गहराई से सलगी गड़रिया समझ सकते है, जिसने भेड़ों के अलावा कुछ देखा नहीं।"[1]

लोक गीत अंचल की जनता की भावना और अनुभूतियों का प्रतिनिधित्व करते हैं। इनकी भाषा क्षेत्रीय होती है। गांव में विभिन्न अवसरों पर विभिन्न प्रकार के गीत गाए जाते हैं । 'ज़िन्दगीनामा' उपन्यास की शुरुआत ही गीत से होती है । इसमें शाहजी के घर में अराइयों की बेटी राबयां की मीटी वाणी सबको लुभाती है, चरखे लेकर बातने बैठी नारियों के लिए वह बारस साह का हीर रंझा गाती है -

"डोली चददया मारियां हीर चीकां
मौनू लै चल बावला लै चलो वे
मौनू रंख लै बावला हीर आंखों
डोली छत कहार नी लै चल वे"[2]

---

1. मैत्रेयीपुष्पा - चाक - पृ. सं : 12
2. कृष्णासोबती - ज़िन्दगीनामा -पृ . सं : 33

लोकगीतों के गाने में मिरासियों के स्थान सबसे आगे हैं । हर विशेष अवसर पर ढोल बजाते हुए मिरासियों का संघ आता है और गाना गाता है । युद्ध से जुड़े गीत भी गांव में प्रचलित है ।

वस्तुतः लोक जीवन में लोकगीतों के माध्यम से ग्रामीण अपने संवेगों को अभिव्यक्त कर पाते हैं । इससे तनिक सा ही सही ग्रामीण अपने दुःख विषादों को भूलकर आनंदित हो जाते हैं । घोर अभाव और शोषण के मध्य ये लोकगीत और लोक कथाएँ जनसमुदाय को बहुत राहत पहूँचाते हैं । मैत्रेयी पुष्पा, द्रोणवीर कोहली, विवेकीराय, कृष्णासोबती, राकेशकुमार सिंह, मिथिलेश्वर आदि उपन्यासकारों ने अपने उपन्यासों में लोकगीत का उपयोग अंचल की समग्र सांस्कृतिक धरोहर को पूरी समग्रता के साथ प्रस्तुत करने के लिए किया है।

लोककथाएँ :

लोक साहित्य के अन्तर्गत लोक कथा की विशेष महत्ता है । एक कान से दूसरे कान में, एक मुख से दूसरे मुख में, एक मन से दूसरे मन में गूँजती हुई लोककथा निरन्तर बहती रहती है । "लोकमानस में प्रचलित कथाएँ लोक-कथाएँ होती है । इनका आधार लोक कण्ठ होता है और उसी के सहारे ये पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तान्तरित होती है।"[1] लोक कथाएँ मानव की आदिम व पारम्परिक प्रथाओं और उसके विभिन्न जीवन मूल्यों एवं विश्वासों का प्रतिनिधत्व करती हैं । इनमें विभिन्न संस्कृतियों, वहाँ के खान-पांन, सामाजिक आचरण, राजनीति सभी का उल्लेख होता है । आंचलिक उपन्यास मुख्य रूप से लोक

---

1. डॉ. ज्ञानचन्दगुप्त - स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास ग्रामचेतना - पृ.सं : 222

संस्कृति को प्रस्तुत करता है । लोक कथाएँ लोक संस्कृति की संरक्षिका है । गांव केन्द्रित आंचलिक उपन्यासों में लोक संस्कृति के विविध उपादानों का चित्रण मिलता है जैसे लोक नृत्य, लोकगीत, लोककथा आदि ।

'चाक' उपन्यास में स्त्रियों, बच्चों और बूढ़ों को निरन्तर कथा सुनाने वाला एक पात्र है खेरापतिन दादी । कथा सुनने की चाह बूढ़ा होने पर भी नहीं थमती । जब गांव के सारे स्त्रियाँ करवाचौथ के दिन सजधजकर आती हैं तब वह इससे जुड़कर करवाचौथ की महत्ता को व्यक्त करनेवाली एक कथा सुनाती है । सात भाइयों के एकलौती बहन थी बीजा, अपनी बहन से बहुत प्यार करते थे भाई लोग । बीजा ने अपने पति के लिए व्रत रखा था । कहा जाता है करवाचौथ का चांद देर से निकलता है । इसलिए सात भाइयों ने बीजा से झूठ कहा कि चांद निकला है औरं उसने व्रत तोड़ा । उसी क्षण में खबर आयी कि उसके पति का देहान्त होगया । बीजा उसी दिन से लेकर हर करवाचौथ के दिन अपने पति के लिए व्रत रखती है । दादी इस कथा के द्वारा लोगों को समझाती है कि करवा वंश बढोत्तरी की निशानी है, साल भर तक संभलकर रखना है । यह तो करवचौथ के व्रत से जुड़ी कहानी है। उसीप्रकार 'सोनामाटी' में शिवरात्री से जोड़कर एक कहानी का विस्तृत वर्णन विवेकीराय ने भी किया है।

प्रेम से जुड़कर अनेक लोककथाएँ प्रचलित हैं। मोतिनी की कथा उसीप्रकार की एक प्रेम कथा है ।. इसका उल्लेख 'चाक' में किया गया है । खेरापतिन दादी जब ये कहानी सुनाती है तब गुलकन्दी को यह बहुत अच्छी लगती है । क्यों कि गुलकन्दी के मन में भी मोतिनी की तरह एक प्रेमी है, लेकिन समाज में व्याप्त जाँत-पाँत के डर से किसी से कुछ न कहकर अपने

मन में ही दबाकर रखती है । दाने की मोतिनी नल से प्यार करता था । नल आदिम जाति की है और दाने राक्षस, इसलिए नल और मोतिनी के बीच का प्रेम संभव नहीं था । एक दिन अपने पिता दान से बचाने के लिए मोतिनी नल को मक्खी बनाकर अपनी वेणी में छिपाकर रखती है । इस कथा से जुड़कर गीत भी है -

"दाने ने कमची लई उठाई
मोतिनी की दीनी खाल उड़ाई जावै
बाबुल तोंय मेरौ सांच न आवै
मारे ते मानुस मिलि नहीं मोरी"[1]

लोककथा एक क्षेत्र संस्कृती की परंपरागत संपत्ति होती है । 'ज़िन्दगीनामा' की शुरूआत में लालाबड्डे अपने घर में सबको कथा सुना रहे हैं । यहाँ पुराण की कथा को लोककथा के रूप में गूंथा गया है । पंजाब में प्रचलित तीन प्रमुख लोककथाएँ हैं - हीर-रंझा, ससि-पुन्नु और सोहनी महीवाल । हीर रंझा की रचना बारिशशाह ने की थी। चरखा लेकर कातने बैठी लड़कियाँ हीर-रंझा और सोहनी महीवाल की कथा बारी-बारी में गाती हैं। सूफी कवियों से रचित इन महाकाव्यों में रहस्यवादी चेतना ही प्रमुख है। लोककथाओं के प्रचार में मिरासियों का स्थान प्रमुख है।

'जहाँ खिले है रक्तपलाश' में त्याग की महिमा का वर्णन करती हुए एक लोककथा प्रचलित है । उस त्याग को याद रखने के लिए पलामू अंचल

---

1. मैत्रेयी पुष्पा - चाक - पृ . सं : 253

में आज भी वह मेला जुड़ जाती है। उस मेला का नाम है 'सतबहिनी मेला'। सतबहिनी मेला में आनेवाले सारे अंचलवासियों को एक योगी यह कथा सुनाता है - राजाभूपसिंह को सात बहिनें थी । सात बहिनों की शादी सात भाईयों से हुई और वे अपने माइके छोड़कर अपने पतियों के साथ गये । उनके चले जाने के बाद राज्य में अकाल पड़ा, एक पंड़ित ने बताया कि यदि वे सात बहिनें वापस आकर नये पोखरे में बैठकर पूजा करे तो पानी आ जाएगा । बहनें अपनी देश की दुर्दशा के बारे में जानकर वापस आ गयी, और उन्होंने पूजा की लेकिन राजा ने बहनों को बलिदान देने का एक धोखा रचा था । प्रजा की रक्षा के लिए पानी में ही सात बहिनों की समाधी बन गयी । फिर भूपसिंह बहिनों की हत्या के दु:ख से जोगी वैरागी बना ।

गांव में प्रचलित लोककथाएँ हमारी सांस्कृतिक विरासत के रूप में एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक पहूँचती रहती हैं । जीवन की संवेदनाओं को मुखरित करने वाली ऐसी लोककथाओं का जीवन में महत्व है । गांव के लोगों में दर्शित संस्कृति के पीछे इसप्रकार के त्याग, प्रेम, विश्वास आदि से जुड़ी हुई लोक कथाओं क नींव है जो परंपरा से हस्तान्तरित करके आयी है । लोककथा जीवन की सच्ची अभिव्यक्ति होती है। इनसे एक ओर लेक मानस अपना मनोरंजन ग्रहण करता है तो दूसरी ओर कुछ शिक्षा भी ग्रहण करता है ।

मेला और त्योहार :

मेलों का हमारे सांस्कृतिक जीवन में अत्यधिक महत्व है । इन मेंलों में एक जगह पर ही हम विभिन्न संस्कृतियों को मिलते हुए देखते हैं । अत:

मेले भावात्मक एकता का प्रतीक भी है । मेले गांव की संस्कृति से अभिन्न रूप में जुड़े होते हैं। त्योहारों, पर्वों तथा सांस्कृतिक दृष्टि से महत्वपूर्ण अवसरों पर मेले आयोजित किये जाते हैं। आज "भारतीय ग्रामीण मेलों में सामाजिकता एवं सामूहिकता के स्थान पर वैयक्तिकता तथा ईर्ष्या की भावना समाविष्ट होती जा रही है "[1] मेलों का आकर्षण आजकल दिन प्रतिदिन घटता जा रहा है । मेलों की भीड़ के बीच आज सामूहिकता के स्थान पर बिखराव ही दिखाई दे रहा है । आज मेलों में गुण्ड़ागर्दी और लड़कियों से छेड़खानी एक साधारण सी बात बन गयी है।

मेलों की तरह त्योहार भी भारतीय लोक जीवन का विशिष्ट अंग है। भारतीय धर्म साधना के परिवेश में वर्ष भर अनेक त्योहार मानाये जाते हैं। ये भारतीयों के आचार-व्यवहार, रहनं-सहन, खान-पान, वेश-भूषा, लोक-विश्वास तथा कर्म काण्डों के परिचायक हैं। त्योहार अपने देश की संस्कृति के पोषक होते हैं । प्रत्येक त्योहार के पीछे कोई न कोई पौराणिक आख्यान है । भारतीय त्योहारों में होली, दशहरा और रक्षाबंधन का विशेष महत्व है । इसके अतिरिक्त जन्माष्टमी, रामनवमी, मकरसंक्रान्ति, शिवरात्रि, दुर्गापूजा आदि त्योहारों का महत्व भी कम नहीं ।

विवेकीराय ने 'सोनामाटी' में तीन तीन मेला प्रसंग आज के समाज के आइना के रूप में रेखाकिंत किये हैं । पंचकोसी मेला द्वारा युवापीढ़ी की दिशाहीन, उत्तरदायित्व हीन हरकत वीरदातों की पहचान, कामाख्याधाम मेले

---

1. सुभाषिनि शर्मा - स्वातंत्योत्तर आंचलिक उपन्यास - पृ - सं : 108

द्वारा हनुमान प्रसाद का बगुला भगत रूप और गंगा दशहरा मेला द्वारा बी.ड़ी.ओ के विकास कैम्प की भ्रष्टाचारी भूमिका की पहचान करायी गयी है। पर्वों की सार्थकता पर रामरूप प्रश्न चिन्ह लगाते हैं क्यों कि आज मुख्य धर्म नहीं है आज आदमी को धन चाहिए । रामरूप के अनुसार आज पर्व, त्योहार, मेला आदि सांस्कृतिक प्रक्रियायें वैज्ञानिक और राजनीतिक सभ्यता के धक्के से टूट रही है । त्योहारों के भीतर छलकनेवाली सब आनंद और जीवन सौन्दर्य अब नहीं है । सब आज नष्ट हो गये हैं।

मेलों में अब नई पीढ़ी को देखने को नहीं मिलता हैं। नयी पीढ़ी मेलों को मूर्खतापूर्ण लंफड़ा समझती है । क्यों कि "उनके पास बुद्धि है, ज्ञान है, विद्या है, डिग्री है, फिल्म है, राजनीति है, हुल्लड़ है, बेकारी है, आन्दोलन है औरप ऐसा बहुत कुछ है जो मेले से तगाड़ा है ।"[1] रामनवमी मेला का वर्णन भी इसमें है । रामरूप मानते है कि पर्व और त्योहार भारत की पहचान है और हमारे जैसे आधुनिक आदमी पर्वों से जुड़ते समय ही भारतीय लगता है । होली के समय महुवारी के सब लोग सारे दुःखों को भूलकर इसमें भाग लेते हैं । होली के आवसर पर तुलसी, सूर, कबीर, भीखा और बुलाकी आदि सन्तों के मार्मिक पद गाये जाते हैं । जब बिहार के मछुवारी गांव में होली के अवसर पर रंग से धरती लाल हो जाती है तो अन्य कुछ गांवें में रक्त से धरती लाल हो जाती है । क्यों कि लेखक गांव में घुसनेवाले नक्सलवाद की एक छोटी सी झलक देते हैं । महुवारी की होली की खुशी के साथ अन्य गांवों की होली को कभी लेखक अनदेखा नहीं करते ।

---

1. विवेकीराय - सोनामाटी - पृ. सं :38

'समरशेष है' उपन्यास में संतोषी पंड़ित को मेला पुराना जैसे नहीं लगता । "पुराने लोग गुज़र गये और उनके साथ सारी रौनक और भावभक्ति भली गयी । आब तो सारी चीज़ें परंपरा पालन भर रह गयी है। फिर ये परंपराएँ है कि पालन की जगह हम इन्हें ढो रहे है ।"[1] आजकल के सांस्कृतिक मेलों का हाल यही है। किसी के पास समय नहीं । सब अपने अपने ख्यालों में डूबे हैं । अब लोग होली के नृत्य गीत, टेलिविशन में देखते हैं । बिजली आ गयी है कुछ गांवों में इसलिए त्योहारों की खुशी टी.वी में देखकर और भी खुश हो जाता है । गन्दी राजनीति ने लोगों को जहाँ अकेलापन और संवेदनशून्यता दी है तो टी.वी के प्रति अत्यधिक रुचि ने त्योहारों का आनन्द छीन लिया गया है। शिवरात्रि, रामनवमि आदि त्योहारों का वर्णन भी लेखक ने इसमें किया है।

मेलों की रौनक बढ़ाने केलिए सिनेमा, नौटंकी, सरकस, दंगल, जादूगर, मदारी, चरख-हिंडोला, वारांगनाओं की महफिलें, विभिन्न प्रकार की वस्तुओं से सजी हुई दूकानें, होटल, बच्चों के लिए खिलौने की दूकानें आदि होती हैं । 'तकसीम' में डब्बक जगह लगनेवाले मेला का वर्णन है । भारत पाक विभाजन पूर्व गांव की स्थिति का वर्णन के साथ, मेले के साथ उन दिनों के लोगों का बर्ताव भी देखने को मिलता है। इसमें अलग ढंग के मेले का उल्लेख किया गया है। इस मेले में हिन्दुस्तान भर के लाखों लोग अपनी अपनी अकीदत पेश करने आते थे । गुंड़े बदमाश और अय्याश, जुआरी सब यहाँ जुड़ते थे। खुलेआम औरतों की खरीदी फरोख्त भी होती थी । इस मेले की ऐसी शोहरत

---

1. विवेकीराय - समरशेष है - पृ . सं : 312

थी कि फ्रंटियर के मुसलमान साल भर की कमाई एक दिन में वहां लुटाकर जाते थे।

'चाक' में बसंत पंचमी मेला का वर्णन है । इसमें होली से जुड़े छोटी छोटी लड़कियों के एक रिवाज़ का वर्णन किया गया है - होली के चार पांच दिन पहले से छोटी-छोटी लड़कियाँ अपने आँगन सजाती हैं । भंवर की छोटी बहन घरघूली बनाकर श्रीधर को दिखाती है। पंचरंग से घरघुली बनाते हैं । जब होलिका की जलन होती है तब सिंगाड़े जैसी घरघुली को भी जलाती है । उस समय सब बालक अपनी अम्मा, भाभी, चाचियों के संग गेंहूँ और जौ की बालें भूनेंगे । 'यह अन्त नहीं' में गाय-भैंस को खरीदने के लिए हरिहर क्षेत्र के मेला को अच्छा मेला बताया गया है । 'जहाँ खिले है रक्त पलाश' में सतबहिनि मेला का वर्णन है । सूर्योपासना के पर्व छठ-व्रत के दिन पलामू किले के पास फूलवारी मेला लगता है । छठ के गीतों से रातभर के लिए गुजांर हो उठता है जंगल । हर मकर संक्रान्ति को एक दिन का मेला लगता है कोयल किनारे।

'डूब' उपन्यास में अनेक सिंह के माध्यम से बारहमासे का वर्णन दिया गया है । बारह महीनों में होनेवाले त्योहारों का वर्णन और साथ साथ किस महीने कौन कौन सी फसल बोई जाती है इन सबका वर्णन भी उपन्यास में मिल जाता है । श्रावण महीने में चार त्योहार आते हैं श्रावणी तीज, नागपंचमी, रक्षाबंधन और हलछठी। इस दिन औरतें हल का जुता अन्न नहीं खाती पसाई के चावल खाती है या फल फलारी । भादों में जन्मष्टमी, फिर डोल ग्यारस, हरियाली तीज आती हैं जिस दिन औरतें उपवास करती हैं और झूले डालते है डाल डाल पर । कार्तिक में दशहरा, दीवाली, देवठानी ग्यारस आती है ।

देवाठानी ग्यारस़ के दिन से शादियों का लगन शुरू होता है। पूस में मकऱ संक्रान्ति आती है। वसंत पंचमी, शिवरात्री भी इसी महीने में आती है। फागुन महीने में होली आती है। रंग पंचमी के दिन से पांच दिन तक फाग ही फाग का उत्सव मनाया जाता है और इसी महीने आती है फाग की भैया दूजा। नवदुर्गा, रामनवमी, पूर्णिमा को हनुमान जयन्ती त्रयोदशी को महावीर जयन्ती इसी महीने में आती है । फिर बैसाख में अक्ति यानी भगवान परशुराम की जयंती है ।

होलिकोत्सव सामाजिक तथा सांस्कृतिक त्योहार है । इसे रंगों का त्योहार कहते हैं। होली त्योहार का जिक्र रामदरश मिश्र, मैत्रेयी पुष्पा, विवेकीराय, आदि उपन्यासकारों ने अपने उपन्यासों में किया हैं । गांव में फैली कलुषित राजनीति, ईर्ष्या, द्वेष, वैमनस्य, स्वार्थवादिता आदि इस त्योहार को कलुषित कर दिया है । 'बीसबरस' में दामोदर बीस वर्ष के बाद होली के उल्लास और मस्ती में डूबने के लिए विशेष रूप से आया है गांव । लेकिन लोगों को ऐसे त्योहार के प्रति उदासीनता की भावना को देखकर उसे आश्चर्य मिश्रित दु:ख होता है । होली के आवसर पर सम्मति गाड़ने की रिवाज़ है । परंपरा के अनुसार सम्मति गाड़ने की जगह गांव के चपरासी के इंजिनीयर बेटे के घर के पास है, लेकिन अपने खेत की हानी होने के कारण वह सम्मति को उखाड़ कर फेंक देते है । अब लोग परंपरा के नाम पर कोई बर्बादी सहने के लिए तैयार नहीं है। होली जलने के बाद रातभर चौताल गायन होता है । लेकिन आज के लड़कों को सिनेमा गीत ही मालूम है। शहर से लेकर गांव तक अब संस्कृतियों का उत्सव ठंडा पड़ गया है । 'इदन्नमम' झांसी में होली मनाने का ढंग धूम-धाम से चित्रित किया गया है ।

हिन्दू स्त्री समाज में गनगौर, गौरी जयन्ती, सावित्रि व्रत, मंगलागौरी की पूजा, नागपंचमी, रक्षाबंदन, दुर्गाष्टमी, उमा-महेश्वर आदि पर्वों का महत्वपूर्ण स्थान है । 'चाक' में अतरपुर गांव के लोग रक्षाबंधन को 'सनून' कहते हैं । विवाहित हुई बेटियाँ पहले सावन में मायके आती हैं । रक्षाबंधन के एकदिन पहले खजुरियाई पूजती है, पकवान बनाते हैं । बरसात में ही भुंजरियाँ बोयी जाती हैं और इसी दिन रक्षाबंधन निकाली जाती थी। मन्दा भी बऊ से भुंजरियाँ बोने के लिए हठ करती है । लोग आधा घड़ा फुड़वाकर गोबर मिट्टी भरकर उसमें बो देते है । राखी और भुंजरियों का त्योहार है रक्षाबन्धन।

औरतें करवाचौथ का व्रत रखती हैं । एक ज़माने में जाटों में करवाचौथ नहीं मनायी जाती थी । 'चाक' में अतरपुर ग्राम की पृष्ठभूमि पर करवाचौथ को लेकर गांव की स्त्रियों के पति की प्रतिष्ठां का वर्णन मिलता है। जब बहुएँ, लड़कियाँ अलिगढ़ हाथरस में जाकर सिनेमा ठेठर देखने लगी है, तब से इसका भी अनुकरण होने लगा । करवाचौथ से दीवाली तक पूरे बारह दिन हैं । दिवाली के दिन घर आँगन लीपते है, चौका-चूल्हा सहेजते है । पूरी पकवान का दिन है दिवाली । दिवाली के अवसर पर गांव में लोकनृत्य भी होता है । 'इदन्नमम' में सोनपुरा में इस अवसर पर नृत्य करने के लिए विंध्याचल में बसी जनजातियों के लोग आते हैं ।ये लोग गांव के हर एक द्वारपर जाकर नाचेंगे । जब ये नृत्य करते हैं तब सारे गांववाले प्रार्थना करते हैं । इसीप्रकार और एक लोकनृत्य का उल्लेख 'चाक' में किया गया है । संक्रान्ति के दिन गीत गाया जाता है । बिसुनदेवा उस वक्त अपनी मंडली बनाकर आकर गाते है । गांव में चम्पारन नामक एक व्यक्ति है वह होली के दिन नया रसिया

बनकर उस पर नाचता है । अखतीज त्योहार में आए बदलाव का भी उल्लेख इसमें है । गांव में किसी को त्योहार, नेग करने का फुरसत नहीं है।

ग्राम जीवन में त्योहारों का बहुत बड़ा स्थान है । पंजाब में बैसाखी और लोहड़ी दोनों प्रसिद्ध हैं । बैसाखी फसल का त्योहार है, जो कटाई के आरंभ का सूचक है । लोहड़ी शीतकाल के अंत का प्रतीक है । हर त्योहार की कुछ रीतियाँ है । त्रिकला उतरते ही गांव में लोहड़ी की गहमा - गहमी मच जाती है । नवरात्री में घर घर जौं और कनक की खेती बोकर नहा-धोकर दरिया पर स्नान कर औरत आलों में मिट्टी बिछा बीज बोती हैं । ईद और दशहरे की तिथियों के आने के पहले ही सब के दिल उत्साह से भर जाते हैं। ईद में सब को सेवइयां बांटी जाती हैं । शाम को शाहजी के घर में सब को भोजन फिर ढोल बजाकर राबिया मिरासी का गीत गाया जाता है ।

इसप्रकार मेले और त्योहारों को भारतीय संस्कृति में महत्वपूर्ण स्थान है । विभिन्न त्योहारों पर लगने वाले मेले ग्रामीण संस्कृति को ही आभिव्यक्त करते हैं । इन मेलों में दूर दूर देश के गांव के लोग मिलते जुलते हैं, गाते-बजाते हैं । इसप्रकार के मिलन हमारे दैनिक ज़ीवन की यांत्रिकता को भुला देता है । आंचलिक उपन्यासकारों ने मेलों के चित्रण द्वारा गांव की सामूहिकता को अभिव्यक्त किया है। लेकिन स्वतंत्रता के बाद समकालीन तक आते आते ग्रामीणों की बदली मानसिकता का रूप स्पष्ट नज़र आता है । आज के मेले अपना परंपरागत स्वरूप खोकर गुंड़ई के क्षेत्र बनकर रह गया है । मेलों के प्रति धार्मिकता नष्ट हो गई है, उसका स्थान भौतिकता तथा लौकिकता ने लिया है। ग्राम जीवन की बढ़ती हुई जटिलताओं, विषमताओं और समस्याओं

ने मेलों के राग-रंग को फीका कर दिया है । त्योहारों की स्थिति भी इससे भिन्न नहीं है । हमारे देश के अधिकांश पर्व और त्योहार हमारे कृषि तंत्र के साथ सम्बद्ध है। गांवों में त्योहार पहले अत्यधिक उमंग और उल्लास के साथ मनाये जाते थे, लेकिन अब यह उल्लास और उमंग धीरे धीरे क्षीण होता जा रहा है। जीवन की जटिलताओं ने व्यक्ति के मन को पूरी तरह तोड़ दिया है । मन की यह टूटन त्योहारों पर परिलक्षित होती है । होली, दीपावली, ईद, मुहर्रम आदि सांप्रदायिक झगड़ों के स्रोत बन गये हैं । हमारे त्योहारों में उपभोक्तावाद तड़क-भड़क दिखावा और फूहड़ता का समावेश होने लगा है । फिर भी जन जन का उनके साथ जुड़ाव और त्योहार मनाने की आस्था अद्‌भुत है। समकालीन आंचलिक उपन्यासकारों ने इन विसंगतियों को बड़े दर्द के साथ अपने उपन्यासों में उभारा है।

आर्थिक शोषण :

भारत का ग्रामीण अंचल आर्थिक रूप से सबसे अधिक पिछड़ा माना जाता है । किसानों की कृषि नीति ने कृषकों को ज़मीन्दारों का दास बना दिया। ग्रामांचल हमेशा शोषक वर्ग के अभिशाप से ग्रस्त रहे । शोषक वर्ग के अत्याचारों से पीड़ित शोषित जनता जिस त्रासदी को अधिक झेला वह आर्थिक शोषण था । उच्च वर्ग जिस ढंग से किसानों मज़दूरों का शोषण करते थे उससे किसानों की अर्थिक स्थिति दिन ब दिन बदतर हो रही थी। समकालीन आंचलिक उपन्यासकारों ने जिन गांवों और क्षेत्रों को अपने उपन्यास का विषय बनाया है उससे यह बात ज्ञात होती है कि भारत के गांवों की स्थिति स्वतंत्रता प्राप्ति के पचास साल बाद भी जैसी की तैसी है। आज

भी गांव में ऊँचे वर्ग भूमिहीन अवर्ण और पिछड़ी जातियों का शोषण करते हैं। स्वतंत्रता के पश्चात सरकार ने गांवों की गरीबी को दूर करने केलिए अनेक आर्थिक योजनाएँ बनायी जैसी - पंचवर्षीय योजना, ज़मीदारी उन्मूलन, जोतने बोतने वालों को भू-स्वामित्व, चकबन्दी, सहकारी योजनाओं की स्थापना, चरखा सेंटर, बांध योजना आदि । लेकिन स्वतंत्रता के पश्चात इतने सालों के बाद भी भारत के अस्सी प्रतिशत गांवों की सबसे बड़ी समस्या आर्थिक विषमता ही है । व्यक्ति चारों ओर आर्थिक दबावों, अनुभवों एवं विविध संगति - विसंगतियों के बीच पिस रहा है आर्थिक विषमता से जूझनेवाले गांवों में एक है करइल । 'सोनामाटी' में प्रधान रूप से दो वर्ग हैं । उच्च वर्ग के प्रतिनिधि पात्र हैं करइल के हनुमान प्रसाद करइल, महुआरी के बाबू दीनदयाल, चटाई टोला के नवीन बाबू आदि ये सब भूमिपति हैं, जिनका पूरे गांव पर आतंक है। दूसरे वर्ग निम्न वर्ग में रामरूप और सीरी भाई के साथ साथ छोटे किसान और भूमिहीन मज़दूर शामिल हैं, जो ज़मीन्दारी शोषण का शिकार बनते हैं । गांव की नारकीयता का मुख्य कारण आर्थिक शोषण है । भूमिपतियों के शोषण के कारण सामान्य किसान कड़ी मेहनत के बावजूद अभाव, गरीबी, और ऋण ग्रस्तता में छटपटा रहे हैं । इसके पीछे अंचल के ज़मीन्दारों की अर्थलिप्सा, स्वार्थपरता, कुटिलता और शेषक वृत्ति हैं । वे अपनी स्वार्थ पूर्ति के लिए साम - दाम, जंमीन हड़पना, गरीबों के खेतों से अनाज लूटना, गाली गलौच एवं मारपीट करना आदि रूपों में शोषण करते हैं ।

एक व्यंग्य कथा है - एक योगी ने एक लड़के को सम्मोहन करने पर उसने बताया कि वह पिछले जन्म में पापी था । उसके पहूँचते ही यमलोग में

हलचल मच गयी, और अन्त में निश्चय किया गया कि इस लड़के को भारतवर्ष में किसी गांव में जन्म दिया जाय । क्यों कि सबसे बड़ा नरक भारत के गांव है । सचमुच हम लोग इतने नारकीय हो गये है, 'समरशेष है' में संतोषी पंड़ित भी यही मानते हैं कि संसार में सबसे बड़ा नरक भारत के गांव में है । सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक सभी दृष्टि से हम गिरे हुए हैं । आज विवाह और व्यवसाय में कोई अन्तर नहीं है । दहेज के कारण पंडितजी कभी कभी अपने गांव छोड़कर पलायन करने की बात तक सोचते हैं । हज़ार के इर्द-गिर्द वेतन पाने पर भी अपने घर का कार्य, बेटी के विवाह के लिए दहेज की व्यवस्था आदि बटोरने में वे हार जाते हैं ।

ज़मीन्दारी टूट जाने पर भी उसके नख दांत कहीं टूटे नहीं हैं अब वे छिपाके रखते हैं । पढ़े लिखे शिक्षितं लोग गांव की अपने खेती सब कुछ बेचकर शहर में एक घर बनाकर वहाँ जीवित रहना पसन्द करते हैं । खेती से कोई लाभ न होने के कारण विराज अपनी हिस्सा बेचना चाहता है । गांव की गरीबी को दूर करने केलिए सरकर भिन्न भिन्न योजनाएँ बनाती हैं, पशुधन विकास केलिए होलस्ट्रीन, फ्रिजियन और जर्सी साँड़ लाते हैं । हमारी सरकार भूखे लोगों की भूख मिटाने के लिए साँड़ देती है । लेकिन इस विदेशी साँड़ को पालने के लिए अपनी भूख मिटाने से ज़्यादा पैसा खर्च करना पड़ता है । महाराष्ट्रा के नासिक, विदरभा, मध्यप्रदेश के शियोपुर, ओडिसा के कालहण्डी जैसे गांव किसानों की आत्माहूति के लिए प्रसिद्ध है । उत्तरभारत में होनेवाला गणेशोत्सव इसबार विदरभा में नहीं हुआ। विदरभा में ही नहीं सौ से ज़्यादा गांवों में इस साल कोई त्योहार नहीं मनाया। क्यों कि हर एक आठ घंडे में एक

एक किसान अपनी आर्थिक विषमता से मर रहा है और वह सरकार से दयावध के लिए प्रार्थना करते हैं । भूख से मरने वाले बच्चों को देखकर सरकार का कहना है कि वे लोग संस्कार शून्य हैं और बच्चों की संख्या ज़्यादा होने के कारण एक दो मरने पर भी कोई बात नहीं है। इन किसानों को आर्थिक सहायता करने के लिए सरकार ने किसानों को पशुधन का पाकेज दिया। लेकिन उस साँड़ को पालने के लिए दिन में साठ रूपये की आवश्यकता है । अगर उनके पास साठ रूपये हो तो वह दो दिन खुशी से रहेगा। ओडीसा के कालहण्डी के लोगों ने फूस गाय को न देकर अपनी भूख मिटायी और इसके फलस्वरूप बहुत किसान लोग मारे गये। किसान की आर्थिक विषमता दूर करनेवाले इसीप्रकार की योजनाएँ भारत के हर एक गांव में चलती रहती है इसके पीछे विदेशियों का हाथ है, लेकिन गरीब किसान ही हमेशा शिकार होता है । गांव की आर्थिक विषमता को सुराज से भी ज़्यादा जानकीनाथ को मालूम है क्यों कि वह एक श्रमजीवि किसान है। भोगनेवाला ही उसका सुख दुःख बता सकता है । सारा देश घोर विडम्बनाओं के दुश्चक्र में फंस गया है ।

'डूब' में अनेक शेषक है, उसमें एक है मोतीसाव । उसने किसानों की दुर्बलता को जानकर साहूकारी बढ़ाने की योजना की । किसानों के लिए यह तो खुशी की बात थी क्यों कि खलिहान से वे अपनी पूरी फसल अपने घर तक ले जा सकते थे, और मोतीसाव ने किसानों को इतनी रकम कर्ज़ में दिया ताकी वे पुराने साहुकार का हिसाब साफ कर सके। घर ले जाकर किसान पूरे अनाज को साफ करते हैं, उसे मालूम है कि अनाज का ज़्यादातर साहूकार ले जाएगा,

परंपरा से हटकर मोती साव व्याज देकर व्याज की अवधी ज़्यादा देते है । यह शोषण का विकसित या बदला रूप है।

गांव के प्रायः सभी किसानों, ठाकूरों और बानियों के खेत दो - दो जगह है। एक बसावट क्षेत्र के आसपास जहाँ कुएँ हैं, दूसरे खेत नदी के किनारे है, वहाँ कुएँ नहीं है । पहली फसल के बाद नदी में पानी न रहने के कारण कोई फसल नहीं बोई जाती, तब खेतों में उगनेवाले घनी घास छोटे किसान खुद ही काटते हैं। जिनके पास खेत खलिहान नहीं वे ठाकूर, बामनों के चारा काटते हैं। लेकिन बानियों से चारा काटने की जो मज़ूरी मिलती है वह ठाकूरों से नहीं मिलती । खासकर ठाकूर देविसिंह मज़ूरी देते ही नहीं हैं । चारा काटनेवालों को रोज़ के रोज़ नगद कलदार या फिर एक सेर अनाज और चारा काटने के बाद साँझ को घर जाता मज़दूर जितना सारा सिरपर ढोकरं ले जा सके उतना चारा ले जाने की छूट । कहने के तो सब कहीं यही मज़ूरी है पर मजूर को अनाज के नाम पर मिलता है कूटा - करकट । तौलते समय सेर की जगह आधा सेर, तीन पाव और चारे का गट्ठर बाँधते समय मालिक की न - नुकर के चलते सिरपर देने लायक गट्ठर की जगह पाता है काँख में दबाने लायक चारा । अगर अनाज देता है तो फेंककर देता है जितना उनके पास गिरता है वह अनाज उसका बाकि सब मालिकों का।

जब खेत में फसल नहीं बोयी जाती तब गांव वाले अपनी जीविका चलाने के लिए भूख से इधर उधर भागते रहते है । इसलिए बीडी बनाने के लिए तेंदू पत्ता तोड़ने के लिए भी जाते हैं । शुरू में गोराबाई और छोटे जातियों के लोग ही ये काम करते थे, बाद में छोटे किसान, काछी, ढीनर, सलैया यहाँ

तक की कुछ अहीर भी इस काम में जुट गए । बीडी बनाने वाले कारीगर को दूर से पहचाना जा सकता है । क्योंकि उसके पांव छोटे और धड़ बड़ा हो जाता है । रात दिन पालथी मारकर बैठने से ही ऐसा होता है । किसी का नाश होने पर ही किसी का नफा हो सकता है । बरसात के शुरू होते ही यह काम भी बन्द होता है।

सरकार बाँध के काम तेज़ी से करने के लिए बहुत दूर से मज़दूर लाने की कोशिश में है । स्थानीय आदमी तीज - त्योहार, शादी - ब्याह त्याग नहीं सकते इसलिए सरकार स्थनीय लोगों को काम कर नहीं रखते हैं । बहुत दूर से मज़दूरों को इसलिए लाते है कि वे सरलता से अपने घर न लौट सके। देश में आपात काल चलने के कारण सरकार ने दो हज़ार मर्दों को नसबंदी करवाने के लिए आदेश दिया, इसलिंए हीरासाव गांव आकर मुआवज़े के धोखा देकर उन लोगों का नसबंदी करवाया। बाँध बनाने की योजना से लाभ उठानेवालों की संख्या गांव में बढ गयी है। कोई गांव - गांव से आनेवाले अकाल के लिए अनाज इकट्टा करता है तो कोई ज़मीन खरीदता है। सरकार ने जगह के बदले जगह न देकर दो हज़ार रूपया देकर कहीं जाकर रहने को कहा। वहाँ से गांववालों के शोषण की प्रक्रिया शुरू होने लगी।

शासक वर्ग सत्ता में बने रहने के तौर तरीके ढूँढते रहते है। वे सार्वजनिक मंचों में जनता की उन्नति प्रगति तथा विकास की बातें करते हैं, लेकिन जनता के बजाय अपनी प्रगति एवं उन्नति के लिए कार्यन्वित रहते हैं । शासक वर्ग विकास के नाम पर इन बेचारों को लूटते हैं। एक प्रभातवेला में वे सुनते हैं कि गांव खाली कराना है, गांव में विकास आनेवाला है। लेकिन कई

बरस बीतने के बाद़ भी न गांव के लिए कोई विकास कार्य की सुविधा है, न उन्हें शीघ्र विस्थापित कर कहीं बसाया गया है। सैकड़ों गांवों की ज़िन्दगी इसतरह स्थगित है, मानो वे जीते हुए भी निर्जीव हैं। ये किसान हल में जुते हुए बैल हैं जो दूसरों के लिए काम करते हैं। लेकिन इनकी मेहनत का फल इन्हें नहीं मिलता। फसल सेठ, साहूकार ले जाते हैं इन्हें ज़िन्दगी भर भूखे नंगे रहना पड़ता है। शासकों पर अंध श्रद्धा प्रकट करने वाले किसान को शासक दोनों हाथ से लूटते हैं।

इस शोषण की कथा चलती रहती है । इसलिए 'पार' में वीरेन्द्र जैन ने इस बाँध के कारण पीड़ित राउतों की ज़िन्दगी का विस्तार से चित्रण किया है । खेरे के लोग बीजवा, गांजिया, पिरिया, टुकनियाँ, बुहारी, सूप, पंखी आदि बनाते हैं और गांव गांव में ये सब बेचते हैं । बदले में गांववालों से जो पाते है उसी से गुज़ारा करता है । गांववालों का शोषण दूसरे करते हैं, और इन लोगों का शोषण गांववाले करते हैं । शोषण का परिचक्र चलता रहता है। अब आधापेट राउतों के गांव के ज़रिए ही पलता है । खेरेवालों का डर है कि अब तो "भगवान ही पानी, हवा, उजियारा सब में कटौती की। अब ये हिस्सा बटाई को आन पहूँचे। हमरा न ऊपरवाले पर वश है, न उन पर"[1] अब बाँधवालों ने नदी का तल बढ़ाने केलिए मिट्टी के बड़े बड़े टीले खड़े किए है इसलिए पशुपालन का क्षेत्र बिगड़ गया है । भारतवर्ष में जन संख्या का पैतीस प्रतिशत हिस्सा पशुपालन पर निर्भर है कृषि पर नहीं । गांव में पशु को चरने के लिए

---

1. वीरेन्द्रजैन - पार - पृ. सं : 31

जगह न होने के कारण जंगल में गुस गया है । यह खेरेवाल़ों के लिए धमकी की बात है ।

घूरेसाव राऊतों के बीच खड़ा होकर उनके सामान बाज़ार ले जाकर बिकते है । बाज़ार में जिस चीज़ की मांग है वह चीज़ राउतों से लेकर जाते हैं और बड़े दामों में बाज़ार बेचकर उसका छोटा सा अंश ही राऊतों को देते है । गांव में हीरासाव ने धोखे से सब को ज़बरन नसबंदी करवाया था तो राउतों को घूरेसाव ने नसबंदी करवाया। सब ने राऊतों को काम दिलाने का वादा देकर चंदेई लेकर सारे मर्दों को नामर्द बनाया । खेर की स्त्रियों को भी बाज़ार ले जाकर बेचते हैं घूरे साव। ग्रामीण सरकार ने खेतों का मुआवज़ा तो दे दिया लेकिन सरकार के काम न आने के कारण गांववाले खेत पर जोतते बोते रहे। हर फसल के समय सरकारी मुलाज़िम कानून डंडा लेकर हाजिर हो जाते है, कहते है कि खेत सरकार के होने के कारण आधा हिस्सा फसल सरकार का है । गांववालों को शोषण करनेवालों में ज़मीन्दार, ठेकेदार, पूँजीपति, साहूकार आदि है । लेकिन इन लोगों के ऊपर की दर्जा सरकार को देना चाहिए । अपनी प्रजा की गरीबी दूर करने वाला राजा ही प्रजा को गरीब बनने के लिए मज़बूर करता है ।

'तकसीम' में जीवणमल, गणपत और गुपालशाह जैसे साहूकारों के हाथ में था थोह मार्हम खाँ गांव । ये लोग सुविधा में रहने के लिए शहरों में जाकर रहते हैं लेकिन हाड़ी की फसल कटाई और अगाही के दिन गांव वापस आते हैं । इनका डर हैं कि इनकी अनुपस्थिति में हाली मुज़ेरे सारी फसल अपने घर में छिपायेगा । थोहा के अधिकतर भूमि हिन्दू - सिक्ख साहूकारों के

हाथों में थी । साहूकार किसी पूँजी लगाए बिना मालिक बना रहता था । शोंकार गांव में आटे में नमक के बराबर भी नहीं था लेकिन सारी आर्थिक शक्ति इनके हाथों में सिमटकर रह गई थी । जिसके पल्ले पर छह रूपए हैं वह साहूकारी कर सकता था । हिन्दू पाक विभाजन के पहले की बात ही लेखक ने चित्रित किया है । चप्पा चप्पा ज़मीन साहूकारों के चंगूल में थी । मुज़ेरे बस बटाई के अधार पर खेती करता था । पीढ़ी-दर-पीढ़ी यह स्थिति नहीं बदलती थी।

'चाक' में रंजीत पहले अपने को किसान मानकर बड़ा गर्व करता था और उनका पूरा विश्वास था कि भारत में आधुनिक किसान का राज आएगा। शहर से रंजीत के जेठ दलवीर के आने के बाद वह बदल गया । वह शहर जाकर व्यवसाय करना चाहता है, खेत बेचकर उस पैसे से प्लोट खरीदकर फिर नफे में बेचने का धंधा शुरू करना चाहंता है । क्यों कि करोड़पति बनने की चाह उसके मन में है । वह गांव में इसलिए रहना नहीं चाहता कि गांव में लोग दूसरों की तहकीकातों से जुटे रहते हैं । जब उसने मछलि पालने का निश्चय किया तब लोगों ने उसे ऐसा देखा था जैसे उन्होंने कसाई खाना खोला हो । गांव में व्यापार का कोई माहौल नहीं था। गांव में वे ही लोग रहते हैं, जो कर्ज पाकर गहरी नींद सो सके । अतरपुर गांव भी साहूकारों के पंजों से मुक्त नहीं था।

'ज़िन्दगीनामा' में भी गांववालों का शोषण करनेवालों में मुख्य साहूकार ही है। ग्राम जीवन की आर्थिक स्थिति कृषि पर निर्भर रहती है। स्वतन्त्रता पूर्ति के पूर्व भारतीय किसानों का जीवन ऋण में डूबा हुआ था। आज का किसान अपने अधिकारों के प्रति जागरूक दिखाई पड़ता है। लेकिन अब भी ऋण से किसानों की मुक्ति पूर्ण नहीं हुई है। स्वतंत्रता प्राप्ति के पहले

ज़मीन्दारी प्रथा प्रचलित थी। शाहजी गांव का ज़मींदार है । कई परिस्थितियाँ किसान को शाहजी से ऋण लेने को बाध्य करती हैं । सारे किसान उसके ऋणि हैं । शाहजी खुद अपने को दयालू और गांववालों का संरक्षक मानते हैं । लेकिन कर्ज और सूद के मामले में वह दूसरे पूँजीपतियों से भिन्न नहीं है। गांव में ऐसे भी कुछ शब्द हैं जो शाहों के विरुद्ध उठते हैं। लेकिन किसी न किसीतरह इन्हें दबा दिया गया है। गांव में पढे लिखे केवल शाह परिवार के लोग ही होते हैं वे ही दिमाग और तकदीर की बात कहकर किसानों में उठे विवादी स्वरों को दबाते हैं। शाहजीने गांव के रक्षक का चोला पहनकर गांववालों का शोषण करते ही रहते हैं । कृषक और ज़मीन्दारों के संबन्ध में निहित स्वार्थ भाव को जाट किसानों और ज़मीन्दार शाहजी के माध्यम से अभिव्यक्त किया है। किसान दिन-रात परिश्रम करते हैं और लाभ ज़मीन्दार को मिलता है। उनके अपने खेत शाहों के पास ऋण को बोझ से दबे हैं, जिन्हें वे अपना नहीं कह सकते।

'इदन्नमम' में क्रैशरों की हदबन्दी में आये किसान लोगों की दुर्दशा और उनके रक्त चूसकर उससे लाभ उठानेवाले ठेकेदारों का चित्रण मैत्रेयी पुष्पा ने किया है । बाहर से आए आदमी सोनपुरा में ज़मीन से पैसा खोद रहा है । पहाड़ों की चट्टानों से धन काट रहा है, लेकिन मूलनिवासी के सामने एक दर्शक मात्र बनकर खड़े हो जाते है । "आक्रोश भरी भूखी निगाह बड़ी खूँखार होती है जब उसे छल - बल से कुचल दिया जाता है तो दीनता का जन्म होता है या बगावत का। लेकिन आवेश की जगह आत्म दया ने ले ली" गरीब व्यक्ति

---

1. मैत्रेयीपुष्पा - इदन्नमम - पृ. सं : 195

दीन, और निर्बल होता है । जुझारू क्षमता का क्षय होने के कारण संतोषी भी। ये लोग लड़ने मरने का साहस गंवा बैठे हैं । बस किसी भी तरह जीना चाहते हैं।

मन्दा लोगों की समस्याओं की चर्चा रामायण बाँचते वक्त करती है । गांव के सब लोग किरोसन की बात को लेकर परेशान थे । वे चाहते थे कि हर खेत में किसी के यहाँ मेहनत - मज़दूरी मिल जाए तो आधा दिन ब्लास्टिंग के चक्कर में निकल जाएँगा। ब्लास्टिंग में बलदेव की मौत हुई थी लेकिन कोई भी नहीं लड़ा। गांववालों का अपनी ही ज़मीन पराई अमानत हो गयी थी । सदियों से खड़ा पुरखे सा पहाड़ अब अपने नीचे बसे किसानों को ही खाने लगा है वे लोग इतने गरीब हो गये कि चूल्हों की आग को बजरी डालकर बुझ देते थे । गांव में आज व्यापारियों की नींव पड़ी है । धीरे धीरे वे अपनी जड़ें गांव में जमती जाएँगी । पहाड़ का काम दो सौ साल तक होगा। इसलिए मन्दा ने गांववालों को जागने को कहा नहीं तो इन पहाड़ों को आनेवाले दिनों में इन व्यापारियों के औलाद खाएँगे । मन्दा ने सारे ठेकेदारों के पास जाकर मज़दूरी करने के लिए अवसर माँगा । जिस ज़मीन पर जन्मे है उसी ज़मीन में पसीना बहाने के अवसर के लिए गांववाले ठेकेदारोंसे भीख माँगते रहे । गांव के सबसे बड़ा शेषक अभिलाखा राउतों को जंगल से मज़दूर बनाकर लाया था । मन्दा ने गांववालों के संगठन से पैसा इकट्टा करके ट्रैक्टर खरीदा । फिर धीरे धीरे गांव का चेहरा बदलने लगा। इसीप्रकार के संगठन द्वारा गांववाले अपने ऊपर होनेवाले किसी भी शोषण का विरोध करके उसका नाश कर सकते हैं।

इसप्रकार समकालीन आंचलिक उपन्यासों में वर्णित विभिन्न अंचलों में व्याप्त आर्थिक विषमता और शोषण से यह बात स्पष्ट होती है कि भारतीय

गांवों का चकाचौंधवाला बाह्य स्वरूप सच्चा नहीं है । उसके भीतर सिसकती मानवता का दयनीय स्वरूप अपनी आर्द पुकार से समाज की सच्चाई को उघाड़ने का प्रयत्न कर रहा है । ईमान्दारी का भाषण मंचों पर देकर बेईमानी को अर्थ प्राप्ति का एकमात्र साधन मानना आज की सभ्यता की नंगी विभीषिका है। आर्थिक शोषण से मुक्त एक समाज का सपना भारत के हर एक इनसान के दिल में है । यदि कोई विकास लाना हो तो गांव से शुरू करना चाहिए और न कि शहरों के विकास के लिए गांव को शिकार बनना न पड़े । पिछड़े अंचलों का विकास जब होगा तब हमारा देश प्रगति के पथ पर होगा ।

जातिगत शोषण :

भारतीय समाज में जाति - व्यवस्था सदियों से चली आ रही है । प्रारंभ में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चार वर्णों में बंटा हुआ भारतीय समाज कालान्तर में कई जातियों और उपजातियों में विभक्त हो गया। भारतीय स्वाधीनता के पचास वर्ष पश्चात आज भी जातिवाद जैसे का तैसा है। ग्रामीण समाज में एक एक मुहल्ला जातियों के आधार पर बना होता है, रूढ़ीवादी मानसिकता के कारण गांवों में उच्च जाति के लोग निम्न जातियों का शोषण करते ही रहते हैं । जातिगत संबन्धों का आधार पारंपरिक जातिस्तर के साथ आर्थिक स्तर भी है । परंपरागत ढंग से सबसे ऊँची जाति ब्राह्मण है, फिर क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र क्रम से आते हैं । शूद्र सवर्णों को छू नहीं सकता, उनके कुए से पानी नहीं भर सकता, उनके समने किसी ऊंचे आसन पर बैठ नहीं सकता। इन शूद्रों के साथ सवर्णों का स्नेहमय संबन्ध तभी तक होता है जब तक वे उनकी हर इच्छा और आज्ञा का पालन करते रहे । लेकिन वे

परंपरागत रास्ते से थोड़ा भी हटते हैं तो टकराहट शुरू हो जाती है और उन्हें अधिक यातनाएँ झेलनी पड़ती हैं। एक ही गांव में अलग अलग जातियों के लोग एक साथ रहते हैं तो प्रयः खेती - बाड़ी की दृष्टी से ठाकूर या भूमिहार संपन्न होता है । वैश्य अपने व्यापार के नाते समृद्ध होता है, और ब्राह्मण गरीब होने के बावजूद भी जाति के आधर पर पूज्य होता है। इसलिए इनमें व्यक्तिगत कारणों से तो टकराहट होती है लेकिन सामूहिक ढंग से नहीं। जब किसी आपसी मतभेद आते है तब सब लोग शूद्रों के विरुद्ध एक हो जाते हैं।

आंचलिक उपन्यासों में जहाँ एक और जाति व्यवस्था और वर्ण व्यवस्था के परंपरागत रूप को चित्रित किया गया है वहीं दूसरी ओर इस पतनोन्मुख व्यवस्था के खिलाफ नयी चेतना की सुगबुगाहट की उपस्थिति भी दर्शायी गयी है । जातिं व्यवस्था को बनाये रखने में जहाँ एक और उच्च कही जाने वाली जातियों के वर्ग हित सक्रिय हैं तो दूसरी और भारतीय जीवन विशेषतः ग्राम्य जीवन पर धार्मिक विश्वासों की मज़बूत जकड़ भी इसके लिए उत्तरदायी है। विभिन्न आंचलिक उपन्यासों में विभिन्न अंचलों को आधार बनाया गया है, जिनमें भिन्न भिन्न जातियों का प्रभुत्व है । जातिगत असमानता ही शोषण का प्रमुख कारण है। समकालीन आंचलिक उपन्यासों में हम जातिगत शोषण के साथ साथ उसके खिलाफ उठनेवाले आक्रोश भी देख सकते हैं । 'डूब' में घूमा को अट्टूसाव से पता चला कि सरकार ने लंबरदारी ज़मीन्दारी समाप्त कर दी है । सरकार ने फैसला किया है कि जो जिस ज़मीन को बोता है उसका मालिक भी वही । देश में न कोई ऊँच जाति होगी न नीच । सब एक बराबर होगा । सब को मन्दिर जाने का हक होगा, सबको अस्पताल से

दवा दारू मिलेगा, एक ही कुँए से पानी पीने और लेने का हक़ होगा। मूल निवासी होने के नाते लोगों को ज़मीन आसमान पर हक है। लेकिन यह सब सुन्दर स्वप्न है "यह तो केवल किस्से कहानियों में मुमकिन है कि जनऊर और बकरिया एक घाट पानी पिएँ"[1]

मोतीसाव जैसे ऊँच जाति के लोग चाहते हैं कि कोई ससुरा जात - कुजात बानियों के आगे सीना तान के न चलने पाए। इसकेलिए वे नीचे हद तक गिरकर उनका शोषण करने के लिए तैयार हो जाते है। किसी भी साव या ठाकूर के घर में तो मज़दूर घुस नहीं सकता था सो देहरी के बाहर अपना कपड़ा बिछा देता है। देहरी की दूसरी तरफ से साव या साउन, ठाकूर या ठाकुराइन, महाराज या महाराजिन सेर का बर्तन भर भरकर अनाज फेंकते रहंते हैं, इस फेंका फेंकी में जितना देहरी के जिसतरफ गिर जांए वह उसी का होगा। वे लोग इतना चतुर हैं कि इनके द्वारा फेंका गया अनाज ज़्यादा से ज़्यादा उन्हीं के पाले में गिरता रहता है। लेकिन मझले साव के घर में इसप्रकार की बेईमानी नहीं होती । अट्टूसाव सेर भरकर पूरी सावधानी से ठीक कपड़े के ऊपर बिखेरते है ।

प्रतिरोध का स्वर निकला सिर्फ घूमा के मूँह से वह भी अट्टू साव के प्रयत्न से वह मज़ूरी नगद कलदार में मांगा। घूमा के साथ उनके जाति के लोग भी थे । ठाकूर सोच भी नहीं सकते थे कि इन लोगों में इतनी हिम्मत होगी वह चमारों के बीच से माफी माँगने की प्रतीक्षा में था, ऊँचे लोग नीचों को अपने

---

1. वीरेन्द्रजैन - डूब - पृ. सं : 65

पैरों के नीचे दबाके रखना चाहते हैं । लेकिन उनके बीच से किसी ने भी माफी नहीं मांगी । ठाकूर ने वहाँ बड़े नरम से पेशा, बाद में टपरा टपरा घुसकर सारे लोगों को तहस नहस किया। ऊँचे लोगों का वैर्य का शिकार भी नीच जाति के लोग होते हैं । ठाकूर से बदला लेने केलिए मोतीसाव ने घूमा को मोहरा बना दिया था। घूमा से कहकर मोतीसाव ने केस दर्ज किया और इसी सिलसिले में घूमा और गांववालों को चंदेई जाना पड़ा। लेकिन ठाकूर ने केस ऐसा दर्ज किया कि वह अपनी आत्मरक्षा के लिए लोगों पर प्राहर किया था और घूमा के भाई प्रहार से नहीं किसी रोग के वजह से मरा था। ठोस सबूत न मिलने की वजह से ठाकूर ने बेगुनाह घोषित किया । हमारे कानून की मुट्टी इतनी ढीली है कि उसके बीच से अन्याय करनेवाला आसानी से बाहर आता है ।

जाति-व्यवस्था ग्रामीण सामाजिकं व्यवस्था का प्रमुख आधार स्तंभ है। गांव में लोग पहले व्यक्ति के नाम पूछने के बाद जाति पूछते हैं। जब रामदुलारे से किसी गांववाले जाति पूछने पर रामदुलारे को मालूम नहीं वह किस जाति के है, हिन्दू है लेकिन अहीर, लुहार, बामन, बनिया, इनमें से किस जाति के अन्तर्गत है यह उन्हें मालूम नहीं । रामदुलारे तो ब्राह्मण और अहीरन के वीर्य से जन्मा है, लुहारिन ने दूध पिलाया, सलैया ने अपनी बाखर में शरण थी, बनिया ने उसकी परवरिश की और अब ठाकुराइन ने उसे ठाकुर चुना तब हम रामदुलारे को किस जाति का कह सकते हैं।

'पार' आदिवासी जीवन के व्यथा संसार पर केन्द्रित एक स्वतंत्र उपन्यास तो है ही परिवेश और प्रस्थान बिन्दू की समानता के चलते वीरेन्द्रजैन के पूर्व उपन्यास 'डूब' का पूरक भी है, और आगे का इतिवृत्त भी । गांव में

कैलाश ने यह प्रचरित किया कि रामदुलारे बसेर की औलाद है, इसलिए उनकी पत्नी ठाकुरानी होने पर भी नीच हो गई है। कोई भी ठाकुराइन के साथ संसर्ग नहीं रखते हैं । यशस्विनी को कुएँ से पानी तक छूने का अधिकार नहीं देता। छुआछुत का संप्रदाय फिर से पैठने की कोशिश में है कैलाश । गांव के लोग अशिक्षित है, धर्म का उनपर बहुत प्रभाव होता है । इसलिए भगवान के पुजारी कैलाश महाराज कुसंस्कार के होते हुए भी उनपर विश्वास करते हैं, इसलिए उनकी हर बात को वे लोग पालन करते हैं । जाति का नाम बताकर भोले गांववालों का शोषण करने वालों की संख्या आजकल बहुत है, धर्म, जाति आदी की पकड़ गांववालों में ज़्यादा होती है।

'चाक' में चित्रित अतरपुर गांव बड़ा नहीं, कुल आबादी एक हज़ार ब्राह्मण, बनिया, जाट, ऐसी ऊँची कही जाने वाली कौमें है तो तेतेली, गड़रिया, मुम्हार, खटीक, चमार और नाई जैसी छोटी जातियाँ और सक्का मुसलमान भी हैं । आज़ादी के दस वर्ष बाद तक गांव में जातिविधान अपने कर्म विधान से जुड़ा रहा । गांव में जो सक्का मुसलमान है वे नम्बरदार के एहसान में दबे है । जब पाकिस्तान बनने पर मुसलमानों को खदेड़े जाना पड़ा तो नम्बरदार ने उनके धर्म पिता बनकर सबको बचाकर नाम बदल दिया और घोषित किया कि गांव में कोई मुसलमान नहीं सब हिन्दू हैं । बानियों को धर्म, कर्म कुछ नहीं होता उसका माँ बाप पैसा होता है।

भवानीदास और नंबरदार के दो वैश्य घरों ने अतरपुर गांव का इतिहास पलटकर रख दिया । क्यों कि गांव में वे अपनी जड़ें मज़बूत करना चाहते थे । उन्हें अच्छी तरह मालूम है कि आदमी को कमज़ोर करना है तो

उसके जातिगत संस्कारों को आहत करना है। प्रधान सिर्फ जाति की उन्नति के लिए ही रंजीत और थानसिंह के बीच मैत्री कराना चाहता है । क्यों कि दोनों जाट जाति को हैं । यदि दोनों झगड़ा करेंगे तो एकता नष्ट होंगे और बानिया इस अवसर का लाभ उठायेंगे। बानियों की शान्तता को प्रधानजी कुंभकर्ण से किया है । जाट जाति के लोग मानते है कि वे ही अतरपुर के मूलनिवासी है, इसलिए गांव पर पूरा मलिकाना उनका है । बनिया को वे लोग गांव में परदेसी मानते है । प्रधानजी रंजीत को समझाते हैं कि अपनी ही जाति के ऊपर वार करने वाला ही बड़े मूर्ख होते हैं । प्रधानजी चुनाव को ध्यान में रखकर इन लोगों के बीच जाति की बात कहकर मित्रता लाना चाहते हैं। राजनीति में चलनेवाला अच्छा मोहरा है जातियता । जाति के नाम कहकर राजनीति के बड़े बड़े नेता लोग छोटी जाति के नोगों को पैसा, धारू देकर शोषण करते रहते हैं।

छोटी कौम बड़ी कौम का नारा गांव में ही लगाया जाता है । शहरों में सब बराबर हैं । शहरों में कोई नहीं पूछता कि तू पंड़ित है या भंगी, गांवों मे ही छुआछुत की लकीर पीटी जा रही है । यह तो हम सभी जान गए हैं कि दबने, दबाने वाले का रुतबा जाति के आधार पर नहीं, धन, पावर और सत्ता से चलता है । श्रीधर बालकों को लेकर एक नाटक खेलता है एकलव्य का उसमें उन्होंने यह दिखाने का प्रयास किया कि ब्राह्मणत्व राजत्व की छाया में पलनेवाला दास ही था आज भी हालत बदली नहीं है। जाति बिरादरी आजकल राजनीति का मुद्दा ज़्यादा बनी हुई है । इस भेद को सान चढ़ाया है उन नेताओं ने जो शहर की हवा खाया है । शहरी लोग खुद तो जाति पांती के चक्कर में पड़ते नहीं, अखबारों के ज़रिए गांवों में चिन्गारियाँ छोड़ते रहते हैं।

'इदन्नमम' में चित्रित श्यामली गांव की स्थिति जाति की दृष्टि से अन्य अंचलों से बिलकुल भिन्न है। श्यामली के रहन - सहन अलग ढंग का है । भजन, कीर्तन की शुरूआत स्वाभाविक ढ़ंग से पहले पंडित पूजारी करते हैं, लेकिन श्यामली गांव में कीर्तन की शुरूआत बसेर का मीठू ही शुरू कर देता है । चमार ही ढोला बजाता है । कीर्तन भजन में हर गर का एक जना आते है "कोई देख ले तो जात में से डार न दे उन्हें धन्न है दे दादा के राजा श्यामली गांव । गांधी जुगा ले आये है।"[1] अवर्ण सवर्ण सब एक चमार बसेरे से पारहेज नहीं । ब्याह - कारज तक में चमार टोला की पंगत सबसे पहले बैठते हैं, फिर लोध, कुरमी, यादव, छत्री और पूजारी सब एक साथ बैठते हैं । एकता है इन लोगों में । श्यामली के लोग तो माला के मनकों की तरह है, लेकिन इससे बिलकुल भिन्न स्थिति है सोनपुरा में, धरती आसमान का अन्तर है । वहाँ आज भी बसेर बड़ी जात के कुएँ पर नहीं चढ़ता । चमारों के लिए कुएँ गांव के बाहर है । श्यामली गांव को एक आदर्श गांव के रूप में लेखिका ने चित्रित किया है । उसके पीछे रामराज की संकल्पना भी हो सकती है । बिना जाति पांत के, एक समान रहनेवाले लोगों का समाज सिर्फ लेखिका का ही सपना है। क्यों कि इसको असफल बनाने वालों की संख्या ही ज़्यादा है।

भारतीय समाज में जाति एक ऐसी सच्चाई है जिससे कतराना असंभव है । परन्तु जातियों से जुड़े कई मिथक भी हैं । बदलते सामाजिक समीकरणों के तहत ऐसे कई मिथक अब टूट रहे हैं । जैसे सामंत और शोषित की, आदिम परिभाषाएँ ही बदल रही हैं । सामंत शब्द अब मात्र सवर्ण का

---

1. मैत्रेयीपुष्पा - इदन्नमम - पृ. सं :36

पर्यायवाची नहीं रह गया है बल्कि एक मानिसकता का प्रतीक बन चुका है । उस बदलती मानसिकता का सच्चा चित्रण मिथिलेश्वर ने 'यह अन्त नहीं' में किया है । शोषण की प्रक्रिया श्रवणसिंह के घर से शुरू होता है । मालिक लोग अपने घर के नौकरों को छोटी जाति के होने के कारण बहुत सताते हैं और एक यन्त्र की तरह उसके साथ बर्ताव करता है । इन लोगों के खाने का दान्त और दिखाने का दांत और होते हैं । इस उपन्यास में आनेवाले तीनों गांवों में जाति एक प्रमुख कड़ी है । खवासड़ीह गांव से कहानी शुरू होती है वहाँ हम प्रत्यक्ष रूप से दो टोलियों को देख सकते हैं - बड़टोली और नन्ह टोली । बड़टोली में सवर्ण सामन्त समुदाय के लोग रहते हैं तो नन्हटोली में कहार, जोतदार, चमार जैसी छोटी जाति के लोग । वर्ण विभाजित इन गांवों की तस्वीर मिथिलेश्वर के शब्दों में कुछ इसप्रकार है - "प्रभाव और संपन्नता की दृष्टि से बड़टोली की तुलना में नन्हटोली अपने नाम के अनुकूल ही पिछड़ी थी ।.....बड़टोली के लोगों की जीविका के मुख्य स्रोत उनके खेत थे, मगर नन्हटोली के लोगों की जीविका रोज़ मज़दूरी, बनिहारी, चरवाही और अपने जातिगत पेशे पर अवलंबित थी।"[1]

खवासड़ीह गांव के इतिहास में यह पहली बार हुआ था कि प्रजा और राजा, मालिक और बनिहार सीधे सीधे एक दूसरे के आमने सामने हो गए थे। प्रजा की जीत हुई थी। वह अप्रत्याशित सफलता छोटी टोली के लोगों में एक जुट होकर काम करने का हौसला हो गयी। अब उन्हें मालूम है कि अपने हक

---

1. मिथिलेश्वर - यह अन्त नहीं - पृ. सं : 194

एवं अधिकार के लिए मर मिटने में पीछे नहीं रहना है । जातिवाद के कारण गांव में इज़्जत बचाके रहना मुश्किल हो गया है । लोग अपनी जन्मभूमि को छोड़ना भी नहीं चाहते । यह स्थिति सिर्फ इस गांव की ही नहीं बल्कि पूरे गांव की है । जिस गांव में जिस जाति की संख्या ज़्यादा है, और धन बल है तो उस गांव में उसी का चलावा है । लोग हमेशा अपनी ही जाति के लोगों के साथ रहना चाहते हैं।

रघुनाथपुर में आने या जानेवाले से प्रायः हर राही बटोही से रघुनाथपुर वासी यह ज़रूर पूछते है कि 'किस जाति के है' ? जवाब उस आगंतुक द्वारा अपनी बिरादरी बताने के बाद ही पूछनेवाले उसके प्रति अपना व्यवहार निर्धारित करते थे । अगर वह पूछनेवाले की बिरादरी का होता तो वे उसके प्रति आत्मीयता का रूख प्रकट करते हैं अन्यथा उसे दूसरी बिरादरी का जानकर टरक देते थे । लेकिन अब स्थिति बदल गयी है । फिर भी गांव में पहचान का एक जबर्रदस्त माध्यम यही था । बाहर से देखनेवालों को बड़टोली और नन्ह टोली के आधार पर रगुनाधपुर में बड़ी और छोटी दो ही जातियों का बोध होता था । लेकिन अन्दर की स्थिति और कुछ थी । बड़ी और छोटी जातियों के बीच भी ऐसी अनेक जातियाँ थीं जो जातिगत धरातल पर एक दूसरे से बड़ी और छोटी की दूरी बनाकर जीती थी । बड़ी जातियों के ब्राह्मण, राजपूत और भूमिहार आपस में यह तय नहीं कर पाते कि उनके बीच बड़ा कौन? और छोटा कौन? इसी भांति छोटी जातियों के बीच भी पर्याप्त जातिगत दूरियाँ थीं । कोइर, कुरमी, यादव और बनिया और अन्य छोटी जातियों डोम, चमार, दुसाध से अपने को पृथक महसूस करती थीं ।

बिहार और झारखंड में आज भी जातिवाद चरम सीमा पर है। इसका ज़िक्र राकेशकुमार सिंह ने अपने उपन्यास 'जहां खिले है रक्त पलाश' में किया है । जलगांव में ब्राह्मण लोगों का राज था। नन्दू घटवार के हाथ से एक ब्राह्मण की हत्या होती है तब सत्तो गुरुजी उसे भाग जाने को कहते हैं, क्यों एक मल्लाह के हाथ ब्राह्मण पर उठना तो सवर्ण लोग सह नहीं कर सकते थे । गांव में आदिवासियों को मंदीर में घुसने का अधिकार नहीं है। जदंगलदस्ते के भीतर भी जातिवाद के कारण टकराव होता है । दस्ता का उद्देश्य है क्रांति के द्वारा सांमती वर्चस्व का ध्वंस। कल तक बड़ी जातियों के ज़मीन्दारों द्वारा हुए शोषण के खिलाफ जंगलदस्ते आवाज़ उठाते थे । दस्ता चाहते थे कि सामंतों की जननियाँ भी उनके खेत में रोपने-काटने के लिए निकले, तभी पता चलेगा कि पुश्तों से छोटी जातियों ने कितना पसीना बहाया है और कितना खून बहाया है । लेकिन फगुनिसिंह जैसे सामन्ती धनपतियों के आगे दस्ते के सिद्धान्त ढीले पड़ जाते हैं । सामंती जात नहीं होती । सामंती होती है करतूत। "कल तक बड़ी जाति के लोग डरते थे, मरते थे। पुराने दलितों का नये ढलनेवालों में कायांतरण हो रहा है। शोषित अब शोषक बन रहे है।"[1] पहले राजपूत, बामन, भूमिहार और कायस्थ सामंत थे। अब कोयरी, कुर्मी, यादव, पासी जातियाँ बदल गयीं। पर सामंती व्यवस्था तो नहीं बदली। वही ताकत, मूँछ और बंदूक का राज। बस चेहरे और हाथ बदल रहे हैं।

नीच जाति में जन्म लेनेवाला व्यक्ति कितना ही योग्य, विद्वान और धनवान क्यों न हो , उच्च वर्णवालों के साथ सामाजिक संबन्ध स्थापित नहीं कर

---

1. राकेशकुमार सिंह - जहां खिले है रक्त पलाश - पृ . सं : 168

सकता था। सामाजिक और धार्मिक असमानता के अतिरिक्त आर्थिक विषमता भी जातिगत शोषण के कारण उत्पन्न होती है। यदि निम्न जातियां आपसी ज़ात - पांत को भूलकर एक हो जायें तो निश्चित रूप से ऊपर उठ सकती हैं । विभिन्न अंचलों में व्याप्त जातिगत शोषण का विस्तृत विवेचन से इस बात का पता चलता है कि अंचलों में भिन्नता है लेकिन शोषक और शोषित का रूप विभिन्न अंचलों में एक जैसे ही हैं। अब शोषक के खिलाफ उठानेवाली आवाज़ों में ज़ोर आ गया है।

दलित शोषण :

भारतीय सामाजिक व्यवस्था में जाति और धर्म का मुख्य स्थान रहने के कारण शोषक - शोषित का अस्तित्व भी जाति और धर्म पर आधारित बन गया। पूँजी और उत्पादन पर स्वामित्व रखनेवाले ऊँची जाति के लोग शोषक वर्ग में आते थे, केवल श्रम को पूँजी माननेवाला ही शोषण का शिकार बन जाते थे। स्वाभाविक रूप से निचली जाति के लोग ही शोषण के लिए अभिशप्त होते थे। वर्ग - जाति व्यवस्था पर आधारित शोषण की उपज में भारत में दलितों का प्रादुर्भाव हुआ था। भारत भर में शोषित वर्ग के लोग दलित जाति के सदस्य होते थे। शोषकों का दबाव इतना था कि भारत में दलितों का सामाजिक जीवन अत्यन्त संकीर्ण बनता गया। वास्तव में दलितवर्ग भारतीय सामाजिक और धार्मिक स्थिति की उपज ही है।

दलितों के ऊपर होनेवाले शोषण और उसके खिलाफ उठनेवाले उन लोगों के आक्रोश को चित्रण करने का कार्य समकालीन आंचलिक उपन्यासकारों

ने किया है । 'बीसबरस' में जब सुखदेवजी की भानजी को कुछ लड़के छेड़ते है तब दामोदर से वह कहते है कि "अब वे दिन गये जब ऊँची जाति के लफंगे हमें अपने इस्तेमाल की चीज़ समझते थे।" आज दलितों के ऊपर होनेवाले अत्याचार की कोई कमी नहीं है । लेकिन अत्याचार के खिलाफ उठानेवाले आवाज़ों की ज़ोर बढ़ गयी है, ताकत आ गयी है प्रतिरोध में और प्रतिरोध करने वालों की संख्या बढ़ गयी है । सुखदेव गांव के हरिजनों का नेता है । सदियों से जो दुःख और अपमान इन हरिजनों ने भोगा है उसे वे ही समझ सकते हैं, ऊँचे वर्ग और ऊँची जाति के लोग उनके सामने लाचारगी बिछाते रहे, उनके नाजायज़ हुक्म की तामील करते रहे, बेगार करते रहे और मार खाते रहे । सुखदेव लोगों को सिखाते हैं कि मेहनत की कमाई खाने के कारण किसी के आगे झुकने की आवश्यकता नहीं । इंसानी होने के नाते इंसानी हक मिलना चाहिए । आज दलित लोग जागे हैं, इस सचेतनता को लोग आतंक समझते हैं । ऊँचे लोगों की मानसिकता आज भी नहीं बदली है इसलिए ही दलितों के बदलाव को वे भीतर से पचा नहीं पाते है और टकराहट का मौका ढूँढते रहते हैं ।

राजनीति के क्षेत्र में भी उनका दाखिला होगया है । लेकिन दलितों में से कोई नेता चुनाव में खड़े होने पर सारी बड़ी जातियाँ एक जुट होकर उनके खिलाफ वोट देते हैं । दामोदर को हरिजन टोले में हुए विकास को देखकर आश्चर्य होता है। अब हरिजनों के टोले के स्थान पर खपरैल और पक्के मकान

---

1. रामदरशमिश्र - बीसबरस - पृ. सं : 40

बन गए हैं । कुछ हरिजन लोग अपने बच्चे क़ो स्कूल नहीं भेजते हैं । क्यों कि इनको मालूम है कि इनकी पढ़ाई - लिखाई के लिए सरकार जितना पैसा खर्च करती है और सीट रिज़र्व करती है ये सब चौधरी और बड़े वर्ग के लोगों के बच्चे को ही मिलते हैं । धन, बाहुबल, नेता, पुलिस सब उसके पास हैं । सुखदेव और अन्य हरिजनों के विद्रोह भावात्मक प्रतिक्रिया मात्र न होकर स्थितियों की समझ और अधिकारों की प्राप्ति की आकांक्षा से पुष्ट और प्रेरित है । सुखदेव दलितों को सिखाते हैं कि "तुम किसी से छोटे नहीं हो। तुम लोग मेहनत की कमाई खाते हो, फिर किसी के आगे झुकने का क्या मतलब? वे भी इंसान है, तुम भी इंसान हो । तुम्हें सारे इंसानी हक मिलना ही चाहिए।" उपन्यासकार ने रूढ़ सवर्ण मानसिकता का खुलासा दिया है ।

'समरशेष है' में वर्णित दलितों की स्थिति भी भिन्न नहीं है । हरिजन बस्ति में वोट मांगने के लिए कोई जाता नहीं है । नेता लोग वोट के लिए बड़े बड़े गांवों में जाते हैं और चाय पानी पीकर निकल जाते हैं । फिर अगले चुनाव में प्रत्यक्ष होते हैं । आज भी नीच जाति के प्रति उच्च लोगों के घृणा भाव में कोई भेद नहीं आया है । जब कहार के बाराती लोग चौड़े रास्ते से बाराती गीत गाकर निकलते थे तब समरेश बहादुर के आदमी उनके ऊपर डंडे बरसाते हैं। समरेश गांव के बड़े आदमी हैं, वह अपने दरवाज़े के सामने ऐसे फूहड़ गीत का हल्ला पसन्द नहीं करता है, इसलिए वह उन लोगों को मारने के लिए गुणड़ों को भेजता है । गांव का दकियानूसी भूस्वामि छोटे लोगों की बारात के

---

1. रामदरशमिश्र - बीसबरस - पृ. सं : 41

हरिजनों की खुशी का सांस्कृतिक गीत सहन नहीं कर सकते थे गांव के नीच लोगों की खुशियाली उनकी दृष्टि में कुछ नहीं है । भूतपूर्व ज़मीन्दारी और ज़मीन्दार मनस्थितिवाले लोगों के मन में अभी भी अंग्रेज़ी राज मौजूद है । छोटे लोगों को ये कभी आदर नहीं देगा। गांव का सामन्तवादी मानसिकता कभी भी बदलनेवाला नहीं है ।

'डूब' में चन्द्रभान की बेटी अक्कल कुँवारे में माँ बन जाने के कारण उसे गांव - बिरादरी में बहुत अपमान सहना पड़ा । कैलाश महाराज के खिलाफ कोई सबूत नहीं था। इसलिए बामन महाराज ने सरपंच की हैसियत से चन्द्रभान को गांव छोड़ने पर विवश कर दिया । कोई भी गांव उन लोगों को आसरा देने को तैयार नहीं था। जाति से नीचे होने के कारण चन्द्रभान के परिवार को गांव छोड़ना पड़ा । भगवान की पूजा करने वाले बामन महाराज के खिलाफ गांव का कोई भी प्राणी एक शब्द भी नहीं बोलता हैं । क्यों कि भगवान के पुजारी के खिलाफ होना पाप समझते थे । घूमा और अन्य बस्ति के लोगों पर ठाकूर का आक्रमण भी दलितों के खिलाफ का शोषण ही है । इसके विरुद्ध आवाज़ उठाने के कारण घूमा को अपने भाई ही नष्ट होता है । शोषक जितना प्रभावशाली है उतना शोषितों का आक्रोश भी ज़ोर होना चाहिए, नहीं तो शोषकों के आक्रमण में शोषित डूब जाएगा।

'चाक' में स्कूल में नये नये आए मास्टर श्रीधर को दलित होने के नाते बहुत अपमान सहना पड़ता है। आज सब के सब हाथ में अवर्ण सवर्ण की झंडी लेकर सिर पर डलिया भरा धरम ईमान बेचते हैं । आज कल पढ़ा लिखा कोई नहीं रहता गांव में । गांव में वे लोग रहते हैं जिनके लिए दुनिया

का हर द्वार बन्द है । गांव का मतलब पढ़े लिखों के मन में इससे ज़्यादा कुछ नहीं । आज दलित लोग भी गांव को छोड़कर शहर में जाकर पैसा कमाने लगे। कुंवरपाल चमार का भाई कलक्टर बन जाने के बाद वह बाकी सब दलितों को अपने से नीचे और आधम मानकर ऊँचे लोगों के साथ मिलजुलकर रहता है।

'यह अन्त नहीं' में चुनिया के पिता नरोत्तम कहार ने ज़माने के किसानों की तरह अपने ऊपर होनेवाले अत्याचारों को चुप चाप सहन नहीं करते, सब को मूँह तोड़ जवाब देते है दलित होने पर भी अपने ऊपर के दबाव के प्रति विरोध करने का साहस उसमें है । इसमें उपन्यासकार ने ऊँचे लोगों के विभिन्न शोषणों को विस्तार से चित्रित किया है । 'इदन्नमम' में राउतों के ऊपर होनेवाले शोषण के खिलाफ लड़ने को मन्दा कहती है । लेकिन वे लोग ऐसी चिन्ता अपने सपने में भी सोच नहीं सकते थे । वे लोग अपना घर बार जंगल में छोड़कर खानाबदोस की तरह घूमते रहते हैं । वे पहले जंगल में लकड़ी काटकर जीविका चलाते थे। अब जंगल सरकार के हो गए और ढेकेदार ढेके पच्चीस पेड़ों का लेकर पच्चास पेड़ कटवाते हैं । जनी मानसों को रात को ले जाते हैं । नफा हो तो खुद लेते हैं, नुकसान हो तो मज़ूर के सिर पर रखते हैं। मन्दा राउतों को अपनी शक्ति का आत्मविश्वास दिलाता है।

दलित वर्गों के उत्थान के लिए आरक्षण के सिवा कोई काम नहीं चलेगा । आरक्षण के साथ अनेक ऐसे कदम भी उठाना है जो एक सीमाबद्ध अवधि में दलितों को सामाजिक रूप से सवर्णों के समकक्ष लाया ज सके । आरक्षण के इस मुद्दे को लेकर इसमें एक प्रसंग है - भृगदेव महाराज के शिष्य

थे । उसने तो डाक्टरी के कोर्स को अधूरा छोड़कर पलायन किया था क्यों कि अनुसूचित जाति होने के कारण उनके सारे साथी उन्हें हेय दृष्टि से देखते थे भृगदेव को प्रतियोगिता के बलपर प्रवेश मिला था । लेकिन कॉलेज के छात्र यह सोचते थे कि हरिजन होने के कारण आरक्षण से उसका प्रवेश मिला होगा। हॉस्टल में दलित छात्रों को अनेक कष्ट सहना पड़ता है । धोबी के बेटा है तो कपड़ा धोना पड़ता है। कहार हो तो बर्तन माँजना पड़ता है । भृगदेव से जूता पोलिश करवाता था। वार्डन भी हरिजन था। जब उसने अपराधी लड़के के खिलाफ कार्यवाही की तो कॉलिज हॉस्टल में हड़ताल हो गया। ग्रामीण कॉलेजों में इसीप्रकार का भेदभाव नहीं था। वहाँ तो बुद्धिमान और परिश्रमि को ही स्थान मिलता था।

भृगदेव जानना चाहते हैं कि वार्डन को जो दण्ड मिला वह उसके कारण या मनुस्मृति के कारण । इसलिए वह ऐसी संस्था से पढ़ाई छोड़कर भाग निकला था ।. लेकिन बरसों से अस्पताल बसाने की खातिर उजड़ती रही मन्दा को देखकर उसे अपने कर्तव्यों के बारे में याद आकर वह पुनः कॉलिज में शामिल करता है । लेकिन कॉलिज की स्थिति में कोई बदलाव नहीं आया है। जब तक आरक्षण रहेगा, तब तक दलितों को उपेक्षा सहनी पड़ेगी और कुंठाएं झेलनी होगी। भृगदेव का सपना है "वह दिन आये कि अनुसूचित जाति में आनेवाले छात्र आगे बढ़े अस्वीकार कर दे और आरक्षण को। वह हौसला आये हमारे भीतर की इस हय भीख से मुक्त पायें। अपंग ही न बनी रहें आने वाली पीढ़ियाँ"[1] आज समाज में आरक्षण विरोधी आंदोलन भी चल रहे

---

1. मैत्रेयी पुष्पा - इदन्नमम - पृ. सं : 375

हैं। वास्तव में यह आंदोलन देशद्रोही और विघटनवादी है । आरक्षण तो केवल समाज में व्याप्त जाति असंतुलन को हटाने के लिए है, इसे दलितों के उत्थान के एक आंशिक साधन के रूप में ही हमारे संविधान में स्वीकृत किया गया है।

उत्तर भारत के देहती जीवन का जीता जागता चित्र प्रस्तुत करने में समकालीन आंचलिक उपन्यासकार सफल हुए हैं । समसामयिक सामाजिक जीवन का चित्र उपन्यासकार अपने आंचलिक उपन्यास चाक, इदन्नमम, समरशेष है, सोनामाटी, ज़िन्दगीनामा आदि उपन्यासों में चित्रित करके समकालीनता को बनाये रखने के लिए इन उपन्यासों में दलितों पर होनेवाले अत्याचारों का चित्रण किया गया है ।

नारी शोषण :

हिन्दी के समकालीन आंचलिक उन्यासकारों ने भारतीय ग्रामीण समाज की नारी की परंपरागत एवं परिवर्तित स्थिति को अपने साहित्य में वाणी प्रादान की है । आज़ादी के बाद पूरे देश में परिवर्तन आया है, साथ ही नारी की स्थिति में भी । आज घर की चार दीवारों से मुक्ति पाने में वह सफल हो गयी । हरेक क्षेत्र में वह पुरुष से कन्धे से कन्धा मिलाकर आगे बढ़ने की कोशिश कर रही है पर पुरुष मेधा समाज के शोषण चक्र से पूर्ण रूप से बाहर निकलने में वह असफल हो गयी है । यहाँ तक नारी भी नारी का शोषण कर रही है । जैसे उदारीकरण और भूमण्डलीकरण फैल रहा है, वैसे ही स्त्री पर अत्याचार और बढ़ते जा रहै हैं । आज नगर, महानगर की नारी जहाँ प्रगति की सीढ़ियाँ लाँघ रही हैं वहाँ गांव की नारियां मात्र आज भी शोषण की मध्ययुगीन

सामंती परंपरा से मुक्त नहीं हो पाई हैं । पिछड़े गांव तथा अंचलों में निरक्षरता, आर्थिक परवशता, रूढ़िवादिता, रुग्ण मान्यताएँ आदि नारी की प्रगति में बाधा बनी हैं । वहाँ नारी के प्रति दृष्टिकोण नहीं बदला है । वह पूरी निष्ठा से चार दीवारी में रहकर भारतीय परंपराओं का निर्वाह कर रही है । ग्रामीण आंचलिक नारी का जीवन विभिन्न अंतर्विरोधों से घिरा है ।

भारतीय ग्रामीण समाज में स्त्री को किसी प्रकार की आज़ादी या अधिकार नहीं है, उसे अपनी भावनाओं, विचारों, इच्छाओं को मार कर ही ज़िन्दा रहना है । यदि कोई स्त्री इस सीमा का अतिक्रमण करती है तो उसे वहाँ का पुरुष कुचल देता है । ऐसी स्त्री की हत्या कर दिये जाने पर भी एक हल्की सी सुगबुगाहट के अतिरिक्त कोई विशेष हलचल नहीं होता । इसके प्रतिरोधं में कोई खड़ा नहीं होता, कोई आततायी हत्यारे के भय से, कोई पुलीस के चंगूल में फंसने के डर से और कोई मात्र उदासीनतावश।

गांव में बसी और जुगुप्सा पैदा करनेवाले परिवेश में मैत्रेयी पुष्पा ने नारी नियति का जो चित्र 'चाक' में प्रस्तुत किया है वह एक नयापन लिया हुआ है। उपन्यास के आरंभ में ही हम एक पच्चीस वर्ष की उम्र वाली विधवा युवति को जिसके गर्भ में उसके प्रेमी का बच्चा है, उसके परिवार वालों द्वारा ज़िन्दा जला देने के प्रसंग से गुज़रते हैं । उसका अपराध यह है कि उसने विधवा होकर भी किसी से प्रेम किया है, उससे गर्भवति हुई और सास - ससुर आदि के समझाने पर भी गर्भपात कराने के लिए तैयार नहीं हुआ । वह अपने अवैध बच्चे को जन्म देने की ज़िद पर अड़ी होने के कारण उसकी हत्या कर दी जाती है । रेशम के नाम की इस युवति की हत्या अतरपुर गांव में पहली नहीं है ।

उपन्यास की शुरूआत ही गांव की स्त्रियों की दशा के वर्णन से है । "इस गांव के इतिहास में दर्ज दास्ता में बोलती है रस्सी के फंदे पर झूलती रुक्मणी, कुएँ में कूदनेवाली रामदेई, करबन नदी में समाधिस्त नारायणी.....ये बेबस औरतों सीता मइया की तरह भूमि प्रवेश कर अपने शील सतीत्व की खातिर कुरबान हो गई । ये ही नहीं और न जाने कितनी"[1] गांव की एक विधवा युवति की छातियाँ इसलिए दाग दी गयी है कि उसने किसी से प्रेम करने का अपनराध किया है । जिरौली बहू पर 'देव' या 'चुड़ैल' की चढ़ाई होती है तो उसे मिर्चों के धुएँ पर औंधा दिया जाता है ।

हरिप्यारी नाइन की बेटी गुलकन्दी बिसुनदेवा खटीक से प्रेम करती है और उससे गन्धर्व विवाह कर लेती है । पर जिसप्रकार उच्च वर्गीय समाज में नारी को प्रेम करने का अधिकार नहीं है उसी तरह निम्न वर्गीय समाज में भी स्त्री को अपना प्रेमी और पति चुनने को आज़ादी नहीं है । निम्न जातीय समाज में भी लड़की को किसी दूसरे जाति के लड़के के साथ विवाह नीषिद्ध है और इसके लिए लड़की को कड़ी से कड़ी सज़ा देना समाज की अलिखित दण्डसंहिता में शामिल है । 'चाक' की कोई भी स्त्री पात्र रोती नहीं हैं । यहाँ तक की मरनेवाली औरतें भी कभी रोती दिखाई नहीं पड़ती । रेशम तो गज़ब की अक्खण्डता के साथ अपने गर्भधारण के अधिकार पर गर्व करती है । गुलकन्दी भी अपनी जीवन साथी चुनने में किसी कुंठा से ग्रस्त नहीं है । अपने मंगेतर का विश्वासाघात प्रमाणित हो जाने के बाद उसे निर्णय लेने में कोई देर

---

1. मैत्रेयी पुष्पा - चाक - पृ. सं : 7

नहीं होती । रेशम और गुलकन्दी की हत्याओं के बीच सारंग का व्यक्तित्व उभरता है। अन्याय से लड़ने, आतताइयों का मुकाबला करने, नारी अधिकारों के लिए अपनी जान तक दे देने की हिम्मत उसमें है । जब तक सत्ता पुरुष के हाथ में है, स्त्री का शोषण और उस पर होनेवाले अत्याचार समाप्त नहीं हो सकते।

अतः ज़रूरी है कि नारी सत्ता में आए । 'चाक' में जब सारंग प्रधान पद के लिए परचा देती है तो पुरुष समाज में अफरातफरी मच जाती है । अतरपुर गांव की पूरी नारी शक्ति सारंग के पीछे सामाजिक भेदभाव को त्याग कर खड़ी हो जाती है । सारंग को अपने प्रेमी के साथ संभोग करने में कोई नैतिक संकट नहीं होता और जब उसका पति आतताई होने पर आता है तो वह बन्दूक तक उठाती है । सारंग का बन्दूक से फायर करना नारी के हिंसक विद्रोह पर उतर आने का प्रतीक है । उपन्यास में लेखिका ने स्त्री का स्थान सभी दृष्टियों में पुरुष से ऊपर रखने का प्रयास किया है ।

सामान्यरूप से देखा जाए तो आज के समाज में ज़्यादा पीड़ित दो वर्ग है - दलित और नारी । इसप्रकार के एक समाज में एक दलित नारी की स्थिति कैसी हो सकती है इसका अन्दाज़ा लगाना मुशकिल है । 'यह अन्त नहीं' उपन्यास का चुनिया दलित नारी है । अपने पिता के साथ खेत खलिहानों के संघर्ष को देखते देखते ही बढ़ी हुई है । उपन्यास के प्रारंभ में सामन्त श्रवणसिंह के बेटे अगम द्वारा पहले प्रेम का छल रचने और बाद में बलात्कार की कोशिश होती है वह पूरी शक्ति के साथ अगम पर टूट पड़ती है, और उसका शिकार बनने से बचती है । अपने पति जोखन के लापता हो जाने पर एक

सामान्य स्त्री के समान पति के लिए ठोकर खाकर भी अपने पति को खोज निकालती है।

ज़मीन्दार वर्ग अपने घर के नौकरों को यन्त्र समझता है कि दबा दो और चालू हो जाए । जब इसी ज़मीन्दार के पुत्र द्वारा बलात्कर की कोशिश होती है तब चुनिया निड़र होकर कहती है "मैं तेरे घर की नौकरानी हूँ.....मुझे रंड़ी पतुरिया मत समझ.....तेरे यहाँ का मुफ़त में कुछ नहीं लेती । पसीना बहाकर कमाती हूँ ....."[1] शोषक ही बदल गए हैं लेकिन स्त्रियों के शोषण करने की तरीका बिलकुल वैसा ही है । पहले ज़मीन्दार थे तो आज उनके बेटे और पोते ही हैं । पंचायत में भी स्त्री को न्याय नहीं मिलता। जब जीतनी को बहकाकर शत्रुघनसिंह उस पर आक्रमण करता है तब सारा दोष जीतनी के ऊपर आंता है । निर्दोष होते हुए भी जीतनी के परिवार को पाँच खेंसारी शत्रुघन को देनी पड़ी । गरीबों की सहायता करनेवाला कोई नहीं हैं । शारीरिक बल और धन बल जिसके पास है वही शासन करने वालों के पीछे बैठकर शासकों को कठपुतली बनाकर शासन करते हैं । गरीबी में जीनेवाली स्त्री को वज्र बनकर रहना चाहिए ।

समाज के सारे धर्म, नीति - नियम केवल नारी केलिए ही बने हैं । जैसे पुरुष अनेक संसर्ग के लिए स्वतंत्र हैं और उसे अनेक विवाह करने की भी स्वतंत्रता है । जब कि ये कार्य नारी कर बैठी तो कुलटा, पतिता और भी न जाने कितने ही विशेषण से समाज उसे कलंकित कर देता है । तमाम

---

1. मिथिलेश्वर - यह अन्त नहीं - पृ. सं : 35

सामाजिक सुधारकों के प्रयासों के बावजूद विधवा - विवाह को सामाजिक सम्मान प्राप्त नहीं है , जबकि पुरुष विधुर होने के बाद बड़ी सहजता से विवाह करता रहा है । "जहां खिले हे रक्त पलाश' में पहले दृश्य में हम देखते हैं कि सत्तो गुरुजी पर उनके देवर विजयभान बलात्कार करने की कोशिश करता है। यह इसलिए कि वह विधवा और सुन्दरी है । जब जंगलदस्ते के लोग स्त्रियों के ऊपर आक्रमण करते हैं तब पुलिसों का कहना है कि 'एक दफे सील टूट जाये तो कहाँ पता चलता है कि बोतल में से किसने कसने कितने घुंट पिये? जो होगया सो होगया ....भूल जा सब"[1] इन लोगों के लिए स्त्री की इज़्जत का कोई मूल्य नहीं ।

द्रोणवीर कोहली का उपन्यास 'तकसीम' में हम और एक विधवा को देखते हैं शान्ति, वह अपने पति की आकस्मिक मृत्यु के पश्चात एक मुसलमान से शादी कर लेती है। क्यों कि उसके देवरों, जेठों ने मिलकर उसके हिस्से की सारी संपत्ति हड़प ली थी, और उसके तीन वर्ष के बच्चे को कुएँ में धकेल दिया था । अपने माता पिता तक आश्रय न देने के कारण विवश होकर उसे धर्म परिवर्तन करना पड़ा । याने समाज ही उसे धर्म परिवर्तन करने को मज़बूर कर देता है । नारियों के लिए वैधव्य की स्थिति अभिशाप बन जाती हैं । अल्पवय में वैधव्य प्राप्त नारियों की दशा अत्यन्त ही कारुणिक होती है । रामायण काल में विधवाओं के प्रति आदर का भाव था, लेकिन वर्तमान समाज में यह स्थिति नहीं, बल्कि उनपर कई प्रकार के बन्धन हैं । 'तकसीम' का रचनाकाल भारत पाक विभाजन के पहले का है उस समय समाज में व्याप्त

---

1. राकेशकुमार सिंह - जहां खिले है रक्त पलाश - पृ . सं : 144

बालविवाह, बहुपत्नीव्रत, बालविधवा प्रथा, स्त्रियों के लिए अन्य कट्टर जाति पाँति की प्रथा आदि का सुन्दर ढंग से चित्रण द्रोणवीर कोहली ने किया है ।

विधवा को लोग कुलकलंकिनी और अपशकुन मानते हैं , विधवा होने के बाद उसकी चूड़ियाँ फोड़ दी जाती है और बाल काटा जाता है । लेकिन 'बीसबरस' उपन्यास का वन्दना इसका खुलकर विरोध करती है और कहती है कि "इन बालों ने क्या किया है कि इन्हें कटवाऊँ ? ज़िन्दगी है तो जीनी पड़ेगी और जिऊँगी तो अपने को कुरूप और घिनौनी बनाकर नहीं"[1] वह स्त्री पुरुष के भेदभाव पर तीव्र प्रहार करती है रूढ़ियों में फंसी औरतों को समझाती है कि वे उजाले में आये । स्त्री पात्रों में शिक्षित आधुनिक नारी का प्रतीक है वन्दना । उसमें अद्‌भुत आत्मविश्वास, साहस और अन्याय से लड़ने की असीम शक्ति है । वह पिछड़ी, दबी, अशिक्षित अन्याय को चुपचाप सहनेवाली ग्रामीण नारी के लिए क्रांति का सन्देश लेकर आती है।

'डूब' की लुहारिन गोराबाई के माध्यम से ग्रामीण नारी की एक अनूठी तस्वीर उजागर हुई है । गोराबाई बुंदेलखंड़ की महिलाओं की प्रतिनिधि जान पड़ती है। वह एक क्रान्तिकारी चरित्र है। वह झांसी की बेटी है, लुहार है - लोहे के समान सक्त है। कैलाश जब दो शोहदे को भेजकर - बलात्कार करने की कोशिश करते हैं, लेकिन वह दोनें को छूरी से लुहार की बेटी होने की बात साबित करती है । गांव के शोषकों के सक्त नारियों की आवश्यकता हैं राउत जनजातियों की स्त्रियों '

---

1. रामदरश मिश्र - बीसबरस - पृ. सं : 95

शोषण का बखूबी चित्र हमें 'पार' में मिलता है। स्त्री को हमेशा बन्धनों, नियमों के अन्दर रखने की कोशिश इन आदिम लोगों के बीच भी हैं। मुखिया माई जीवन के अन्त तक देह सुख से वंचित रहते हैं, इसका उल्लंघन करने के कारण मुइया को खेरे से बाहर कर दिया गया था। जब वह जीरोन खेरे को छोड़कर मूसरखेरे जाता है वहाँ उसे सम्मान प्राप्त हुआ लेकिन किसी एक जन के नहीं अनेक जनों के जनी बनना पड़ा। शोषण का मनुष्य रूप है घूरेसाव या निर्मलसाव । जब घूरेसाव को पता चला कि मुरैना में लोग स्त्री को बिकते हैं। तब वह खेरे के राउतनों को भी कोई न कोई चाल रचाकर मुरैना ले जाकर बिकने लगा । ज़मीन्दार, रईस, तालूकदार, अफ़सर और अन्य बड़े कारोबारी के लोग औरतों कों खरीदते हैं । उनके आदमी गांव-देहात से, खेरे-टपरे से औरतों को उठाकर फुसलाकर लाते हैं और कचहरी में पेशकर औरत से कहलवाया जाता है कि वह इस आदमी के साथ रहना चाहती है । अपनी मर्ज़ी से, फिर औरत का प्रतिज्ञापत्र तैयार करता है । किसी को अफसरों को खुश करने के लिए औरत चाहिए तो, किसी को पुलीस को, किसी को डाकूदल को किसी को वंश चलाने । औरतें ही नहीं बच्चियाँ भी खरीदी जाती हैं । इसतरह घूरेसाव द्वारा लड़ैई के पास के खेरों की राउतनें मुरैना, शिवपुरी पहूँचती रही और प्रतिज्ञा पंत्र बनते रहे। इसके खिलाफ आवाज़ उठाने की क्षमता खेरेवांलों में नहीं हैं । ऐसे लोगों का शोषण शोषक वर्ग मनमाने ढंग से करते हैं।

हमारी संस्कृति में स्त्री को देवी और माता का पद प्राप्त है । लेकिन सुनरी और कोयली आदि नारीपात्रों के माध्यम से 'सोनामाटी' में विवेकीराय यह गलत साबित करते हैं । इन दोनों पात्रों के बीच एक छोटा सा सशक्त नारी

पात्र है भगवान द्वेवेदी की पुत्री विद्या, जो पिता की इच्छा के विरुद्ध शहर जाकर पढ़ती है । लोगों को आश्चर्य होता हैं कि एक गांव की लड़की में ऐसा साहस कैसे आ गया? द्विवेदजी के मत में लड़कियों को ज़्यादा पढ़ने लिखने की ज़रूरत नहीं है, क्यों कि वे तो चूल्हे - चौके के लिए बनी हुई हैं, इसकेलिए पढ़ने की ज़रूरत नहीं है । गांववालों के अनुसार विवाह के अवसर पर भी अधिक पढ़ाई लिखाई अयोग्यता है । गांव में अब भी लोग लड़कियों को पढ़ाना, लिखाना ज़रूरी नहीं समझते और लड़कों को बहुत बार फेल हो जाने पर भी स्कूल भेजते हैं । विद्या बिलकुल एक आधुनिक स्त्री है । लेकिन कोइली जो है वह अपने ऊपर होने वाले शोषण को चुपचाप सह लेती है । उसे सुग्रीव ने चार हज़ार रूपये में खरीदकर राज करने के लिए बहकाकर लाया था। उसे हनुमान प्रसाद रखैल के रूप में रखता है रामरूप उसकी रक्षा करता है। सुनरी के साथ नवीन बाबू का संबन्ध भी सदाचार के विरुद्ध है। अपनी शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए वह सुनरी के पास आता है, लेकिन सुनरी उन्हें पति के समान मानकर उसकी पूजा करती है । जब वह गर्भवती हो जाती है तब नवीनबाबू उसका विवाह एक बूढ़े से करवा देते हैं। अच्छेलाल और उसके मित्रों द्वारा होनेवाले बलात्कार के विरुद्ध भी आवाज़ उठाने की शक्ति उसमें नहीं है। वह सब कुछ अपनी नियति कहकर सह लेती है।

कोइली - हनुमान प्रसाद के बीच के संबन्धों को केन्द्र में रखकर उपन्यासकार ने दलित वर्ग की नारी के साथ उच्च वर्ग की पाश्विक अत्याचार को रेखांकित किया है । गांव में उच्च वर्ग के लोग पिछड़े वर्ग की स्त्रियों र कन्याओं के साथ यौन संबन्ध आसानी से स्थापित कर लेते हैं यह

करइलजी और नवीन पात्र के माध्यम से देख सकते हैं । कोई भी रचना अश्लील यौन संबन्धों का चित्रण लोकमनोरंजन को लेकर नहीं करती अपितु यौन समस्याओं से ग्रस्त समाज की विकृतियों को दूर करने के उद्देश्य से इसप्रकार के प्रसंगों का आकलन करती है । समाज में शोषण के नाम पर यौन शोषण होता रहा है यहाँ सामन्त वर्ग के लोगों ने मन माना यौनाचार किया है, वहीं दूसरी ओर आर्थिक विषमता ने भी नारित्व क शोषण किया है ।

'समरशेष है' भी विवेकीराय का गांव केन्द्रित आंचलिक उपन्यास है। इसमें एक पढ़े लिखे प्रेमी के सिद्धान्तों को समर्थन देनेवाली नारी जयन्ती को हम देख सकते है । जयन्ती को मालूम है कि आज भी हमारे देश में स्त्री जाति के प्रति लोगों का दृष्टिकोण घोर स्वार्थ, छल और प्रतिक्रिया और दकियानूसी पूर्ण है । आज भी समाज स्त्री के साथ सौतेली सलूख करता है। वह लोगों की रक्ष के लिए समाज सेविका के रूप में 'मातामइया'का वेष धारण जनभोज के लिए घर से निकलता है । जयन्ती भी अपने प्रेमी के साथ लोकतंत्र विरोधी गतिविधियों का बराबर विरोध करती थी । जयन्ती अपने आत्मबल को जन - बल में रूपान्तरित करने में सफल होती है ।

परिवार सबसे छोटी सामाजिक इकाई होता है । पुरुष मेधा समाज में भी परिवार में नारी का अपना महत्व है, उसकी अपनी समस्याएँ और यातनाएँ हैं । 'ज़िन्दगीनामा' का गुजरांवाला गांव की नारियाँ भी समाजिक जीवन में अनेक परिस्थितियों से गुज़रती हैं । नारी समस्या को प्रस्तुत करना और उसका समाधान स्वयं नारी से ही करवाने का सफलतम प्रयास उनके लेखन का उद्देश्य है । सोबतीजी स्त्री को उसकी शक्ती पहचानकर लड़ने को

कहती हैं । 'ज़िन्दगीनामा' के नारी पात्र अशिक्षा और अज्ञान से घिरे हैं । उनमें एक निश्चित परिधि के भीतर जीवन यापन करने की जड़ता आ गई है। उस युग और समय की माँग में स्त्री शिक्षा सम्मिलित नहीं थी । नारी शिक्षा की लहर ने नारी स्वतंत्रता का नारा शुरू किया था और उससे नारी में जाग्रति आने लगी । 'ज़िन्दगीनामा' की लख्खमी एक विधवा ब्राह्मणी है । जो वैधव्य का संयमित जीवन जीने को विवश है । विधवा को सामाजिक दबाव और नियमों में बँधकर रहना होता है । विधवा को अपनी संपूर्ण इच्छाओं का त्याग करना आवश्यक हो जाता है । अधुनिक नारी इस प्रकार के खोखलेपन से मुक्त होना चाहती है । लख्खमी भी अपनी इच्छा पूर्ति करती है । वह जाति, धर्म, समाज और परिवार की मर्यादा को तोड़ता है। चाची महरी को भी आधुनिक नारी के समकक्ष चित्रित किया गया है। राबयाँ का शाह के प्रति प्रेम जाति, धर्म, आयु और संबन्धों की बेड़ियों को तोड़ता हुआ पवित्र प्रेम है ।

'इदन्नमम' उपन्यास का केन्द्रीय चरित्र मंदा है। "मंदा अपनी दादी की दृष्टि में बावरी सिरिन है, शोषकों का प्रतिनिधि अभिलाखा उसे कालभैरवी कहता है, सरकारी तंत्र के लोग महाकाली का संबोधन देते है, महाराज उसे रानी लक्ष्मीबाई की तरह हौसलेवाली मानते है।"[1] उपन्यास की नायिका मंदा की माँ प्रैम को रत्न यादव बहला फुसलाकर भगा ले गया था। उससे पहले रत्नयादव ने तीन औरतों का अपहरण करके उन औरतों की सम्पत्ति को अपने नाम कर दिया था । वह प्रैम को एक हथियार के रूप में प्रयोग करता है, प्रैम को एक

---

1. समीक्षा - जुलाई - सितंबर - पृ.सं : 17

पुत्री भेंट देकर अपने ममेरे भाई को सौंप देता है । इस उपन्यास में तीन पीढ़ियों की नारियाँ मिलती हैं । बऊ, प्रेम, मंदा और कुसुमा भाभी। बऊ का अपना एक संसार और अपनी मान्यताएँ हैं इसलिए पुत्र महेन्दर की मृत्यू के उपरान्त जब प्रैम रत्नयादव के साथ भाग जाती है तो उसे कुलबोरन कहती है। बऊ प्रैम को फिर कभी स्वीकार नहीं कर पाती । एक बार जब वह आती है तो उसे द्वार से लौटा देती है । क्यों कि बऊ भी चढ़ती उमर में विधवा हुई थी। लेखिका बऊ की कुंठाओं और दमित यौन आकांक्षाओं को इसका कारण मानती है । प्रैम बऊ की तरह अपने को न संभल सका, अपनी जवानी पर वह नियंत्रित नहीं कर पा रही थी । कुसुमा भाभी इस उपन्यास की एक सशक्त नारी पात्र है।

मन्दा को अपने गांव की औरतों पर नाज़ हैं, अपढ़ और चिथड़ों में लिपटी औरतों तक गांव यज्ञ की तैयारी में अपना हिस्सा देती हैं । तीन पीढ़ियों की नारियाँ अपने - अपने ढंग से पुरुष प्रधान व्यवस्था के अवमूल्यों को झेलती हैं । बऊ अपने बेटे की हत्या के बाद भूमिखोरों और लुटेरे रिश्तेदारों से बचने के लिए पराये गांव का सीवान लांघने को विवश होती है। लोगों की कटुक्तियों, मकरंद से साहचर्य जनित लगाव और कैलाश मास्टर से बिरगांव में हुए बलात्कार के बीभत्स अनुभव के बीच युवा होती हुई मन्दा शीघ्र ही समझ जाती है कि अपनी लड़ाई खुद लड़नी होगी । मन्दा की माँ प्रैम समाज की दृष्टि में कुलटा है लेकिन वह भी अपनी लड़ाई खुद लड़कर स्वार्थियों के चंगूल से अन्ततः मुक्त हो जाती है । गरीबी के कारण चौदह पन्द्रह वर्षीय अहिल्या को रखैल बनना पड़ा, उस उम्र में ही उसे छूत की बीमारी भी पड़ी, उसे पता नहीं

किस आदमी से उसे यह रोग मिला । उनकी बेबसी है कि दिन में पथरा तोड़ना पड़ता है तो रात में देह भी। उन लोगों को बिना रौंदे ठेकेदार पथरों से हाथ नहीं लगाने देते । अहिल्या अपनी बूढ़ी माँ बाप के वास्ते ही रखैल का काम करती है । सुगुना मन्दा की सहेली है। जगेसर सुगुना का बाप नहीं उसके लिए कसाई जैसे है ।जगेसर अभिलाखा को अपने घर में छिपकर रहने की जगह देते है। अभिलाखा से जब सुगुना गर्भवति होती है तब वह चाकू से उसे मार देती है, और स्वयं मिट्टी का तेल किंछकर आग लगाकर आत्माहूति कर लेती है ।

स्त्री के ऊपर शोषण और उस पर अन्याय अत्याचार की यह परंपरा केवल गांव में ही नहीं पूरे देश और संपूर्ण मानव- जाति की, विशेष रूप से सभ्य कहे जाने वाले सभी समाजों की यही परंपरा रही है । भूमणमडलीकरण के इस दौर में स्त्री जिसप्रकार बाज़ार में बेची जा रही है, उतनी और कोई चीज़ नहीं । नारी शोषण से तब मुक्त होंगे जब वह अपनी गुलामी मानसिकता से दूर होंगे । दमन और शोषण चक्र से अपने आपको मुक्त करने की ताकत उसमें होनी चाहिए ।

राजनीतिक शोषण :

राजनीति आधुनिक जन सामान्य के जीवन को सीधे प्रभावित करनेवाला एक अपरिहार्य अंग बन चुकी है । इसलिए देश का प्रत्येक व्यक्ति राजनीति का अंग बन चुका है और वह राजनीति से प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से प्रभावित हुआ है। वर्तमान राजनीति में पनपी हुई रिश्वतखोरी, सत्तालोलुपता, भाई - भतीजावाद, सांप्रदायिकता आदि का विस्तृत वर्णन समकालीन हिन्दी उपन्यासों

में किया गया हैं । वर्तमान राजनीति के विभिन्न आयामों तथा जनजीवन पर पड़नेवाले प्रभावों का यथार्थ और प्रभावी चित्रण हमें समकालीन आंचलिक उपन्यासों में भी मिलता हैं। ग्राम तथा कस्बे भी आजकल राजनीति के अखाड़े बन गए हैं । सभी स्तरों की भाँति ग्राम तथा कस्बों में भी राजनैतिक दलबन्दी तथा दलों की आन्तरिक गुट बन्दी रहती है।

विवेकी राय के उपन्यास 'सोनामाटी' और 'समरशेष है' में सामाजिक सन्दर्भों के साथ राजनीतिक संदर्भ भी उभरकर आये हैं । उन्होंने अपने ग्रामीण जीवन से संबन्धित इन उपन्यासों में साम्राज्यवादी, सामन्तिशोषण, भ्रष्टाचार, नौकरशाही से पीड़ित ग्रामीणों का चित्रण कर राजनीतिक शोषण के विभिन्न मुखों को पाठक के सामने रखा है । जनतंत्र के नाम पर सामान्य जनों को किस प्रकार धन शक्ति के बल पर दबाया, इस का यथातथ्य चित्रण 'सोनामाटी' में किया है । पंचायती राज का उद्देश्य सत्ता का विकेन्द्रीकरण है । आज ग्राम पंचायतें, पंचायत समितियाँ, न्याय पंचायतें तथा जिला परिषदें, घोर स्वार्थ एवं द्वेषपूर्ण राजनीति के अड्डे बन गये हैं। 'सोनामाटी' में खेत की समस्या को लेकर सीरीभाई और दीनदयाल के बीच पंचायत गण निर्णय लेते हैं । गांव में पंचायत के प्रस्ताव पर विरोध का स्वर बहुत कम उठता है । ऐसे अवसरों पर सारे के सारे भूस्वामियाँ मिलकर एक साथ शोषण करते हैं। सड़क विवाद पर पंच बुलाने पर भी जीत भूस्वामियों का ही होता है। ऐसे पंचायती राजों से गांवों को कोई फायदा नहीं बल्कि नष्ट ही होता है क्यों कि उन लोगों को हमेशा अपने जेब का ही फिक्र है न ही गांववालों का।

इसमें चुनाव, मतादान आदि के नाम पर होनेवाले खोखलेपन को नंगा किया गया है। मगनचोला चुनाव के अवसर पर संदेहास्पद वोटरों को डरा, धमकाकर घर से निकलने नहीं देते। बहुतों को कंबल, नोट के सहारे खरीद लेते हैं । "सत्ता प्राप्ति के लिए प्रजातांत्रिक व्यवस्था में चुनाव कार्य एक ऐसी सीढ़ी है, जिस पर चढ़ने के लिए महत्वकांक्षी व्यक्ति आज सभी तौर तरीकों का इस्तेमाल करता है और जन सेवा का नारा देने के साथ साथ अधिकतर प्रत्याशियों की हार्दिक अभिलाषा व्यक्तिगत स्वार्थों की पूर्ति तथा अपनी पद प्रतिष्ठा की एक छलांग में बढौत्तरी ही रहती है।"[1]

यह एक विचित्र विडंबना है कि नेतागण अपने भाषणों में तो जातिवाद, अस्पृश्यता और सांप्रदायकता के देश के लिए घातक बताते है, परन्तु चुनाव जीतने के लिए इन्हीं सब भेदभावों का सहारा भी लेते हैं । चुनाव को रामरूप 'आँधी' कहकर संबोधित करते हैं। क्यों कि चुनाव तो करइल में आँधी के समान आता है। भूखे, प्यासे, जीवन संघर्ष में घिसे पिटे गंवई लोगों को इस आँधीरूपी चुनाव को झेलना है । किसानों के जीवन के साथ बैलों के संबंध जानकर गांव वालों को मूर्ख बनाने के लिए सरकारी छाप पर बैलों की जोड़ी को रखते हैं । सारे देश में तो नेता भरे हैं, हवा के कण कण में राजनीति, राजनीतिज्ञ, कुरसी, सत्ता, वोट, चुनाव, बड़बोल और धूर्तों की काराकारी ठंसी है करइल की शिक्षा संस्था में भी राजनीतिज्ञों का ही अधिकार है । राजनीति में प्रलोभनों से वशीभूत होकर अवसरवादी व्यक्तियों

---

1. डॉ. सुधाकर अदीब - हिन्दी उपन्यासों में प्रशासन - पृ .सं : 226

द्वारा दल बदलू प्रवृत्ती भी 'सोनामाटी' में विद्यमान है। वर्मा और कवि खोरा इसका उत्तम उदाहरण हैं।

'समरशेष है' का सबसे बड़ी समस्या सड़क योजना है और इस योजना के ईर्द -गिर्द राजनीतिज्ञों का बोल-बाला है। सड़क ही प्रमुख पात्र है सड़क स्वयं कहती है कि पहले मेरे समस्या को हल करो बाद में गांव की उन्नति होगी । जब तक सड़क योजना इसी तरह गिर रहेगी तो गांव के ही नही, भारत के अस्सी प्रतिशत गांव की स्थिति जैसी की तैसी ही रहेगी । चुनाव के समय जगरता गांव से कोई भी वोट डालने के लिए नहीं आते हैं । क्यों कि गांववालों ने निश्चय किया था कि सड़क नहीं तो वोट नहीं । गांव के लोग अपने ऊपर के शोषण को और शोषकों के रूप पहचान गये हैं । वोट का बहिष्कार करने के लिए हरिजन लोग भी उड़ खड़े हुंए है । उन लोगों का कथन है कि "सरकार उसकी सड़क नहीं बनायेगी वह भी सरकार नहीं बनायेगी"[1] भ्रष्टाचार ही सर्वत्र व्याप्त है । विवेकी राय 'धूल' शब्द की तुलना रातनीति से किया है । "धूल का धूसर धरहर देख एलेक्शन की याद आयी, प्रचार, भाग-दौड़, बनती बिगड़ती हवा, गुटबंदी, जातिवाद, भाषण, चोरी, छल और कलबल की धूल, संख्या सुस बनाम भारतीय प्रजातंत्र की धनान्धकार धूल, कल्याणकारी शासन की धूल और इस धूल में कहाँ है अझंखा में झाँकती अपनी जनता तक ले जानेवाली सड़क।"[1] गांव को ऊपर से देखने पर जो नज़र आएँगे वह नहीं है यथार्थ गांव, उसकी असलियत की गहराई में पैठना बहुत मुश्किल है । विराज,

---

1. विवेकीराय - समरशेष है - पृ. सं : 25
2. विवेकीराय - समरशेष है - पृ. सं : 138

जनता, सुराज़ और रामराज जैसे नाम केवल नाम न होकर प्रतीक भी है । देश के नेता कहलानेवाले लोगों ने इस देश को बहुत धोखा दिया हैं । वउन लोगों ने स्वार्थसिद्धि के लिए सारे क्षेत्रों को दूषित किया है । 'सोनामाटी' की ही तरह 'समरशेष है' भी समूचे तन्त्र द्वारा पूर्वांचल की उपेक्षा और शोषण का श्वेतपत्र है ।

'चाक' में चित्रित अतरपुर अंचल में अस्पताल, पोस्ट्ऑफिस कुछ नहीं थे, गांव के प्रधानजी फत्ते सिंह का कहना है कि सरकारी लोगों के रहने से गांव का आदमी चालाक हो जाएगा। शिक्षा का क्षेत्र आज राजनीति का मोहरा बना हुआ है । चुनाव उस अंचल में दंगल है । ऐसे दंगल जिसमें गांव के हर आदमी को कुश्ती लड़नी है । उस अंचल की उन्नति और अवनति सचमुच प्रधानं के दिमाग की उपज होती थी । प्रधान भ्रष्टाचार के सारा चांल रंजीत को भी सिखाते हैं । लाला भवानीदास अपने पुत्र को चुनाव में जिताने के लिए शहर से बहू को लाकर गांव की स्त्रीयों को अपने चाल में करा देता है । भरतपुर में जब चुनाव आने पर रानी महारानी तक गंदी गलियों में वोट के लिए हाथ जोड़ती हुई आती हैं जब सारंग प्रधान पद के लिए खड़े हो जाती है तब प्रधानजी बूथ कैप्चरिंग करने केलिए भी तैयार हो जाते हैं । सत्ता का स्वाद पाया हुआ व्यक्ति कभी उससे मुक्ति नहीं चाहता । वह उसमें डूब मरना ही पसन्द करता है।

'इदन्नमम' में मन्दा के पिता महेन्द्र की हत्या गांव के विपक्षी दलों के आदमी द्वारा हुई थी। सरकार और विपक्षीदलों का गोरख धंधा गांव में मछेरों को जालसा फैला है। वे लोग जीभ ज़ुबान से लोक सभा विधान सभा में लड़ते

हैं और मारकाट मचाकर दिल्ली लखनऊ में शोक मनाते हैं। दादा का श्यामली गांव आदर्श गांव है, वहाँ चुनाव इसलिए नहीं होता कि आज़ादी के जज्ञ आखों से देखा था । वे लोग सदा निर्विरोध के पक्ष में हैं और मानते हैं कि वोटों के कारण पार्टी बन्दी होती है और इससे बस्ति का विभाजन होता है। इसलिए वे लोग पंचायत ही मुख्य मानते हैं । श्यामली गांव में पंचायत पिता के समान और गांव के सब लोग संतान जैसे हैं । लेकिन वहाँ भी राजनीति की दूषित हवा फैलने में अधिक देर नहीं हुई। इसके फलस्वरूप श्यामली गांव में भी प्रधान पद ससुर व्यापार हो गयी है । जो ज़्यादा से ज़्यादा खर्च करे वही होता है प्रधान।

इस उपन्यास में चित्रित दूसरा गांव सोनपुरा की स्थिति भी भिन्न नहीं है। वहाँ आदमी हिम्मतवर नहीं, सरकार बहरी है, रांवणराज हो रहा है। सोनपुरा में जगेसर और अभिलाख सिंह जैसे लोगों का बोलबाला है। वहाँ प्रजातंत्र नही बल्कि शोषण तंत्र लागू है । नोकरशाह राजनेताओं के हाथ का खिलौना हो गया है । राजासाब जैसे राजनीतिज्ञों के लिए गांव के लोग मूर्ख था, लेकिन अब स्थिति बदल गयी है । वह अपने देश के पिछड़ेपन का कारण गांव में बसे लोगों को मानता है । गांव के लोगों की आंखों में धूल झोंकने केलिए एक डॉक्टर की लनियुक्ति की जाती है । लेकिन दो हफ्तों के बाद उसका तबादला दूसरे गांव में किया जाता है। ये सब नेताओं के वोट बटोरने का चाल है । मन्दा ने गांववालों को समझाते है कि "ये नेता लोग हमें जीवित आदमी नहीं केवल वोट समझते है । हम सोचने समझने का माद्दा रखनेवाला

इनसान नहीं, इनकी निगाह में कागज़ पर ढूकी मोहर है"[1] राजनेता गांव के लोगों को इस्तेमाल की चीज़ मानते हैं । आजकल राजनीति का आदमी डाकू, चोर, ठग से भी ज़्यादा खतरनाक हो गया है। राजनीतिज्ञ लोगों को वाणी से चमतकृत करते हैं, कथनी और करनी को अलग अलग करके रखते हैं और अवसर ही इनके हर कदम काआधार होता है।

'बीसबरस' में बीस वर्ष के बाद गांव आए दामोदर को लगता है कि गांव के लोग संवेदनशून्य हो गये हैं। राजनीति गांव के लोगों के बीच इतने हावी हो गयी है कि पता नहीं कौन कब किस बात का अर्थ निकाले। गांव में अब गन्दी राजनीति के अलावा कुछ नहीं है। राजनीति और अपने काम काज से लोगों को फुरसत ही नहीं है । राजनीति के कारण गांव में अकेलापन आ गया है । जिन्हें नौकरी नहीं मिलती वे राजनीति में घुसकर राजनीति की दलाली करके गांव गांव में भेद भाव, कलह, आपसी टकराहटें पैदा करते हैं। जिन लोगों को शिक्षा के क्षेत्र में नौकरी मिली वो अपने दयित्व का पालन कम राजनीति ज़्यादा करते हैं । सरकार अखबारों, रेड़ियो और टी.वी. के माध्यम से ऐलान कर देती है कि देहात की सारी समस्या दूर हो गयी।

राजनीति की विभिन्न चालें सीखकर गांव के लोगों ने अपने भोलेपन खो दिया है । बदलते ग्रामीण मूल्यों का नया यथार्थ 'जहाँ खिले है रक्त पलाश' में देख सकते हैं। जंगलदस्ता दावा करते हैं कि वह गांव के शोषकों के खिलाफ लड़ता है। लेकिन फगुनि सिंह जैसे सामंतों के आगे उनका दृढ़ निश्चय ढ़ीली

---

1. मैत्रेयी पुष्पा - इदन्नमम - पृ.सं : 382

भी पड़ जाता है। फगुनिसिंह को एम.पी बनाने का वादा दिलाता है जंगल दस्ता। दस्ते के लोग वोट सावन, भादों के महीने में होने के लिए इच्छा प्रकट करते है ताकि देहात के कीचड़ - पांक में न पुलिस का दौरा होगा न बाढ़ बरसात में वोटपार्टी भी हर जगह पहूँच सकेगी । पलामू में भी नेता लोग सड़क की वादा देकर वोट बटोरना चाहते हैं।

राजनीति को फलने फूलने में सहायता करते है जंगलदस्ते । इन्हीं राजनेताओं ने अपने स्वार्थ हितों की पूर्ति के लिए जंगलदस्ते का पालन पोषण करके उसका संरक्षण किया है । जब जंगलदस्ते को समझ में आ गया कि वे व्यर्थ में ही राजनेताओं का महत्व दे रहे है तब टेकरूसिंह जैसे सामंत को खतम करने पर तुला रहता है । आज विधान सभा और लोक सभा में जितने लोग बैठे हैं वे सब हत्यारे और अपराधी लोग से भी ज़्यादा खतरनाक हैं । पलामू का यह रहस्य पूरे देश के सरगनाओं की समझ में आ गया है, इसलिए अब वे स्वयं राजनेता बन गये हैं । उनके सामने देश और देश की जनता नहीं बल्कि अपने खतरनाक संगठना महत्वपूर्ण हैं । दस्ते का नारा है समाज में बराबरी का हक और वर्ग शत्रुओं का सफाया । लेकिन दस्ते के लोग एक तरफ वोट बहिष्कार करने का बात करता है तो दूसरी तरफ ठेकरूसिंह जैसे उम्मीदवारों से मिलकर उनके लिए बूथ कब्जात करता है।

आज समाज में होनेवाले चुनाव और उसमें छिपे खोखलेपन को हम 'यह अन्त नहीं' में देख सकते हैं । बिहार भारत का एक प्रांत भर नहीं है । वह अपने आप में एक प्रतीक है, ब्राह्मणवादी राजनीतिक वर्चस्व को अपदस्थ कर पिछड़ी जातियों द्वारा सांगठनिक प्रभुता हासिल करने का प्रतीक ।

बीहार इस बात का प्रमाण है कि राजनीति चाहे जातिगत वैषम्यों को सुलगाकर पुख्ता किए जाने वाले बैंक पर जीवित है।

समकालीन राजनीतिक परिवेश में गांव की मानवीयता उत्तरोत्तर कम होने लगी है। आज की खोखली राजनीति के दबाव में विसंगतियाँ भी तीव्रतर हो गई हैं । गांवों में आई चेतना की नई लहर ने वहाँ के सामन्ती परिवेश को उखाड़कर दूर फेंकने का कार्य किया है । लेकिन कपटी और छली राजनीतिज्ञों ने बिहार जैसे राज्यों के गांवों को और अधिक नरक में धकेलने का कार्य किया है। यहाँ के मंत्री लोग दिन ब दिन अमीर होते जाते हैं । लेकिन गरीब लोगों के लिए उनकी गरीबी और बदहाली ही मुबारक है। इस बात का संकेत हमें रघुनाथपुर गांव के हाल से मिलता है।

आजकल की राजनीति नैतिकता विहीन बन गयी है। आज की राजनीति चतुराई की राजनीति है। इस चतुराई का यथार्थ चित्रण वीरेन्द्र जैन के 'डूब' और 'पार' उपन्यास में हुआ है । 'डूब' में एक जगह रातनीति के संबन्ध में कहा गया है "राजनीति ससुरी चीज़ ही ऐसी है । चतुराई सिखा देती है, चतुर बना देती है।"[1] नेता लोग चतुराई से जतिगत नेताओं को धन का लोभ देकर बहला फुसलाकर अपनी तरफ कर लेते हैं । 'डूब' में मोतिसाव और ठाकूर माते को इसलिए अपनी तरफ रखना चाहते हैं क्यों कि वह किसानों के अनिषेध्य नेता है । माते के मन में नेताओं के दोगलेपन के विरुद्ध विद्रोह की भावना है इसलिए वोट माँगनेवालों को 'वोटन का भीखारी' कहकर

---

1. वीरेन्द्र जैन - डूब - पृ . सं :41

संबोधित करता है। राजनीति अपने कलंक को छिपाके रखने का एक पर्दा भी है। इसलिए महाराज पंड़ितजी अपने पुत्र के कलंक को छिपाने के लिए चुनाव में भाग लेते हैं। लेखक ने अत्यन्त सूक्षमता के साथ धर्म में फैली असंगतियों और उसका किस तरह से राजनीति में इस्तेमाल किया जाता है इसका भी चित्रण किया है। मोतीसाव को चुनाव से हटाने के लिए ठाकूर धर्म का इस्तेमाल करते हैं।

स्वतंत्रता प्राप्ति के पहले भारतवासियों का शोषण विदेशी करता था। उन लोगों के जाने के बाद भी शोषण जैसा का तैसा रहा। विदेशियों के बाद आए शोषक थे सवर्ण सामन्त। गरीब की नियति में स्वतंत्रता नहीं लिखी गई है। इसलिए जब तक यह दुनिया रहेगी सामन्तों, पूँजिपतियों, राजनीतिज्ञों द्वारा गरीबों का शोषण होता रहेगा। पहले जो लोग चुपचाप अत्याचारों को सहन करते थे अब वे वोट, चुनाव तक को बहिष्कार करके सरकार के खिलाफ उंगली उठाने लगे । इसी विद्रोह का स्वर और बदलती प्रतिक्रिया को हम इन विभिन्न अंचल केन्द्रित उपन्यासों में देख सकते हैं ।

पारिस्थितिक शोषण :

हमारे देश का पर्यावरण भणड़ार बहुत तेज़ी से चुकता जा रहा है। बिगड़ता पर्यावरण और सामाजिक अन्याय एक ही सिक्के के दो पहलू है। पर्यावरण और लोगों की हालत एक दूसरे से जुड़ी चीज़ है। पर्यावरण का मतलब कुछ सुहावनी प्राकृतिक चीज़ों का संरक्षण नहीं है, वह एक विस्तृत फैला हुआ एक ऐसा संसाधन है, जिस पर उनकी रोजमर्रा की आर्थिक ज़िन्दगी,

सामाजिक उन्नति और आध्यात्मिक प्रेरणा टिकी हुई है । आज का विकास तो एक ऐसा माध्यम बन गया है जिसके ज़रिए अमीर और ताकतवर वर्ग देश के प्राकृतिक संसाधनों को अपने कब्जे में करता जा रहा है और इस षड्यन्त्र में आधुनिक तकनीक पूरी मदद कर रही है। आज की विकास शैली से शाह पाकर पनपनेवाला उपभोग का ढ़ांचा कुछ ऐसा है वह लोगों के आसपास के पर्यावरण को भी तोड़ता है। सांसारिक सुख-भोग तथा विलासिता के सागर में आकंठ डूबा मानव, प्रकृति से दिन प्रतिदिन कोसों दूर होता चला जा रहा है।

'डूब' का प्रतिपाद्य विषय देश के विकास के लिए तैयार की गयी बाँध परियोजना के तहत विस्थापित जनजीवन का है। यहाँ बाँध बनाये जाने से क्षतिग्रस्त परिस्थिति के विभिन्न पहलुओं को सामने लाने की कोशिश की गयी है । उत्तर प्रदेश में बननेवाले 'टिहरी जैम प्रोजेक्ट और उससे प्रभावित होनेवालें व्यापक जनजीवन और प्रतिरोध में विरोध के स्वर पूरे नब्बे वर्ष और इकानब्बे के मध्य तक को उद्देलित किए रहे । उपन्यास 'डूब' की मूल कथा इसी त्रासद तथ्य से उद्भूत है । उत्तर प्रदेश और मध्यप्रदेश जब बिजली से चमक उड़ेंगे तब हज़ारों गांव के नमोनिशान तक नहीं रहेंगे। यही है हमारे विकास योजनाएँ। हमारी जितनी प्रमुख नदियाँ हैं उन सभी पर या तो बाँध बन चुके हैं, या बन रहे हैं । ज्यों ज्यों बाँध बनाने का क्रम तेज़ी से पकड़ता गया त्यों त्यों देश भर में यत्र तत्र सक्रिय पर्यावरणवादियों ने इनके हानी लाभ की और लोगों को जागृत करना भी शुरू कर दिया । बाँधों का सीधा असर स्थानीय जनों पर पड़ता है। सिंचाई और बिजली दोनों के लिए बाँध के निर्माण करने से असंख्य जन खानाबदोश बन जाते हैं । खेत, मकान सब पानी में डूब जाते हैं । बहुत

वृक्षों की कटाई होती है । बीस प्रतिशत लोगों की सुख सुविधा के लिए शिकार होते हैं अस्सी प्रतिशत लोग।

बाँध के निर्माण के लिए नदि का तल बढ़ाने केलिए मिट्टी के बड़े बड़े टीने खड़े किए जाते है । इससे वहाँ का पारिस्थितिक संतुलन बिगड़ जाता है । जिस लड़ैई को केवल सूखे का अनुभव है वहाँ साल में दो तीन बार बाढ़ आने लगी । परिणाम स्वरूप विस्तृत अंचल रूक्ष, निष्पादन और अनुर्वर बन जाता है, दूसरी ओर पानी के साथ निकली मिट्टी का स्वाभाविक प्रवाह बाधित होता है । इससे उपजाऊ ज़मीन फसल के बजाए केवल चारा उगाने योग्य रह जाती है।

बाँध के लिए मिट्टी निकालने से एक अन्य समस्या भी सामने आती है पशुपालन क्षेत्र का नाश । देखने में यह समस्या मामूली सी प्रतीत होगी मगर यह एक गंभीर समस्या है । भारतवर्ष में जनसंख्या का पैंतीस प्रतिशत हिस्सा पशुपालन पर निर्भर है । समग्र मराठवाड़ा, गुजरात, उत्तर कर्नाटक, मध्यप्रदेश, राजस्थान और उत्तरांचल के कुमायूँ गढ़वाल इन्हीं इलाकों में है। 'डूब' उपन्यास का क्षेत्र भी मध्य भारत के ग्वालियर क्षेत्र है । इसलिए ज़मीन के घास वे जंगल शून्य हो जाने पर इन इलाकों के मनुष्यों और पशुओं का जीवन कठिन हो गया है । विभिन्न बड़े बाँधों के डूब इलाकों के लोग दूसरे गांवें में पुनर्वास के नाम पर बसाए गए हैं। इस उपन्यास में भी हम देखते हैं कि लड़ैई गांव के लोगों को दूर पहाड़ पर बसाने का निर्णय लेते हैं । समृद्ध हरा भरा अंचल ऊसर और मरुभूमि में तब्दील हो गया है ।

सिंचाई के बहाने हमारे यहाँ बड़े बड़े बाँध तैयार किये जाते हैं । बांधों के निर्माण से जलाशयों और उनके भी पीछे के इलाकों में नदीयों का प्रवाह अवरुद्ध हो जाता है । मामूली वर्षा में जमा पानी सहज तौर पर बहकर नहीं निकल पाता कई सालों तक यह पानी ज़मीन पर रहने पर लवणायुक्त नष्ट होकर उसकी सहज ऊर्ववरता नष्ट हो जाती है । प्रकृति का सबसे महत्वपूर्ण उपादान है जल। इतना महत्वपूर्ण उपादान होते हुए भी यह उपादान शायद सबसे ज़्यादा क्षतिग्रस्त हुआ है । इस चिरन्तन स्वाभाविक और प्रचुर जल भंड़ार से खेती और पेयजल की व्यवस्थाएं अलग कर लेने का अर्थ प्रकृति के आवश्यक अनुशासन को तोड़ना है । इस स्वच्छता को आधुनिक तकनीकी की थोड़ी बहुत मदद से दीर्घस्थायी पर्यावरण अनुकूल कार्य करने के बजाय, नदियों पर बड़े बाँधों से पानी निकालने की पद्धति से ज़मीन और जल दोनों का सत्यानाश हो रहा है । भोपाल में हुए ग्यास ट्राजड़ी का उल्लेख भी 'डूब' में किया गया है । अमेरिका का एक कारखाना है भोपाल में। वहाँ खेतों में काम आनेवाली खाद और कीटनाशक दवाइयाँ बनती है। एक रात इस ज़हरीली गैस रिस जाने से पूरे शहर के हज़ारों लोग रातों रात मर गये थे और हज़ारों लोग अपंग भी हो गए।

विकास योजनाओं के नाम पर विनाश से अभिशप्त पीढ़ियों की कथा है 'पार'। एक अंचल विशेष पर केन्द्रित होते हुए भी पूरे भारत राष्ट्र राज्य के सच और वर्तमान को हमारे सामने उजागर करती है । विकास का अर्थ भौतिक चीज़ों के उत्पादन और खपत में बढ़ोतरी नहीं। विकास ऐसा उत्पादन नहीं है जिसे आर्थिक उन्नति से हासिल करे । विकास वह प्रक्रिया है जो समाज के

हर स्तरों, पंक्ति, समाज और देश के पहले से अधिक स्वावलंबी बनाता है और उसे अपना भविष्य तय करने की और अधिक आज़ादी देता है । यह वीरेन्द्रजैन के पूर्व उपन्यास 'डूब' का पूरक भी है और उससे आगे का इतिवृत्त भी । आदिम जनजाति है राउत वे अपनी ज़िन्दगी जंगलों में ही बिताते हैं, और कंद, मूल, फल, फूल, जड़ी-बूटी, जलावन छाजन से ही अपनी जीविका चलाते हैं। डाँग ही उनके जीवन का आसरा है । अब जंगल में भी गांव के लोग आ गये है । जंगल के बीच मवेशियों को देखकर जीरोन खेरे का मुखिया चिंतित है। बेतवा नदी के राजघाट पर बाँध बनानेवाले पूरी गैल और डाँग में से मिट्टी खोदकर ले गए हैं और इसलिए जगह जगह पर गहरे गड्ढे हैं। तमाम पेड़, खसपतवार, झाड़ियाँ, बेरियाँ, छोलियाँ सब सफा चट कर गए। अब हार में न हरियाली बची न समतल ज़मीन । बांधवालों की मिट्टी, पत्थर, लकड़ी की ज़रूरत है जो अभी भी पूरी नहीं हुई इसलिए वे लोग अपने आवश्यकतानुसार जंगल के वृक्ष काटते हैं । नदी का प्रवाह और मनुष्य की नियति दोनों कुछ इसप्रकार जुड़े थे कि एक को दूसरे से अलग करना असम्भव था। नदी, पहाड़, झरने अपने में ही सुन्दर नहीं होते वे अपने होने से आसपास की दुनिया को भी एक अलौकिक आभा से आलोकित कर देते हैं। बाँध से लाभ होगा शहर वालों का और नुकसान होगा गांववालों का। उन्हें बिना बादल और बरसात से बाढ़ मिलेगा । बाँधवाले नदी को आज़ादी से विचरने नहीं देंगे वे दोनों तरफ माटी के टीले उठाकर अपनी मनमाफिक दिशा में नदी को बहा ले जाते हैं । राजघाट पर काम के दौरान पानी न पहूँचे इसलिए नदी को जमूसर से कुछ पहले छेंक दिया गया है । इसलिए मूसर और जमूसर और कई गांव खेरों में

पानी जा पहूँचा था । जैसे जैसे बांध के काम बढ़ रहे हैं वैसे वैसे अन्य गांवों में भी पानी भरने लगा है।

लड़ैयावालों को बाँधवालों ने मिटा दिया। इसलिए गांव से आदमी, परिवार, कुनबे के कुनबे डेरा उठाकर शहर जा रहे हैं । इसप्रकार गांव के लोगों के प्रस्थान से शहर में भीड़भाड़ ज़्यादा हो जाएगा। जनसंख्या के इस असंतुलन का दबाव शहरों के संसाधनों तथा जीवन स्तर पर भी पड़ता है । गांवों से आए बेसहारा, बेघर, भूखे, प्यासे ग्रामीण शहरों के चौराहों, मैदानों में अपना टपरा बनाकर रहते हैं। सामान्य सुविधाओं के अभाव में गंदी बस्तियों में रहने केलिए वे विवश हो जाते हैं । बांधवालों ने राजघाट से लड़ैई तक जगह जगह से पेड़ उखाड़ दिए थे, बांध का तटबंध बनाने के लिए रास्ते से मिट्टी निकाल ले गए थे। इन गड्ढों के चलते गांववालों के लिए गांव से शहर तंक फसल ले जाना असंभव हो गया था । इसलिए बनिया, बाखर गांव छोड़कर शहरों में जा बसे थे । राजघाट बांध का काम ज्यों ज्यों आगे बढ़ा गांव से शहर तक फसल ले जाना दुभर हुआ था । जहाँ कभी दूर दूर तक खेती खलिहान थे वहाँ बांधवालों ने बड़ी बड़ी अट्टालिकाएँ खड़ी कर ली थीं ।

जब बांधवालों ने दोनों तरफ के तटबंध बनाने शुरू किए तब तो कहर ही बरसने लगा। बरसात का जो पानी पहाड़ों से उतरकर नालों के रास्ते तक जाता नहीं था, वह नदी में जाना बंद हो गया और पानी नाला में सड़ने लगा । इन नालों से दल दल जमा हो गया । नालों के रास्ते से बैलगाड़ी से ही नहीं, पैदल भी चंदेरी जाना कठिन होने लगा । बाँध पूरा होने तक एक बड़े क्षेत्र में जो पानी रुक रहा था उससे दलदल बनने की नई समस्या सामने आने

लगी । मलेरिया और पेट के रोग बढ़ने लगे । दलदल भूमिक्षरीयता बढ़ाते हैं इससे ज़मीन खेती योग्य नहीं रह जाएगी । बाँध के पानी के साथ जो रेत खेतों तक आती है वह रुक जाती है, वह खेतों को उपजाऊ नहीं रहने देगी ।

सरकार अभयारण्य बनाना चाहती है । बांध के लिए वन से होनेवाले वृक्षों की कटौती से वनों का भी नमोनिशान नहीं होगा । बांध पूरे होने पर हमारी वन संपदा, वनसंपत्ति और वन प्राणियों की जो हानी हो चुकेगी उसकी पूर्ति कभी भी नहीं हो सकेगी । सरकार प्राकृतिक वनों की संरचना की बात कहती है । लेकिन वह एटिल प्रक्रिया है । हज़ारों वर्ष का विकास ही वनसंपत्ति से प्रदान हुआ है वह बहुमूल्य वन और जैविक संपदा होती है । क्रित्रिमरूप से रोपिन वनों में वह बात आही नहीं सकती । जब बाँध के लिए ही सरकार के पास पैसा नहीं है तब पर्यावरण सुधार की बात सरकार की तरफ से बड़े दूर की बात है । पूँजीवादी मानसिकता, वैश्वीकरण, बाज़ारवाद आदि के सम्मिलित रूप ने एक अमानवीयकरण को जन्म दिया, न केवल मनुष्यों के प्रति अपितु नदी, पेड़, फूल समूचे प्रकृति के प्रति बेरहमी का भाव पसरा हुआ है। आज लगभग तय हो चुका है कि अकाल, सूखा, भूकंप, अनावृष्टि, घटता हुआ जल स्तर आदि प्राकृतिक प्रकोप नहीं है। ये सब प्रकृति के प्रति अप्राकृतिक आचरण के कुफल हैं ।

'जहाँ खिले है रक्त पलाश' में राकेशकुमार सिंह ने परिस्थिति के प्रति मनुष्यों के घिनौने हरकतों और अपने स्वार्थ के लिए प्रकृति के शोषण करने के विभिन्न तरीकों पर भी विचार किया है । गाजर घास और चववाड़ पहले पलामू में नहीं होते थे। जब विदेशी यहाँ आया था तब से वे विदेशी राशन के

साथ ही आए हैं, यह विनाशक विदेशी बीज है । ये बीज रक्त बीन की तरह हर साल को सदर कोस फैले हैं । पलामू की स्थानीय वनस्पतियों को बड़ी तेज़ी से विस्थापित कर रही है यह गाजर घास । पलामू के जंगल अब शहरों में जा बसे है । हमारा देश आज़ाद हुआ तब देश की औसत चालीस पतिशत ज़मीन वनाच्छादित थी। धीरे धीरे जंगल कटते गए। आज हमारे देश के केवल ग्यारह प्रतिशत जंगल रह गए हैं। पलामू के जंगल अब शहरों में दरवाज़ों, खिड़कियों, शहमीरों, केबिनटों, सोफासेटों और डाइनिंग टेबिलों की शक्ल में हैं। आने वाली पीढ़ी को देखने के लिए जंगल नहीं होगे जो शेष रह गया है वह भी समाप्त होते जा रहे हैं । इससे बरसात कम होती जा रही है और देश को आधे से अधिक हिस्सा सूखे का प्रकोप झेल रहा है । मध्यप्रदेश, महाराष्ट्रा, गुजरात, तेलंगाना, रायलसीमा, कर्नाटक का पश्चिमि भाग आदि बरसों से सूखे का सामना कर रहे हैं । जंगल को इसतरह निगल लेने की प्रवृत्ति करने वाला और कोई नहीं हमारे शासक और कानून है ।

अमेरिका में जब मूल्य संतुलन बनाये रखने के लिए टनों अनाज समुद्रों में डूब दिया जता है, कई एकड़ में पकी तैयार खड़ी फसल आग में झोंक दी जाती है । पलामू में भूख से हर वर्ष सौकड़ों की मौत होती है । जो सरकारी रपटों में अज्ञात रोग से मृत्यू के रूप में दर्ज की जती है। पलामू के रेलवेस्टेशन में सूट बूट पहनकर आनेवाले लोगों को यदि जाँच करने पर उनके हाथ से कत्था, हाथी का दान्त , बाघ का हाड़, हरिण चीता की छाल आदि मिलेगा। बदले में देते है नक्शे उजला पौड़र, हिरोइन, ये सब माल रेलवेस्टेशन के चाय पानी गुमाटियों में बिकता है ।

अब कल कारखानों के कचरे से संकट में है जलचरा । कारखानों के कारण दक्षिणी कोयला का पानी दूषित हो चुका है । विलुप्त होने के कगार पर है दामोदर नदी, कोयल। पर्यटक विभाग की वातानुकूलित कारों पर जंगलों का नज़ारा करने केलिए आनेवाले लोगों के लिए नंगे आदिवासी, खपडी पेट के बच्चे, अधनंगी आदिवासी, वीरान बस्तियों, बूढ़े सब कुतूहलता भरने वाला दृष्य है । पलामू जंगल ही नहीं पहाड़ों को भी छेदती रहती है । बाँध के लिए तोड़ते है पत्थर । इसको छेदने के लिए बिलों में बारूदी पाउडर भरते है । फिर रात भर टूटने की आवाज़ । जंगल का टकर नये जंगल लगाने की आकाशी योजनाएँ हैं सरकार को । पेड़ को काटने पर हम दस पेड़ उगाये जा सकते है । किन्तु पहाड़ के काटने के बाद नये पहाड़ कैसे उगाये जायेंगे? टनकपुरा में बनजाने वाले बांध के लिए ही यह सारा शोषण हो रहा है।

अब भूमि के लिए संघर्ष करने से कोई फायदा नहीं, क्यों कि अधिकांश भूमि अब पठार है और सिंचाई की पर्याप्त सुविधा तक नहीं । भूमि अपनी रत्नगर्भा विशेषताओं के लिए देशी विदेशी कंपनियों द्वारा अधिगृहित की जा रही है । पलामू की सड़कों पर वन्य पदार्थों की तस्करी पर रोक लगाने के लिए जगह जगह चेक नाके हैं । लेकिन गाडियों की चेंकिग का नाटक होता है क्यों कि चेकिंग करने वाले भी जानते हैं कि माल सड़को से नहीं बल्कि आधीरात जंगल से, घोड़ों, साइकिलों और सिर पर लादकर गढ़वा रहेला के बाज़ारों में पहूँचाता है । भोलता नदी अब गंदा नाला बन चुकी है । रोहला कॉस्टिक फैक्टरी का सारा उच्छिष्ट गलज़ इसी नदी में उड़ेला जाता है । रेहल कॉस्टिक कारखाने के लिए नित्य एक दो रौक कच्चा माल लाती हैं रेलगाडियाँ।

स्टेशन के यार्ड में बोरे उतरते हैं यह बरसात में धूलधूलकर बहता रहता है । इसी कारण से स्टेशन के निकट के कई बीघे खेत बंजर हो चुके हैं, पर किसानों को कोई चिन्ता नहीं। क्यों कि उन लोगों को ज़मीन की मुआवज़ा मिली है । भूमि के भीतर के जल स्रोतों में यूरिया, नाइस्टोजन, सल्फर और फ्लोरइड गुलता रहे, बहुत लोगों की भूमि अधि गृहित करके कारखाना लगाया है पलामू की ज़मीन पर । विरोधी राजनीतिक दलों को तो इस प्रदूषण की चिन्ता है ही नहीं । कारखानों से कच्चा माल गाडी से उतरनेवालों में छोटी जातियों के लोग ही ज़्यादा है । रसायन की मार से लाल लाल चकते हो जाते है इनके पीठ। यह ज़हरीला रसायन सांसों के साथ फेफड़ों को छलनी करता है और टी. बी. रोग का कारण बन जाता है । यहाँ काम करनेवालों के लिए कंपनी ने न मास्क दिए है न डांगरी । गरीबों के बारे में किसी को चिन्ता नहीं। कारखानेदार ने सभी राजनीतिज्ञों को चंदा देकर अपने जेब के अन्दर रखा है । कोयल नदी का पानी गन्दा करने पर भी सरकार ने कॉस्टिक फैक्टरी को जिले के सर्वोत्तम प्रदूषण मुक्त संस्थान का पुरस्कार दिया है ।

कोयला नदी के पार पुराना पलाश वन के स्थान में वन विभाग नया जंगल बनाने की कोशिश में है । खेतिवाले ज़मीन को सींचने योग्य के लिए कोई योजना बनाने के बदले जंगल लगा रहे हैं । वन-विभाग यूकालिप्टस और विदेशी बबूल जैसे पेड़ लगते हैं । ये पेड़ इतना पानी सोखता है कि इलाके का सारा भूमि बंजर बन जाते है । इसलिए इन वृक्षों के जलनाशी वृक्ष कहते है। भूदान में विनोबाजी को सबसे ज़्यादा इक्कीस लाख एकड़ ज़मीन बिहार में मिली थी । उस वक्त पलामू घोर जंगल था । लेकिन अब जंगल के ज़मीन

को धड़ा धड़ व्यापारी, कारखानेदार खरीद रहे हैं, क्योंकि इन स्वार्थी लोगों को ज़मीन के नीचे के खज़ाने के बारे में पता चला है। कोयले, लोहे, अबरक, जिप्सम, तेल के तालाब है ज़मीन के नीचे। अब पलामू की भूमि पर धान गेंहूँ, दलहन और तिलहन नहीं उगेंगा बदले में उगेंगे तेल के कुएँ । प्यासी को पीने के लिए मिलेंगे तेल, डीज़ल और पेट्रोल । अब पलामू की धरती से कोयल जाएगा विदेश वहाँ के बिजली घरों के अजगर और हथियारों के कारखानों खायेंगे हमारा फस्ट क्लास कग्रेट इंडियन कोल और उगालेंगे ज़हरीला धुआँ।

अनुपम सौन्दर्य से परिपूर्ण पहाड़ चिरकाल से आकर्षण का केन्द्र बना रहा है । मगर इनकी अपत्यकाओं में जीवन बसर कर रहे श्रमशील लोगों के पहड़ जैसे दुख दर्द से बहुत कम लोग परिचित हैं । इन्हीं पहाड़ों और इनमें बसे लोगों ने मानवजंाति के लुप्त प्राय मूल्यों, सभ्यताओं, संस्कृतियों के तत्वों और पृथ्वी के परिवेश को बचाये रखा है। विषम होती परिस्थिति के इस देशकाल में सबसे अधिक अहित पहाड़ों का ही हुआ है । क्यों कि मनुष्य की लालसाओं ने अपने लाभ केलिए न केवल प्रकृति को नुकसान पहूँचाया है, बल्कि इनमें रह रहे भोले भाले लोगों का इस्तेमाल भी अपने स्वार्थ और सुख केलिए किया है । 'इदन्नम्म' में विध्याचंल के पहाड़ी प्रदेशों पर होनेवाले पारिस्थितिक शोषण का ज़िक्र भी मैत्रेयी पुष्पा ने किया है। पहाड़ हमारी प्राकृतिक सम्पदाओं में एक है । "प्रकृति में जो कुछ विद्यमान है उसका मूल्य अपरिमित है । उसके दोहन और उपभोग और उसकी पुनर्रचना, पुनर्भरण में नियत्रंण स्थापित करने की सामर्थ्य स्वयं प्रकृति के ही पास है।"[1]

---

1. शंभू पटवा - पर्यावरण क संस्कृति - पृ सं 50

सोनपुरा का बदलारूप देखकर बऊ को सन्देह होता है कि वह गलत रास्ते में आ गया है । जब वह गांव में प्रवेश करता है तब धूल से भरा माहौल ही उनका स्वागत करता है । सोनपुरा में अब चारों तरफ धूल ही धूल है । खेतों में गिट्टी मुरम पीसने के लिए फसल के स्थान पर मशीनें गढ़ी हैं । चारों ओर बजरी, रेता, और धूल के बवंडर है नाक में रेत ज़बरदस्ती घुसी जाती है। गांव में जहां पहले जंगल नदी थे वहां बिजली स्टेशन बन गया है । कच्ची मिट्टी कहीं भी नहीं । पथरन में कभी फसल भी नहीं उगेगी । "खाली धरती देख के किसान क्या बिरमा तक का मन पापी हो जाता है । वे भी ऐसी माता की कोख में जीव सिरज देता है जो मन ही न पाये"[1] मशीन एक ही खेत में नहीं बल्कि सभी खेतों में है। ब्लास्टिंग होते समय फसल का नुकसान होता है।

सरकर के विकास से किसी का खेत, किसी का बागं, किसी का पेड़, ताल, घूरा, पोखर, आदि अप्रत्यक्ष हो रहे थे । सरकार का दावा है कि बड़े बड़े विकास के लिए इतने छोटे छोटे कार्यों के लिए रोना मूर्खता है । यदि किसान, गरीब इसीतरह रोयेंगे तो देश आगे प्रगति के पथ पर कैसे जाएँगे? यह तो सत्य है कि बिजली न होती तो ट्यूबवैल की सुविधा और खाद बीज के कारखाने न होते और उन्नत फसलों की बातें सोच भी नहीं सकता था। सोनपुरा के पहाड़ काटकर क्रेशरों ने पहाड़ को ही नहीं बल्कि वहाँ रहने वाले किसान, मज़दूर, गरीबों के जीवन ही पीस डाला हैं । क्रैशरों के कारण गांवों में धूल ही धूल छायी रहती है। मज़दूरों के ही नहीं किसनों के शरीर भी बीमारियों के घर

---

1. मैत्रेयीपुष्पा - इदन्नमम - पृ . सं: 166

बन गये हैं । लछो का पति परबतिया को धूर धंगर में काम करने के कारण डस्ट से फेंफड़े खराब हो गया है । उसे मज़बूरन काम करना पड़ता है नहीं तो भूखे पेट रहना होगा ।

बरसात मालिक और मज़दूर दोनों के लिए अशुभ है । खदानों में पानी भरने के कारण बरसात के दिनों में पत्थर नहीं टूटते हैं । गिट्टी भीगकर भारी हो जती है और इससे बजरी बह जाती है । राउत रातभर टपरियों में से पानी उलीचते रहते है। उन दिनों मज़दूर गांव से बसेरा करते है, लेकिन आदिवासी राउतों को कोई टिकाना नहीं । उन्हें सरकार जंगल से भगा दिया है । अब जंगल ढेकेदरों के हाथ में हैं। क्रेशर्स के कारण पहाड़पुर अनहाइजीनिक कंडीशन्स है । वहाँ गन्दे पानी के कारण, दमाखांसी, टी.बी, पीलिया, टाइफाइड आदि बीमारियां फैलने लगी हैं। ये सबं बीमारियाँ डस्ट और गन्हे पाने के कारण ही फैल रही हैं । धूल मज़दूरों का सहसे बड़ा दुश्मन बनगयी है । डस्ट दबाने के लिए क्रैशर्स में फव्वारे लगाने चाहिए लेकिन सरकार के ही क्रैशर्स में फव्वारे नहीं लगाया है फिर अन्य लोगों को क्या कहना ।

वर्तमान आधुनिक समय की सबसे बड़ी चिंता.बिगड़ते और असंतुलित होते पर्यावरण की है । जितनी द्रुत गति से इस धरती के प्राकृतिक संसाधनों का क्षरण हो रहा है अथवा उनका विनाश हो रहा है, उससे आगमी दो तीन दशकों में जल, ज़मीन, और हवा की हालत सचमुच आशंका जनक हो जाएगी । प्राणीशून्य, पेड़- पौधों से रहित एक जलहीन पृथ्वी पर अपने प्रसादों में भी निवास असंभव है। सामान बटोरकर सुख के क्रम में जीते लोग भूल जाते है कि मनुष्य का अतीत व भविष्य इसी पृथ्वी में समाहित है। इसके बाहर

उसका कोई वजूद नहीं है । अति भौतिकवादि होने से हम भारतीय अपनी ही उत्पत्ति के मूल कारकों का विनाश करने पर तुले हुए हैं । पर्वत, नदी, हवा, जल वृक्ष सभी का विनाश करते हुए हम प्रफुल्लित हो रहे हैं । इस बदलती भारतीय मानसिकता को अपने आंचलिक उपन्यासों के द्वारा चित्रित करने में समकालीन आंचलिक उपन्यासकार सफल हुए हैं ।

आज गांव सिमट रहे हैं और शहरों का क्षेत्रफल बढ़ रहा है। गाव के आस पास के जंगल भारागाह, कुएँ, नदियाँ, तालाब, खेत-खलिहान, पेड़-पौधे सभी गायब होते जा रहे हैं । गांव पर पड़नेवाले चोट पश्चिमी संस्कृति के कारण ही है । गांव की शक्ल-सूरत बिगाड़ने में उन लोगों का योगदान प्रत्यक्ष रूप से न होकर अप्रत्यक्ष रूप से हो रहा हैं । गांव में प्रकृति और समाज तथा मनुष्य का संघर्ष एक तरफ है तो, दूसरी तरफ परंपरा और नवीनता का संघर्ष है । भारत प्रकृति का देश है । नदियाँ, मौसम, ऋतुएँ इन सब से हम देश को पहचानते हैं । भूमणड़लीकरण और बाज़ारवाद के कारण आज गांवों में जो सांस्कृतिक बहुलता का नाश दिखायी देता है, वास्तव में वह भारतीय संस्कृति का ही नाश है । स्त्री-परुष का संबन्ध, दलितों- सवर्णों का संबन्ध, प्रकृति-मनुष्य के साथ संबन्ध सब के सब बिगड़ रहे हैं । हमारे जीवन में धार्मिक मान्यताओं और त्योंहारों तथा उत्सवों का बहुत महत्व था । लेकिन बदलती परिस्थितियों ने न केवल हमारे त्योहारों और उत्सवों को ही बदला है, बल्कि हमारी भावनाओं को भी परिवर्तित किया हैं । पराधीनता के समय गांव का जो वर्ग ज़मीन्दार के रूप में शोषण करता रहा था स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद नेता के रूप में परिवर्तित हो गया । शोषण के तरीके में परिवर्तन हो गया मात्रा में कमी नहीं हुई ।

गांव हर क्षेत्र में हर तरफ से उपेक्षित है। चाहे राजनीतिक प्रतिनिधित्व हो, चाहे सामाजिक महत्ता और चाहे सांस्कृतिक निष्ठा से हो। यहाँ चित्रित गांव केन्द्रित आंचलिक उपन्यासों के भिन्न भिन्न गांव अपनी परंपरागत तस्वीर लिए हुए हैं। लेकिन ये उपन्यास इस तथ्य को बार बार रेखांकित करते हैं कि भारतीय गांव बदल रहे हैं और आनेवाले दिन में इसका हाल क्या होगा? व्यक्तिगत स्वार्थ के महत्वपूर्ण होते जाने या बना दिये जाने की प्रक्रिया में सामूहिकता की भावना निरन्तर चोट खाती रही है । लेकिन एक बात ज़रूर है कि गांव की प्रतिरोध शक्ति आज पहले से भी ज़्यादा बढ़ गया है । गांव में जिन समस्याओं से गांववाले जूझ रहे हैं, इन समस्याओं पर चिन्तन ज़रूरी है और उनके समाधान भी उतनी ही तीव्र आवश्यकता भी है।

❖❖❖

तीसरा अध्याय
शहर केन्द्रित आंचलिक उपन्यास

भूमिका :

ग्राम प्रायः उस बस्ती को कहा जाता है जहाँ लोग कृषि के आधार पर जीते हैं । शहर उसे कहा जाता है जहाँ लोग उद्योग को अपनी आजीविका का मुख्य स्रोत मानते हैं । गाँव या शहर एक ही मानव समाज के दो पृथक अंग हैं, जिसमें परस्पर कुछ समानताएँ और भिन्नताएँ भी हैं । एक सीमा के पश्चात कोई गाँव, नगर में समाहित हो जाता है और जब कोई क्षेत्र नगर की सीमा में नहीं आ पाता तो उसे कस्बा कहा जाता है । किसी भी समाज को समझने के लिए हमें उसकी आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक, पारिवारिक मान्यताओं को सर्वांगीण रूप से जानना आवश्यक है । मानव समाज के विकास के मुख्यतः चार सोपान हैं, पहला आदिम या जनजातीय, सोपान है तो दूसरा ग्रामीण स्तर है, तीसरा कस्बाई स्तर है यह अपनी देशज संस्कृति यानी ग्रामीण संस्कृति क़े नज़दीक होते हुए भी अपने को उच्च श्रेणी का मानता था। चौथा नगरीय स्तर का ही अत्यधिक विकसित रूप महानगरों में परिवर्तित हो जाता है ।

गाँव से कस्बा या उपनगर बनने कीं प्रक्रिया निरंतर चलती रहती है । 1950 के बाद गाँवों और शहरों में शिक्षा का जो तीव्र प्रसार हुआ उसने शिक्षित नव युवकों को रोज़ी रोटी की तलाश और बेहतर जीवन जीने की सुविधाओं की

प्राप्ति की आकांक्षा पैदा की और युवकों को बड़े नगरों और महानगरों की ओर आकर्षित किया । इसके अलावा बढ़ता हुआ औद्योगीकरण भी इसके लिए एक कारण बना था । इसके परिणाम स्वरूप हमारे लिए बड़े नगर और महानगर का जीवन महत्वपूर्ण हो गया।

गाँव से कस्बा या उपनगर बनाने की प्रक्रिया निरंतर रहती है । कस्बा या उपनगर मानवीय स्थापन्नता का ऐसा प्रारूप है जिसमें ग्रामीण और नगरीय दोनों प्रकार की विशेषताएँ एकसाथ परिदर्शित हैं । इसको हम न तो पूरी तरह से गाँव कह सकते हैं और न ही नगर । बड़े गाँव में जब नगरीय प्रवृत्तियों और गतिविधियों का समावेश होता है,और इनके क्रिया कलापों का स्वरूप व्यापक होने लगता है तब हम ऐसे गाँव को कस्बे की संज्ञा देते हैं । ग्रामीण क्षेत्र की बहुत सारी आवश्यकताओं को ये नंगर, महानगर और गाँवों के बीच में सेतु का काम करते हैं।

शहर एक ऐसा स्थान है जहाँ आगे देखने पर हमें उसकी चमचमाती,दिखावटी, लुभाती चमक-दमक ही नज़र आती है जिसके पीछे दरिद्रता, भुखमरी, बदहाली, बाढ़, सूखा, अकाल की विभीषिका का भीषण मुख भी है जिससे ज़्यादा से ज़्यादा लोग अपरिचित हैं । शहर वह स्थान है जहाँ एक निश्चित संख्या से अधिक लोग निवास करते हैं और जहाँ एक निश्चित सीमा के अंतर्गत नगरपलिका अपने अधिकारों का प्रयोग करती है । इसतरह शहर एक शासकीय इकाई है। गाँव और शहर का मौलिक अंतर कृषि और अन्य औद्योगों के समूहों में अंतर है । प्रत्येक शहर की अपनी एक पहचान और कुछ विशेषताएँ होती हैं, जिनके द्वारा प्रत्येक शहर को पहचाना जाता है, जैसे आगरा, उज्जैन, भोपाल, लखनौ, मुम्बै आदि । ये सभी शहर हैं फिर भी इनकी पृथक पृथक विशेषताएँ है ।

संपूर्ण ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था कृषि पर आधारित है तो शहर के लोग नौकरी, व्यवसाय अथवा निजी उत्पादन के कार्य क्षेत्र पर आश्रित होते हैं । शहरीय जीवन का आधार गैर काश्तकारी पेशा है । गाँव की आबादी शहर की अपेक्षा बहुत कम होती है । शहर में मुहल्ले और कॉलनी पास पास होते हैं, जिनमें लाखों व्यक्ति साथ साथ रहते हैं । शहरों में विभिन्न जाति, धर्म, संप्रदाय और प्रजाति के लोग रहते हैं और निम्न, मध्य, उच्चवर्ग के लोग भी रहते हैं, इसलिए शहर को विभिन्न संस्कृतियों का पुंज और वर्गीय समाज कहा जाता है । शहर विभिन्नताओं का केंद्र है । यहाँ एक ओर ऊँची ऊँची इमारतें शहर के वैभव को दिखाती है तो दूसरी ओर मलिन बस्तियाँ भी हैं । जहाँ लाखों लोग गरीबी का जीवन व्यतीत करते हैं । जिन्हें दो वक्त का खाना भी नसीब नहीं होता यही बढ़ती आबादी और गरीबी को जन्म देती है । शहरों में आर्थिक असमानता बढ़ती जा रही है । व्यक्तिगत उन्नति के लिए गाँवों के लोग वहाँ से पलायन कर नगरों में आकर रहते हैं । विभिन्न क्षेत्रों से आने वाले लोग शहरों में अपने साथ अपनी संस्कृति को भी लेकर आते हैं, और सभी एक दूसरे की संस्कृति, खान-पान, वेश-भूषा अपनाने में परहेज़ भी नहीं करते है । नगरीकरण ने अनेक गंभीर समस्याओं को भी उत्पन्न किया हैं । मलिन बस्तियाँ, बढ़ते अपराध, भ्रष्टाचार, बेरोज़गारी, जनसंख्या, दुर्घटनाएँ, अनैतिकता, बाल अपराध, वेश्यावृत्ति आदि समस्याएँ भी अपना फ़न फैलाती जा रही हैं ।

शहर, कस्बा और गाँव सभी टूटन से अभिशप्त हैं । टूटने की प्रक्रिया निरंतर चल रही है। यह अभिशप्त जीवन ही समकालीन आंचलिक उपन्यासों का विषय है । शहर की चकाचौध में न पड़कर एक कोने में अपने जीवन गुज़ारने वाले

अनेक समूह भी देखने मिलेंगे जो अपनी अभिशप्त ज़िंदगी जीने के लिए मजबूर हो जाते हैं । समकालीन आंचलिक उपन्यासों की सबसे बड़ी विशेषता इसी प्रकार हाशिये पर पड़े लोगों का चित्रण है, जो बाहरी समाज के लिए पूर्ण रूप से अज्ञात है।

शहर केंद्रित आंचलिकता :

उपन्यासकार किसी अंचल, गाँव, कस्बे, मुहल्ले, शहर के किसी अंचल आदि को परिवेश बनाकर वहाँ के लोगों के आचार व्यवहार, जीवन-पद्धति, संस्कृत, रहन-सहन, धार्मिक जीवन आदि का सूक्ष्म वर्णन करता है तो वह आंचलिक उपन्यास ही है । आंचलिकता का क्षेत्र संस्कृति का दस्तावेज़ होता है, आंचलिकता की परिधि में ग्रामीण परिवेश ही नहीं आता शहरी अंचल का वर्णन भी आंचलिकता की परिधि में आता है । अंचल परिवेश होने के कारण, परिवेश गाँव या शहर भी हो सकता है । डॉ. कान्तिवर्मा के अनुसार "आंचलिक शब्द का तात्विक अर्थ यह नहीं है कि केवल ग्रामीण कथाएँ ही इसके क्षेत्र में आए, बल्कि किसी छोटे शहर की विशेषता को उभारनेवाला साहित्य भी आंचलिकता की सीमा में आ जाता है । हिंदी में कितने ही उपन्यास इसप्रकार के लिखे गए हैं । जिसमें छोटे शहरों के सांस्कृतिक, राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक स्थितियों का चित्रण हुआ है और उनमें आंचलिकता के अन्य सब तत्व भी पाए जाते हैं।"[1]

शहर केन्द्रित आंचलिक उपन्यासों में शहर के ही एक कोने पर अपने संसार बनाकर जीनेवाले समूहों को देखा जा सकता है । उस क्षेत्र की और लेखक का ध्यान अधिक केन्द्रित होता है और उस संसार के संस्कृतियों, रहन सहन आचार

---

1. डॉ. कान्तिवर्मा - स्वातंत्र्योत्तर हिंदी उपन्यास -पृ. सं : 184

विचारों का सूक्ष्म वर्णन क़रके पाठक का ध्यान उस क्षेत्र की विशिष्टताओं की ओर खींचता है और उस क्षेत्र के अन्य स्थानों से अलग करके देखा और समझा जा सकता है ।

अधिकांश उपन्यास गांव केन्द्रित होने के कारण लोगों के मन में यह मिथ्या धारणा उत्पन्न है कि गांव और जनजाति केन्द्रित उपन्यास ही सिर्फ आंचलिक उपन्यास हो सकते हैं । लेकिन नहीं शहर में भी हम एक ऐसे मुहल्ले देख सकते हैं जिसका अपना अलग रीति-रिवाज़ और रहन-सहन हो, जो शहर से भी बिलकुल भिन्न । विभिन्न आलोचक आंचलिकता को ग्रामीण पवित्रता एवं सरलता से जोड़ देते है और नागरिक आंचलिकता को केवल इसलिए अस्वीकार कर देते है कि वहां के जीवन में विषमता एवं गन्दगी हैं । लेकिन यह सत्य नहीं है, गांव में भी विषमता एवं गन्दगी हैं । शहर कीं अपनी अलग संस्कृति, भाषा, रीति-रिवाज़, रहन-सहन आदि होते हैं । ग्रामीणों के बीच की सादगी और सहजता को आंचलिकता का लक्षण मानकर शहरी अंचल की उपेक्षा करना मूर्खता एवं व्यर्थ है । आंचलिक उपन्यास को केवल आदिवासी, ग्रामीण या पर्वतीय जनपद आदि के विषय क्षेत्र की चौखट के अंतर्गत कर देना स्वयं आंचलिक उपन्यास के प्रति अन्याय होगा । कुछ आलोचक अंचल में आदिम जीवन की प्रधानता होने के कारण नगर से उसका संबन्ध स्वीकारते नहीं हैं । लेकिन कोई जाति, समूह अंचल को छोड़कर शहर में आकर बसते हैं तो उस बस्ती में भी वे अपनी संस्कृति को बनाये रखने की कोशिश करते हैं । उस संदर्भ में भी हम उस नगर की वह बस्ती आंचलिक कह सकते हैं ।

आलोचक के बीच में यह वाद विवाद हमेशा चलता रहता है कि शहर केन्द्रित आंचलिक उपन्यास ही सफल और सार्थक हैं या गांव को लेकर लिखे जाने वाला उपन्यास । अंचल चाहे गांव का हो या शहर का उसे स्वतंत्र इकाई के रूप में चित्रित किया जा सकता है । गांव केन्द्रित और जनजाति केन्द्रित आंचलिक उपन्यासों की तरह शहर केन्द्रित आंचलिक उपन्यासों का उद्देश्य भी उपेक्षित और अछूते जीवन के समग्र रूप को उसकी छोटी सी छोटी विशेषताओं सहित प्रस्तुत करना है।

आंचलिक संस्कृति उस अंचल को अलग करने के रूप में नहीं बल्कि उसके स्वरूप को व्यक्त करने के लिए महत्वपूर्ण होती है । यह रचनात्मकता की पहचान कराती है । राजेन्द्र अवस्थी के शब्दों में 'अंचल एक देहात हो सकता है एक भारी शहर भी, शहर का एक मुहल्ला भी और इन सबसे दूर संघन वनों की अपत्यकाएँ भी"[1] उसी तरह डॉ.सुरेश सिन्हा भी मानते हैं कि "अंचल ग्राम का भी हो सकता है, एक पूरा नगर भी और आंचलिक उपन्यास ग्रामीण अंचल पर ही आधारित होते हैं, यह यथार्थ नहीं है"[2]

अंचल समग्रता में, विशिष्ट भूखंड, वहाँ के निवासियों के जीवन व्यवहार. और उन निवासियों की चेतना को लिए रहते हैं । इसका स्थूल आधार भूखंड है, उस भूखंड की भौगोलिक विशेषताएँ हैं । वहाँ का समाज भौगोलिक विशेषताओं की देन है । इस समाज की एक बृहतछाप उपन्यासकार अपनी कृति में संजोता

---

1. राजेन्द्र अवस्थी - सत्रह आंचलिक कहानियाँ - पृ. सं : 5
2. डॉ. सुरेश सिन्हा - उपन्यास शिल्प और प्रवृत्तियाँ - पृ. सं : 226

है । पात्रों के द्वारा यह अधिक मुखर हो उठता है । आंचलिक उपन्यास में पात्रों का ऊपरी सतह पर ही अधिक चित्रण रहता है । पात्रों के ज़रिए उनके समाज का रूप निखरता चलता है । अन्ततः इन सबके माध्यम से अंचल में व्याप्त चेतना व्यक्त होती है, यहाँ इस बात की प्रधानता नहीं कि क्षेत्र गांव है या शहर । आंचलिकता में स्थानीयता की प्रमुखता होती है, वह स्थान कोई भी हो, चाहे गांव हो, जंगल हो, नगर हो, कस्बे हो या चौक हो । श्री महेन्द्र चतुर्वेदी का मत भी द्रष्टव्य है "आंचलिक उपन्यास की वर्णय वस्तु विशुद्ध रूप से ग्रामीण हो यह अनिवार्य नहीं है । किसी उपनगर को भी कथा क्षेत्र के रूप में ग्रहण किया जा सकता है । यह भी हो सकता है कि कथांचल का एक रुख गांव की ओर हो और दूसरा शहर की।"[1]

शहरी जीवन से संबन्धित आंचलिकता के तत्व रखने वाले उपन्यासों की संख्या, गांव और जनजाति केन्द्रित आंचलिक उपन्यासों की संख्या की दृष्टि से बहुत कम है। आज समकालीन उपन्यासकारों की दृष्टि अधिक हाशिए पर पड़े उपेक्षित लोगों की ओर है।

उनके रीति रिवाज़ और रहन सहन और संस्कृति को वे अपनी कलम के सहारे पाठकों के सामने प्रस्तुत करते हैं और हमें अवगत कराते हैं कि हमारे बीच भी कुछ ऐसे लोग हैं जिन्हें हमने अभी तक नहीं देखा है । शहर को भी अपनी स्थिति होती है, उसकी भी अपनी समस्याएँ होती हैं और वह भी एक विशिष्ट संस्कृति को जन्म देती है। लखनऊ का अपना वातावरण था और अपने तौर

---

1. श्री महेन्द्र चतुर्वेदी - हिन्दी उपन्यास एक सर्वेक्षण -पृ. सं 208

तरीके, अपने रहन सहन,ख़ानपान एवं मनोरंजन के ढंग थे । उसीप्रकार मुम्बई, दिल्ली जैसे शहरों की भी एक विशिष्ट संस्कृति होती है। समकालीन आंचलिक उपन्यासों में जगदम्बा प्रसाद दीक्षीत का 'मुर्दाघर', गोविन्द मिश्र का 'लाल पीली ज़मीन', शैलेश मटियानि का 'कोई अजनबी नहीं' आदि उपन्यास मुम्बई, लखनऊ, दिल्ली जैसे बड़े शहरों को केन्द्र बनाकर लिखे गये हैं। इन उपन्यासों को आंचलिकता की दृष्टि से परखा जाएगा।

भौगोलिक परिवेश :

इस देश में जिस्मफरोशी जैसे कोढ़ के शिकार चंद व्यक्ति न होकर समाज का एक पूरा वर्ग है । 'मुर्दाघर' में इस कुत्सा को उभारनेवाला कुछ पात्र न होकर पूरा एक समूह हैं, यह गलीज़ ज़िन्दगी जीने केलिए अनेक स्त्रियाँ अभिशप्त हैं जिन्हें वेश्या कहा जाता है । 'मुर्दाघर' झोपड़ पट्टियों में रहनेवाली मुम्बई की अनेक छोटी वेश्याओं की गलीज ज़िन्दगी की कहानी है जिसमें वेश्याओं से जुडे कूली, गंदे, छोकरे, भिखारी, उचक्के, गुणडे - बदमाश, स्मग्लेर्स और पुलीस के सिपाहियों की पूरी दुनिया हैं। इस मुम्बई दुनिया को जगदम्बा प्रसाद दीक्षीत ने अपने उपन्यास का क्षेत्र बनाकर समाज के उस उपेक्षित जनमानस का चित्रण किया है । बाहर से देखने पर हमें मुम्बई के जगमग सफेद इमारतों वाली सफेदपोश बस्ती ही देखने को मिलेगी, लेकिन लेखक की सूक्ष्म दृष्टि मुम्बई के सड़ांध से भरी हुई झोपड़ पट्टि में रहने वाली वेश्या समूहों की ज़िन्दगी की टकराहटों की यथार्थ तस्वीर को बड़ी खूबी से उभारा है। मुम्बई की इन वेश्यों का समूह हमारी समाज व्यवस्था पर, राजतंत्र पर, लोकतंत्र पर, हमारी सभ्यता और संस्कृति पर, हमारे सौन्दर्य बोध और अस्तित्व पर तीक्ष्ण प्रहार करता है।

पंचसितारा होटल, बहुमंज़िली इमारतें, बड़ी बड़ी कोटियां, सभी सुविधाओं से भरे मुहल्लों से ज़्यादा दीक्षितजी का ध्यान कीचड़, गंदगी और कूड़े के ढेरों की ओर गया है। एक ओर महानगर की ऊँची ऊँची इमारतों की लम्बी कतार है तो दूसरी ओर यह गंदी दुनिया है। हर जगह कूड़े के ढेर है "पन्नियाँ, कागज़, मिट्टी, फूटी हुई शीशियां, पिचके हुए ट्यूब, चीथड़े, धूल, गंदे पानी पर भिन भिनाते हुए मच्छर और उसमें नहाते हए बच्चे"[1]- झोपड़ियों के सामने टूटी चारपाइयाँ हैं । उस पर सूख रही मछलियाँ चर्माकार कुछ ठोंक रहा है । एक जगह झोपड़े हैं दूसरी और ऊँचाई पर रेल की पटरियाँ हें । हर जगह गंदे कीचड़ की दल दल हैं। रेल की पटरियों से रोज़ अनेकों रेल गाड़ियां गुज़र जाती हैं। 'झोपड़ों की दूसरी तरफ एक लम्बी पतली गली । उस तरफ किसी बड़ी इमारत के पर कोटे की दीवार। दीवार और झोपड़े दोनों खत्म हो जाते हैं । गली आगे चली जाती है । आगे छोटे से मैदान में नगर पलिका का नल बंद हो चुका है । पत्थरों के बीच जमा पानी और एक गड्ढ। कोई नहीं है यहां एक अंधेरे के सिवा । फिर लौट आएँगे बरतनों के साथ एक एक बूँद के सिलसिले के लिए"[2] झोपड़े बनाने का सिलसिला हमेशा ज़ारी रहता है। बांस, पुराने थैले या प्लास्टिक से बनाया जाता है झोपड़ा । लोग झोपड़े बनाते हैं और हवलदार तोड़ देते हैं । वे सामान बिखेर देते हैं इधर उधर और बड़े आसानी से एक परिवार को उजाड़ देते हैं । फिर स्थान की तलाश ज़ारी होती है । महानगर में दुनिया को ही एक कचरे के ढेर पर फेंक दिया जाता है ।

---

1. जगदम्बाप्रसाद दीक्षीत - मुर्दाघर - पृ. सं : 48
2. जगदम्बा प्रसाद दीक्षीत - मुर्दाघर - पृ. सं :59

शहर बड़े होने से मोटरों की कमी नहीं । मोटरें और बस अतः एक के बाद दूसरा भाग रहा है । शहर नाना तरह के कोलाहल से दब जाता है । झोपड़ पट्टी की सुबह प्रतिदिन एक सी होती हे, कोई फर्क नहीं होता । "सुअरों के पिल्ले बाहर नहीं निकले, पड़े रहते है नालियों के कीचड़ में । और नालियां कम नहीं हर जगह फैली हैं । बहते चले जा रहे है लोग उस तरफ जहाँ कीचड़ है..... जो सूखता नहीं ज़िन्दा नहाता है। चाय के खाली बेम्बे के पास.....गूज़र जाते है खम्बे .....फिर डूबते चले जाते है .....दोपहर शाम और रात तक"[1] बादल हो या न हो , उजाला शायद ही उन तक पहूँचता है । इसप्रकार के एक मुम्बई शहर को हम ने कभी देखा है और न सुना है । दीक्षितजी ने मुम्बई की झोपड़ पट्टी, फुटपाथ की दबी कुचली ज़िन्दगी के एक एक स्पन्दन को चित्र चरित्रों के माध्यम से उपस्थित करने के बजाय पंख फड़-फडाती मुर्गियाँ, दुम हिलाते हुए कुत्ते, गंदे सुअर, जली हुई सिगरेटें, जूठन और गंदगी, थूक और बलगम आदि के सहारे उसकी भीषणता को पाठक के दिलों दिमाग तक पहूँचाने का प्रयास किया है । 'मुर्दाघर' के लिए सर्वथा अनछुए क्षेत्र चुनकर दीक्षितजी ने महत्वपूर्ण कार्य किया है।

'लाल पीली ज़मीन' में गोविन्द मिश्र ने जिस क्षेत्र को प्रस्तुत किया है, वह लखनऊ शहर के पास का एक छोटा सा शहर है । यहां का पहाड़ किला, बुर्ज, पेड़हीन ज़मीन, काली बड़ी चट्टानें, उनको घेरनेवाला कालापन पीपल की सरसराहट, कालेपन की छाया लिए मन्दिर और कुइयां, जंगली तेंदुए, लखनऊ के घर के किवाड़ पर सर्प - मैथुन और उसको दूर से किंकर्तव्य विमूढ़ होकर

---

1. जगदम्बा प्रसाद दीक्षीत - मुर्दाघर - पृ. सं : 188

देखनेवाले लोग, बाग, साड़ों की लड़ाई यह सब शहर की स्थानीयता को विशेषीकृत करता हुआ भी सहज ही उस हिंस्रता और विवशता से भरी भावभूमि पर ले जाता है । इसउपन्यास की तह में मिट्टी की ऊर्वरा एवं कुंवारी गंद बह रही है । इस उपन्यास में शहर के ही एक खास अंचल के तौर तरीकों, अनुष्टानों और त्योहारों में व्यक्त सांस्कृतिक विरासतों तथा सामाजिक बर्तावों को चित्रित किया गया है ।

'मैं यहाँ हूँ' यह पद आरंभ के कई पृष्टों में सोद्देश्य रूप से दोहराया गया है "मैं यहाँ हूँ ।.....एक कोने में मरा पड़ा हुआ । मेरे अन्दर का सारा वह तत्व जिसे मानवीय तत्व कहा जा सकता है, राख हो चुका हैं"[1] "मिट्टी जो पानी, पहाड़ और आसमान में भी आदमी से चिपकी रहती है ..... जो उतनी ही सूक्ष्म है जितनी मिट्टी स्थूल ....जो आदमी के हर हरकत में ही नहीं, उसके दिमाग के हर करवट में है....संस्कृति तो सिर्फ उम्दा उम्दा चीज़ों का नाम हैं"[2] पहाड़ों के जोड़ या खोह में से कंकरीली मिट्टी निकलती थी जिसे 'मुरम' कहते थे । सारी की सारी बस्ती जैसे गाली गलौज और मारपीट के गारे - चूने से उठाई गयी थी और उसी पर टिकी थी । यहाँ की हवा के हर झोंके में आदमी के भीतर और बाहर केवल हिंसा थी, उसके कारणों को ढूँढते हुए शहर के एक सीमित अंचल को आधार बनाकर व्यक्त करने का कार्य गोविन्द मिश्र ने किया है। यहां केवल आंचलिक शब्दों से वातावरण की गंध निर्मित करने की कोशिश नहीं है, बल्कि जाति, वर्ग, समाज, व्यक्ति, संस्कार के रिश्तों को एक ऐसे ढंग से पहचानने की कोशिश है वह बेजोड़ है। यह एक नितान्त अलग भूमि है, किसी भी प्रकार की तथा कथित भारतीय संस्कृति की

---

1. गोविन्द मिश्र - लाल पीली ज़मीन - पृ. सं :15
2. गोविन्द मिश्र - लाल पीली ज़मीन - पृ. सं :16

कोमलता यहां शेष नहीं रह गयी है । "सारे संबन्धों और मानवीय जीवन के स्रोतों की एक ही परीणति है इस लाल पीली ज़मीन की विशिष्ट मिट्टि में मिलने की । यह मिट्टी अपने रंग में, अपने कठोर सांचे में सब को ढालती है । इस मिट्टी की पहचान उपन्यास के मर्म को समझने की एक महत्वपूर्ण कुंजी है।"[1]

उपन्यास की शुरूआत गली के चित्रण से होती है। वह गली पुराने रियासती फाटक से शुरू होकर, तीन चार मकानों को इधर उधर छोड़ती हुई सीधे जाकर एक मन्दिर पर खत्म होती थी शहर का यह मुहल्ला एक छोटी मोटी पहाड़ी था और इसतरह शहर की आम बस्ती से कटा हुआ था । वह पहाड़ी दालान बस्ती की तरफ दौड़ती हुई किले की जीभ थी । एक तरफ से उस बस्ती के इर्द - गिर्द पहाड़ ही पहाड़ था । मुहल्ले की गलियों और कूलियों में भी ऊँचा खाली खाफी था, मुहल्ले को मुख्य शहर से जोड़ने का काम नीचे उतरता हुआ बड़े पंत्थरों का एक सिलसिला करता था, इसे ही 'खंदिया' कहते थे और उसी से मुहल्ले ने भी अपना नाम लिया था। गलियों में इधर उधर चह चहाती मुर्गियाँ, बत्तखें, उनके बच्चे, इधर उधर पड़े हुए उनके पंखों के टुकड़े, अंड़ों के छिलके, एकाध जगह दूकानों पर लटके मांस के बड़े बड़े लोथड़े, टपकता खून, और नीचे खच खच काटकर बेचनेवाला कसाई यह सारा दृश्य उस बस्ती का ही चिर परिचित रूप है । लेखक इस छोटे शहर के भूगोल के माध्यम से दिशाहीन बाढ़ की विकरालता को चित्रित करना तथा जीवन की यातना को प्रतीकात्मक ढंग से प्रस्तुत करने का कार्य किया है । 'लाल पीली ज़मीन' जहाँ एक और बुंदेलखंड़ की लड़ाकू एवं तेज तर्रार

---

1. डॉ . चन्द्रकान्त बांदिवड़ेकर - आधुनिक हिन्दी उपन्यास सृजन और आलोचना - पृ. सं :43)

संस्कृति को उजागर करता है वहीं दूसरी ओर वह आज की विसंगतियों का भी एक सजीव चित्रण है।

'कोई अजनबी नहीं' में रामप्यारी की आँखों से हम दिल्ली शहर को एक नये ढंग से देखते हैं । रामप्यारी को शहर में अपने गांव से ज़्यादा कुछ फर्क दिखाई नहीं देता है । यह फर्क लोगों की मानसिकता संबन्धी है । यह शहर स्वतंत्र भारत के नवनिर्माण के दौर से गुज़रता हुआ शहर है । उस शहर में रामप्यारी ही अकेले एक शरणार्थी नहीं , बल्कि उसके साथ अनेक लोगों का समूह दिल्ली जैसे शहरों में आकर बसने लगा है, अपनी ज़िन्दगी को एक नये ढंग से अपनी कल्पना के मुताबिक जीने के लिए । दिल्ली से दूर जहाँ कहीं सूखा पड़ता या बाढ़ आती, या कोई काम के लिए या शिक्षा केलिए उठ उठकर दिल्ली की ओर भागते थे । परिणामस्वरूप दिल्ली शहर फैलने लगा था । नई नंई बस्तियां उग आने लगी इधर उधर । आसपास खाली जगहों में मज़दूरों की झोपड़ियों के दृश्य दिल्ली के बाहरी रूप को बदलाने लगी । ज़िन्दा रहने की जद्दोजहद में कुछ भी कर गुज़ारने की हकबक लोगों में साधारण सी होने लगी । शहरों में एक ऐसा परिवेश का उदय हुआ, जिसमें बाप अपनी बेटियों को, पति अपनी पत्नियों को, भाई अपनी बहनों को, बेचने में तत्पर रहते हैं ।

जिन मेहनतकश लोगों ने अपने खून पसीने से अपना सब कुछ दांव पर लगाकर इस जगमगाती हुई दिल्ली को बसाया है वह लगातार उनके ही शिकार पर आमादा रहती है । मज़दूरों की बस्तियों के जीवन का जितना यथार्थ चित्रण शैलेश मटियानी ने किया है उससे दिल्ली का एक भिन्न रूप हमारे सामने आते हैं । रोते हुए मज़दूरों के बच्चों और लड़ती झगड़ती या खिलखिलाती मज़दूरिनों तथा ज़ोर

ज़ोर से बोलते, गालियाँ देते या कवित्त- भजन गाते हुए मज़दूरों, घड़ी घड़ी तालाब, नाले की तरफ जाकर फिर झुग्गियों का और लौट आनेवाले शुअरों और कुत्तों की सामूहिकता में रामप्यारी को ऊँचे टीले पर से नीची फैली हुई गहरी झील को देखते हुए अनुभव होने लगता है । "इस बस्ती में गरीबी की कीचड़ इतनी फैली हुई है कि यहाँ जब भी कोई बच्चा हंसता जब भी कोई बूढ़ा खिल खिलाता है,जब भी कोई जवान ठहाका लगाता है, जब भी कहीं से कवित्त पढ़ने की ऊँची गूँज उठती है तब हर बार ऐसा लगता है कीचड़ भरे तालाब ज़ोरों की लहरें उठी है"[1] "बड़ी बड़ी आलीशान कोठियों वाली लिंकरोड के बिलकुल समानांतर पसरी पड़ी इस झुग्गी बस्ती को अपनी ससुराल की तरह देखने लगने पर रामप्यारी को अपने आँखों की रोशनी ढीक वैसे ही नीचे उतरती हुई जैसे किसी पपीते के पेड़ से बिल्ली नीचे को उतर रही है।"[2] लिंक रोड़ के एक पार कोठियाँ ओर दूसरी और पार मज़दूरों की झुग्गी बस्तियाँ हैं । इन दोनों में बहुत ही फर्क है । मगर दोनों की आधार भूमियाँ बिलकुल बराबरी पर हैं । किसी अंचल से कोई जाति या वर्ग दिल्ली में मज़दूरी करने आते हैं तो वे खाली जगहों में झुग्गी झोपड़ी बनाकर शहर के एक कोने में रहने लगते हैं । उनकी यह बस्ती दिल्ली के सामान्य जीवन से कटकर अपने निश्चित परिवेश में संलग्न रहती है । दिल्ली जैसे आधुनिक प्रगति से विभिन्न यह समाज अपने पिछड़ेपन को वरदान मानकर उसी में रमा रहता है ।

---

1. शैलेश मटियानी - कोई अजनबी नहीं - पृ. सं : 66
2. शैलेश मटियानी - कोई अजनबी नहीं - पृ. सं : 68

कभी भी वे अपनी संस्कृति को छोड़ते नहीं हैं और न ही कभी शहर की संस्कृति के साथ मिलते नहीं हैं।

सांस्कृतिक परिवेश :

'लाल पीली ज़मीन' में लेखक ने उस संस्कृति का चित्रण किया है जहाँ आदमी को जवानी आते ही मुग्दर भांजने कुशति लड़ने और मारपीट, लड़ाई झगड़ा करने का भूत सा सवार हो जाता है । भारतीय कस्बाई संस्कृति का कठैठ और खुरदुरापन इसमें पग पग पर मिलता है। कुछ त्योहार उस मुहल्ले के ऊपर छा उठते थे, दिवाली, होली, दशहरा आदि । दिवाली के अवसर पर सभी घरों में सफाई होती है । और तीन दिनों चबूतरों पर लालटेनों की रोशनी में जुआ, कौड़ी, ताश खेलते हैं। होली के अवसर पर हफ्तों पहले रात रात पर फाग गाने का सिलसिला शुरू हो जाता है । मटकों को नालियों के गन्दे पानि से भर लिया जाता है । इसमें लड़कों के साथ साथ जवान और अधेड़ भी बराबरी से ऊधम मचाते हैं । इसके अलावा इस छोटे शहर के लोगों का सबसे प्रिय त्योहार था मामूलिया और नौरता । मामूलिया मौकें पर बेरी आड़ी तिरछि डगल पर फूल खोसती हुई लड़कियाँ गाती हैं - "लइयों लइयों रतन गढ़ फूल बनइयों नोनी ममूलिया"[1] महीनों पहले पत्थर पीसने में लड़कियां व्यस्त रहती हैं और त्योहार के दिन जादवजी के चबूतरे के एक छोर से दूसरे छोर तक ड़िज़इनदार चौकों से भरते हैं। यह त्योहार बहुत अजीब होते है । औरतें पत्थरों को पीसकर रंग देती थीं । और उस रंग को चबूतरे पर बिखेर देती थीं । यह मामूलिया और नौरता का त्योहार है । उस इलाके

---

1. गोविन्द मिश्र - लाल पीली ज़मीन - पृ. सं :33

में यही दो त्योहार बड़े विशिष्ट हैं । उन लोगों की छोटी सी भरी पूरी ज़िन्दगी में एक एक त्योहार किट- किटाती चटकती हुई पहूँचती थी । शायद यही उनकी परंपरा थी । "रामायण और महाभारत भी तो असल में लड़ाइयों की ही कहानियाँ थीं ..... वे ही त्योहार या त्योहारों के ही रूप उनके ज़्यादा नज़दीक थे, जहाँ यह किट किटाहट थी, ओजस्वी हरकतें थी"[1] उस शहर की होली और दीवाली के संबन्ध में लेखक ने एक छोटी सी टिप्पणी की है कि 'होली भाभी देवर के मीठे परिहास केलिए या दुशमनी भूलकर एक दूसरे के गले लगाने के लिए नहीं थी बल्कि बेबसों को अधिक यातना देकर अपनी नपुंसकता और क्रूरता की अभिव्यक्ति के लिए थी।

उस मुहल्ले के लोग पत्थरों की देवी देवताओं को ही अपने भाग्य विधाता मानते हैं। इन्हीं देवी देवताओं के आगे लोग अपनीं कामना के लिए माथा टेकते हैं, और इन्हीं के आगे लाचार आदमी, औरतें गहरी भी लगाते थे । घर के ऊपर बैठे सांप को मारने के लिए आए लोगों को लछमन के दद्दा भगा देते हैं क्यों कि वहाँ के लोगों का विश्वास है कि "सांप भगवान का रूप है वे मर्ज़ी से जहाँ चाहेंगे जायेंगे.....तूम्हारी हेंकारी से क्या वे डर जाएँगे.....ईश्वर की इच्छा के बिना किसी का बाँका भी नहीं होता"[2] गोबर के घर में बिठाकर नागपंचमी के दिन वे लोग सांप को पूजते हैं और सांप को दूध भी पिलाते हैं।

उस मुहल्ले की सबसे प्रसिद्ध मेला गोवर्धन-धारी मेला थी, उस वक्त बस्ती में नाटक कम्पनी के अनेक लोग आते हैं और सीता वनवास जैसे

---

1. गोविन्दमिश्र - लाल पीली ज़मीन -पृ. सं :64
2. गोविन्द मिश्र - लाल पीली ज़मीन - पृ. सं : :42

नाटक खेलते हैं, परीवार नियोज़न की फिल्में दिखाती है, सर्कस होते है, शहर के बाहर से भी लोग पैदल , इक्के रिक्शों में लद लदकर आते हैं । वहीं कड़ों पर रोटियां पकती और चौतरफा बैठकर खाना पीना होता है । मारपीट, लड़ाई, झगड़े, गाली गलौच की खुशबू को ढ़ोते हुए वहाँ की हवा के झोंके उठते थे और इधर से उधर जाते थे । कहीं कुश्ती होती, कहीं तीतर और मुर्गों की लड़ाई, जीवों और सांड़ों की लड़ाई होती । जानवरों में भी वहाँ की बस्ती के लोगों का स्वभाव आ गया था । वह गांव नहीं, तहसील भी नहीं पूरे जिले का हिस्सा था । वहाँ पूरब का इलाका जादव का था और पश्चिम का चौपाल के चौबों का । नाम के वास्ते या दोनों मुहल्ले में मुखियों की तरह चलते फिरते थे । चौबों की चौपाल बस्ति में मशहूर थी। मुहल्ले में चौबों का घर सबसे बड़ा था और पक्का भी। जादवों का घर काफी पीछे था । जादवों के घर ने पूरी की पूरी गली नाप रखी थी । बस्ति के लोगों के घर की बनावट भी एक अजीब ढंग से थी । पहाड़ों के जोड़ या खोह में से लाल कंकरीली मिट्टी निकलती थी जिसे मुरम कहते थे, सादा मिट्टी में उसे सानकर दीवार उठाते थे। वहां की सभ्यता इसी मुरम पर खड़ी थी ।

बस्ती मिले जुले लोगों की थी , छोटे मोटे धन्धों से पेट भरने वाले लोग ज़्यादा थे। उस बस्ति में सुनार, लुहार, बढ़ई, मोची, वैद्य, पंड़ित आदि रहते थे । बस्ति के लोग बारिश से घबराते थे क्यों कि बारिश शुरू होने पर जगह जगह घर में पानी चूता था वह बड़ी दयनीय दशा होती थी । वे लोग बाल्टि, कलसा कहीं थाल रखकर पूरी रात बैठकर पानी उलीच देते थे । बस्ती के लड़कों के बीच के विभिन्न प्रकार के खेल जैसे चिया, गुल्ली डंड़ा, लुका छिपी, दण्ड-बैठक, कुश्ती इत्यादि का वर्णन लेखक ने बड़े विस्तार से किया है । मनोरंजन में नहीं जीवन

यथार्थ में डूबने का न्यौता आकर्षक और बहुत भारी भी पड़ता है । घिनौनी, भ्रष्ट, गन्दी और गरीब बस्ती के ये गोली, चिआ और आँख मिचौनी खेलने वाले उजड्ड़ लड़के एक बड़ी उमर तक ऐसे ही दिखाई पड़ते हैं । लड़कों के साथ किशोरी बालिकाएँ भी खेलती हैं । यह चित्र उस गंवई जीवन का एक विशेष मर्म है साथ ही उस बस्ति के लड़कों के शुद्ध गंवई जीवन का निखार भी है । इन्हीं अध कचरे युवा छात्रों को कोण से लेखक पूरे समाज का सर्वेक्षण करते हैं। केशव को भूतप्रेतों पर विश्वास था, घर के सामने पहाड़ के ऊपर एक आदमी को देखकर वह डर के मारे घर के अन्दर छिप जाता है । उनके घर के सामने एक कच्चा मकान था राजधर महाराज का, इसमें हर साल कोई न कोई मरता था इसलिए लोग वहाँ रहने के लिए डरते थें ।

लोक संस्कृति के स्वरूप में मुलिया, सिलोर, भाई डंडा, गोली, चिया, नोरता, पतंगबाजी, आदि खेलों बिरचन, सन्तू आदि खाद्यों तीतरों , साड़ों आदि की भिडन्तों जानवरों की नार के साथ गोबर इकट्टा करते लड़कों, दिवाली का नाच, जुआ, फाग, ज्वारे, झूला आदि उत्सवों, ब्याह, शादि प्राप्त होता है। भारतीय जीवन के मूल्यात्मक संस्कारों और आचरणों का इन सबके अलावा कुछ भी उस शहर में नहीं बचा है । जो भी बचा है उसे दिखाने की कोशिश इस उपन्यास में देखी जा सकती है ।

'कोई अजनबी नहीं' में मटियानी ने मज़दूरों की बस्ति के लोगों की ज़िन्दगी का वर्णन किया है । बेचारा मज़दूर दिन भर कठिन परिश्रम करता है, पर स्वयं जीने का प्राथमिक साधन तक नहीं जुड पाता । वह स्वयं नंगा ही गर्मी सर्दी के मार सहता है, या फिर अधिक से अधिक किसी झोपड पट्टी में टूटी-फूटी

झोंपड़ी ही जुटा पाता है । दूसरों के लिए कई कई मंज़िल भवनों का निर्माण करके भी उस निर्माता के पास अपने सिर ढकने के लिए जगह नहीं होता है। जहां भी खाली ज़मीन मिलने पर मज़दूरों के झुंड़ अपनी बिरादरी की पच्चासों झुग्गियां सिर्फ एक ही दिन में वहाँ डलवा देते हैं, और आराम से वहां रहने लगते हैं । जब तक नगरपलिका के झुग्गी उखाड़ दल के लोग न पहूँचे, तब तक वे आराम से रहते हैं। वे झुग्गी उखाड़ देने के बाद दूसरी खाली जगह की तलाश में इधर उधर भटकते रहते हैं ।

ग्राम व्यवस्था भंग होने पर नगरों महानगरों पर सबसे पहले तो आबादी का दबाव पड़ना शुरू हुआ, जो निरन्तर बढ़ता ही गया । एक तो जनसंख्या वृद्धि की रफ्तार है तो दूसरी ओर काम धंन्धों की खोज में देहातों से पलायन कर आनेवाले लोगों ने उस दबाव को और भी बढ़ा दिया तथा तेज़ कर दिया । आवास की समस्या इसी की देन कहा जा सकती है । महानगरों के आलीशान भवनों के बगल में झुग्गी झोपड़ियों का जो आरंभ हुआ आज प्रत्येक महानगर में उसने एक विकट समस्या का रूप धारण कर लिया है । महानगरों के मैदान, पार्क, प्रत्येक खाली स्थान बस्ती और झुग्गियों में परिवर्तित हो चुका है ।

मज़दूरों की बस्ति के मर्द लोग दो तीन औरतों को एक साथ रखते थे और उनके लिए अलग अलग झुग्गियां भी बना दी जाती थीं । बिरादरी के लोगों में हरभजन का ज़्यादा प्रभुत्व था क्योंकि उस बस्ति में हरभजन चौधरी के तीन पत्नियों की एक साथ जुड़ी हुई तीन झुग्गियां थीं और किसी मदज़दूर के ऊपर होनेवाले शोषण के प्रति भी वे आवाज़ उठाते थे। मज़दूरों को सर्दियों के लिए कपड़े, रजाइयां, और गुड़ वगैरह खरीदने के लिए मजूरी तो अग्रिम देते थे ।

लेकिन मज़दूर तो सर्दियों में शराब ज़्यादा पीते थे । मज़दूर ही नहीं मज़दूरिनें भी पुरुषों की तरह बीड़ी और शराब पीती हैं । जब शाम के सारे काम-धंधे के बाद सारा मज़दूर बस्ति में आते हैं तब बड़े शोर मचा देते हैं । बिरादरी का सबसे दबंग होने के नाते हरभजन चौधरी की बैठक में ज़्यादा महफिलें जुड़ती थी । सारे मज़दूर काम सब हो जाने के बाद शाम को बस्ति में आकर नाच गाने शुरू करके शराब की मस्ति में रहता है और सबेरे तक ढोलकियाँ लेकर आल्हा कवित्त गाते रहते हैं। हरभजन ज़ोर से शराब पीकर कवित्त गाता है कि -

"पिय मोरे संदेश भिजावें, नैणा तो तरसें ऐं ऐं.....
सासू बौही दरवज्जे पे निकलूँ ना डर सें .....
निकलूँ न डर से , मोरे रामा, निकलूँ ना डर सें
पिया खड़े , बाँसरी बजावें, नैणा तो तरसें"[1]

शहरों में भी हम देख सकते हैं कि आदमी भूखा रहकर भी शाम को गीत और नृत्य के मौज में डूब जाता है, और अपनी सारी बेबसी को भूल जाता है ।

नशीले पदार्थों का प्रयोग मज़दूर बस्ति में एक साधारण सी बात है। हरभजन चौधरी के साथ अधेड़ उम्र की गुलबिया मौसी भी चरस पीती है। "गुलबिया मौसी चरस ऐसे पीती है, जैसे चोखे से चोखा जोगड़ा सन्नासी महाराज भी नहीं पी सकता"[2] बस्ति के अधिंकांश स्त्रियाँ हुक्का पीती हैं । गुलबिया मौसी मरदों को चरस पिला-पिलाकर ऐसा बनाके वापस लौटाती है, जैसे कोई बघेर को गोश्त सूँघाकर डगरों के बाड़े में छोड़ देता है । उसी प्रकार अवैध संबन्ध भी बस्ति के लोगों के बीच एक साधारण सी बात मात्र है ।

---

1. शैलेश मटियानी - कोई अजनबी नहीं - पृ. सं 40
2. शैलेश मटियानी - कोई अजनबी नहीं - पृ. सं : 77

निम्न वर्ग की सारी चिन्ताएँ रोटी के ईर्द-गिर्द घूमती हैं । अधिकांश लोग रोज छोटा मोटा धंधा कर घर जाने वाले होते हैं । निम्न वर्ग में अधिकांश भिखारी और मज़दूरों की जमातें शामिल हैं । उच्च वर्ग वाले ऊँचे होटल के एयरकंडीशन में रहते हैं तो मध्य वर्गवाले साधारण होटलों के पंखों के नीचे बैठते हैं । लेकिन निम्न वर्ग के लोग जूठन खाने के लिए होटलों के पीछे कुत्ते, सुअरों के साथ होटल के नौकर का इन्तज़ार करता है । 'मुर्दाघर' में एक ऐसे परिवेश का दृश्य है जो बड़ा दयनीय है । गली की रंड़ियों के छोटे छोकरे होटल के पीछे के दरवाज़े खुलने क्की प्रतीक्षा में खड़े रहते हैं। "भरा है लब लब सब कुछ एक में। चावल...रोटी.... यपाव....हड्डी....दाल...मच्छी...शोरबा....आज का कल का सड़ हुआ ....बदबू। सब दौड़ने लगते है"[1] गली के लड़के इस जूठन को खाने के लिए कुत्ते और सुअरों के साथ दौड़ पड़ते हैं । निम्नवर्ग की संस्कृति को देखना है तो रेलवे स्टेशन से अच्छी जगह और कहीं नहीं हैं । "स्टेशन.....सारी दुनियाँ। जहाँ सारी दुनियाँ एक स्टेशन । फेरीवाले और फुटपाथ वाले । चीखनेवाले और चुप हो जाने वाले । अंधे और कोढ़ी । लंगड़े और अपाहिज । ज़िन्दा रहकर मर जानेवाले"[2] ये लोग सिर्फ भीख माँग सकते हैं । इनकी रोज़ी रोटी यही है । भीख माँगने के इनके पुराने और नये दोनों तरीके हैं । पुराने तरीके से ये कहेंगे - "बाबू साब, सेठ साब तुम्हारा बाल बच्चा सुखी होएंगा, परमात्मा तुमकू बरक्कत देंगा।"[3] नये ढ़ंग से इन भिखारियों के बच्चे यह कहकर भीख माँगते हैं कि "ए बाबू साब, ए राजेशखन्ना बाबू साब, ए देवानंद बाबू साब , एक पांच पैसा । खाली एक पांच पैसा।"[4]

---

1. जगदम्बा प्रसाद दीक्षित - मुर्दाघर - पृ. सं : 25
2. जगदम्बा प्रसाद दीक्षित -मुर्दाघर - पृ. सं : 128
3. जगदम्बा प्रसाद दीक्षित - मुर्दाघर -पृ. सं : 130
4. जगदम्बा प्रसाद दीक्षित - मुर्दाघर -पृ. सं : 130)

रोज़ी जब भीख माँगने के लिए बैठता है तब कोई भी उसे वहाँ बैठने नहीं देता क्यों कि वह उस एरिया में नया है। दोनों तरफ बैठी हुई हैं कोढ़ी औरतें और आदमी, किसी की उंगली सड़ी हुई, किसी के पैर। किसी के शरीर पर फैले हुए फफोले। बड़े बड़े शहरों के भाग दौड़ के चित्रण में शहरों के किसी कोने में ऐसी ज़िन्दगी बितानेवालों का पता किसी को नहीं हैं। आज हम आगे देखते हैं हमारे दाएँ और बाएँ देखने का टैम नहीं है । हमारे सामने यदि ऐसा चित्र आने पर मूँह ढेढाकर दौड़ पड़ते हैं ।

अपनी भूख मिटाने केलिए वे इधर उधर के कचरों से भोजन इकट्टा करते हैं । सड़ा हूआ आम, फेंकी हुई जूठन, डबल रोटियों के छिलके आदि । गली की रंड़ियों को शाम को सजने संवरने केलिए पाउडर के रूप में पिसी खड़िया या लिप्स्टिक के रूप में बनिए की दूकान का गुलाबी रंग मिल जाए, यही बहुत है। ये यदि धंधा करे तो उनके घर में चूल्हा तक नहीं जलेगा। बच्चे के जन्म पर ये लोग खुशी नहीं मातम मनाया जाता है, क्योंकि शिशु प्रसव के पूर्व के कुछ महीने तथा बाद के कुछ महीने में वे अपना व्यवसाय नहीं कर पाती। पेट की आग ममता की आग को बुझा देती है। जब मरियम एक लड़के को जन्म देती है तब वह तहे दिल से उसकी मृत्यु भी चाहती है। लेकिन उस गली के हिजड़े लोग जो है कमला, लक्षमी, बिमला आदि आशिर्वाद देने को आते हैं। वे लोग बच्चे के जन्म की खुशी में गाना गाते हैं और नृत्य करते हैं। वे बड़ी खुशी से बच्चे के लिए गीत गाते हैं कि -

"गोकुल बाजे बधइया.....
कन्हैयाजी ने जन्म लिया है"[1]

---

1. जगदम्बा प्रसाद दीक्षित - मुर्दाघर -पृ. सं : 103

बशीरन नामक वेश्या क़ो इस बात की चिन्ता है कि बूढ़ी होने के बाद पुलिसवाले उसे पकडेंगे नहीं और कभी कभी बीस पच्चीस दिन जो अच्छा खाना मिल जाता था वह भी नसीब नहीं होगा। बशीरन हमेशा मैना से झगड़ती रहती है परन्तु जब मैना का पति ट्रैन के नीचे कटकर मर जाता है तब कहीं बशीरन ही उसके साथ मुर्दाघर जाती है और पूरे दिन उसके साथ बैठती है। यहां यह तथ्य ध्यान में रखना पड़ेगा कि जो सुखी सम्पन्न हैं उनका अपने किसी परिचित केलिए इसप्रकार बैठना और बशीरन के बैठने में बड़ा फर्क है। यहां तो गरीबी का वह आलम है, बशीरन को मालूम है कि धंधा न करने पर पूरे दिन भूखा रहना पड़ेगा। लेकिन उस भूख की चिन्ता बशीरन को उस वक्त नहीं है । आसन्न मरियम के लिए जमीला ग्राहक को छोडकर उसके पास बैठती है । मरियम को जब बच्चा होता है तब सारी वेश्याएँ मिलकर उन्हें खिलाती हैं, बच्चे को पुचकारती हैं । उन्हें नियति के क्रूर शिकार के कारण रंड़ियाँ बननी पड़ी । लेकिन मनुष्यत्व की भावना और संस्कार उसके हृदय के अन्दर किसी एक कोने में हैं, जो कभी कभी अवसर पाकर बाहर आते हैं, यहीं भाव हम बशीरन और जमीला में देख सकते हैं ।

महानगरों के इमारतों के समान्तर फुटपाथों पर लाखों, करोड़ों मनुष्य बसते हैं जो कुत्ते, कौए और रेंगते हुए कीड़ों से भी बदतर ज़िन्दगी काटते हैं, और जिन्हें समाज की जूठन और गंदगी के अतिरिक्त कुछ समझा नहीं जाता यही उनके संस्कार हैं । शहर की इन झोपट पट्टियों में रहने वाले उपेक्षितों की संस्कृति की ओर झांकने का साहस दीक्षितजी ने किया है।

आर्थिक परिवेश :

निम्न वर्ग की आर्थिक समस्याएँ जगदम्बा प्रसाद दीक्षित के 'मुर्दाघर' में बहुत मार्मिक रूप में उभरी हैं। महानगर में समुद्र के किनारे अनेक झोपट - पट्टियों की एक अलग बस्ती है जो शहर के बड़े बड़े महलों का मज़ाक उड़ाती है । इन झोपड़ पट्टियों में निम्नतर ज़िन्दगी जीनेवाले इनसान अपनी जिस्म को एक रोटी केलिए एक, दो रूपये में बेच देते हैं । लेखक परंपरागत सौन्दर्यबोध से उभरकर गन्दगी, विद्रूपता, गरीबी, विकृति में शोषित और सामाजिक परिस्तिथियों का अंकन करते हैं ।

रोटी की तलाश में देश के कोने कोने से युवक युवतियां महानगरों में प्रतिदिन आती हैं । गांव में अधिक पढ़े लिखे लोगों के लिए कोई अच्छा सा काम नहीं मिलता है इसलिए वे लोग मोची, दर्जी, नाई, सुनारों आदि काम की तलाश में शहर में आते हैं । फिर जहाँ जगह मिले वहीं पर वे अपना व्यवसाय खोल लेते हैं । भीड़ का हिस्सा बनकर बेकार, बेरोज़गार, बनकर भटकते हैं या गलत रास्तों पर चलते हैं । 'मुर्दाघर' बंबई के रेल की पटरियों की गली में रहनेवाली रंड़ियों के झगड़े से शुरू होता है । क्योंकि हर कोई दूसरे के ग्राहक छीनने में लगा है। वे सिर्फ एक काली चाय पीकर अक्सर दिन काटती हैं । इन गरीब रंड़ियों की संतानें होटल के पीछे डब्बे के पास घूमती हैं । वे होटल का दरवाज़ा जब तक नहीं खुलता तब तक गप मारती हैं । दरवाज़ा खुलते ही सब दौड़ पडते हैं । छोटे छोकरे, कुत्ते,कौवे आगे बढ़ नहीं सकते। कारण बड़े लड़के बढ़ गये हैं । किसी को कुछ मिलने नहीं देते । उसके बाद वे भीख माँगना शुरू करते हैं ।

महानगरों में कई स्थानों पर इतनी अधिक गरीबी है कि आदमी को पहनने के लिए एक ही कपड़ा है, रात के अंधेरे में उसे ही धोना है और उसे ही पहनना है । गली के बच्चों के लिए ऐसा आदमी नंगा भूत लगता है । गन्या, सोन्या, गोप्या छुपकर यह दृश्य देखता है और पत्थर मारता है । नंगा आदमी भाग भी नहीं सकता।

रिमांड़ में रखी रंड़ियों की आर्थिक स्थिति इतनी खराब है कि मंगूबाई से मिला साबून का टुकटा हसीना छिपकर रखता है। बशीरन नामक वेश्या को यही चिन्ता है कि बूढ़ी होने के बाद पुलिसवाले उसे पकडेंगे नहीं, और कभी कभी बीस पच्चीस दिन जो अच्छा खाना मिल जाता था वह भी नसीब नहीं होगा। जेल में सब खाना बाँटनेवाला सैयद की प्रतीक्षा में हैं। नूरन का नम्बर आने पर वह अपना तो हिस्सा ले ही लेती और कहती है "वो चमेली है न ?.....ए भत्ते वाले क्या बोली मैं वो चमेली है न उसका दाल और चपाती मेरे कू दे दे .....समझा क्या, देखती जाती है चमेली की तरफ .....बार बार । चमेली पड़ी है मुर्दो की तरह"[1] खाना हजम करने की साजिश सब कर रही हैं। खाजा की दरगाह पर एक स्मग्लिंग पार्टी पाव और कीमा बाँटनेवाली खबर पाकर कोढी और भिखारी, बच्चे और बूढ़े, अपने मैले कपड़ों के बंडलों के साथ अलमुनियम की पतीलियां और अखबार के टुकटे लेकर चलते हैं ।

बंबई की बरसात गरीबों के लिए जानलेवा है । सिर छिपाने के लिए कहीं भी जगह नहीं । महानगरपलिका को झोपड़े बनाके देने से ज्यादा ध्यान उठाने

---

1. जगदम्बा प्रसाद दीक्षित - मुर्दाघर - पृ. सं : 97

में है । "हाथों में लाठियां .....सिर पर टोपियाँ लोहे की। तोड़ दिया गये छप्पर .....बिखर गये टुकड़े । सामान की गठरी .....दो महीने का बच्चा। फिर वही तलाश यहां से वहां वहां से हर जगह। रेल के पटरियों के किनारे दूर दूर .....सागर की काली चट्टानों पर बार - बार लौट जाना। बनते है झोपड़े .....टूटते चले जाते है ।"[1] पाइप के अन्दर भी कुछ लोग अपनी दुनिया बनाते हैं । दूसरों के धन्धे के टैम जानकर मरियम अपने बच्चे को लेकर पाइप में जाकर सोती है । झोपड़े में वेश्या व्यवसाय चलता है । झोपड़े के अन्दर फटी हुई दरी का बिस्तर जिस पर प्लास्टिक का कपड़ा डाल दिया जाता है ।

फुटपाथ पर कई लोग अपना छोटा छोटा व्यवसाय करते हैं । शांती, सखू, मंगला, जमीला सभी चाय पीने आते हैं , किसी के पास पैसे नहीं हैं। सब किसी को पटाकर उधार में चाय पीने केलिए कोशिश कर रही हैं। 'मुर्दाघर' की झोपड़े पट्टी में दारूवाले और मटकेवाले भी हैं । परन्तु जब पुलिस की रेड़ होने पर उन्हें पहले से ही अगाह कर दिया जाता हैं।

पुलिसों को रिश्वत देता है ये दारूवाले और मटकेवाले । वेश्याओं की भीड़ में जब्बार की पत्नी हसीना भी है परन्तु ज्ब्बार हसीना और पुत्र अमजद के भविष्य के लिए जीवन में एक बार बड़ा हाथ मारना चाहता है ताकि उसकी पत्नी न रंड़ी बने । मौका मिलने पर वह स्मग्लैर के यहां ब्लाक रूपये की चोरी करता है । लेकिन इन ब्लाक रूपयों के स्मगलैरों के साथ पुलिसों के अच्छा रिश्ता होने के कारण वह पकड़ा भी जाता है । मैना के पति पोपट रातों रात राजी सेठ की

---

1. जगदम्बा प्रसाद दीक्षित - मुर्दाघर - पृ. सं :17

तरह धनवान होने के ख्वाब देखता रहता है, वह एक स्वप्न जीवि है। पोपट एक दिन काम पर जाकर पांच रूपये लेकर आता है लेकिन दूसरे दिन उसका मन बदल जाता है । क्योंकि "खाली आइसा बोलता कि भोत हड्डी तोड़ना पड़ता तब मिलता ये पांच रूपिया।"[1] प्रेमचन्द का 'कफ़न' कहानी के घीसू और माधव को हम कामचोर कहते हैं यहां पोपट भी घीसू और माधव के पक्ष में है, क्योंकि इतनी हड्डी तोड़ और पांच रूपया मिले तो उससे क्या होता है पेट कभी भरेगा भी नहीं । इसलिए बिना काम करके रहना ही अच्छा है । पोपट मैना के पैसे से शराब पीकर मस्ति में रहता है । मरने के बाद उसका भी कुछ हुआ । मुर्दाघर का एक कर्मचारी मैना और बशीरन को समझाते हुए कहते हैं "वह छोकरा लोग जो इधर पढने के वास्ते आता .....उनका काम में आ जाएगा। हड्डी का भाव भोत जास्ती है आजकल । पूरा जिस्म का ढाँचा का भाव तीन सौ रूपया चलता है।"[2]

दीक्षितजी वेश्यावृत्ति की समस्याओं को एक दूसरे ढंग से उठाते हैं । वे वेश्यावृत्ति के कारण आर्थिक मानते हैं । उनका विश्वास है कि सामाजिक ढांचे में परिवर्तन लाये बिना समस्या का कोई भी समाधान नहीं हो सकता। मैना, रोजी, हसीना, मरियम,. चमेली, सुभद्रा, काजी, छोकरी और नयी छोकरी अपने पेट की आग को बुझाने केलिए अपना शरीर बेचने को विवश है । उपन्यास के प्रारंभिक पृष्ठों से इस बात का आभास हो जाता है कि वेश्यावृत्ति का कारण अर्थिक शोषण· एक ऐसी व्यवस्था है जो मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण को उचित ठहराती है और इसप्रकार एक ब्रहुत बड़ा वर्ग अमानवीय और नैतिक जीवन जीने केलिए मज़बूर किया जाता है ।

---

1. जगदम्बा प्रसाद दीक्षित - मुर्दाघर - पृ. सं :109
2. जगदम्बा प्रसाद दीक्षित - मुर्दाघर - पृ. सं :146

भारत में श्रमजीवी मज़दूर की समस्या भी एक तरह की महत्वपूर्ण समस्या है। इसका एक अच्छा सा उल्लेख मटियानी ने 'कोई अजनबी नहीं' में किया है। दिन भर कठिन परिश्रम करने पर भी दो वक्त की रोटी जुटाने में मज़दूर लोग असमर्थ हैं। दूसरों के लिए आलीशान महलों का निर्माण करने वाले अपने सिर रखने केलिए खाली जगहों की तलाश में इधर उधर भटकते रहते हैं । इस तरह के मज़दूर श्रमिक का जीवन एक जीती जागती समस्या बन जाता है । बेचारे मज़दूर अपनी पत्नियों के साथ जब काम पर जुटे होते हैं तब उनकी गोद के बच्चे धूप - छाँव की परवाह किए बिना नंगी और खुरदरी धरती पर मात्र एक चीथड़े पर रोते रहते हैं । कुछ बड़े बच्चे भूखे प्यासे और नंग धडंग से इनके आस पास ही मंडराते हैं । पुरुषों से अधिक काम करने पर भी स्त्री - पुरुष की मज़दूरी में भेद किया जाता है ।

जब सर्दी के कारण कपूर साहब सारे मज़दूरों को मज़दूरी अग्रिम देते हैं ताकि मज़दूर सर्दियों के लिए कपड़े, रजाइयां और गुड़ वगैरह खरीद सकें । मगर सरदारजी जानते हैं कि सर्दियों में मज़दूर शराब पीते हैं और बिना रजाई ओढ़े सो जाते हैं । घर में चूल्हा जले या न जले उन लोगों के लिए शराब, चरस जैसे नशीले पदार्थ ही ज़िन्दगी बिताने के लिए सब कुछ है। इसप्रकार वे लोग अतीत को याद न करके भविष्य की ओर न देखकर वर्तमान में ज़िन्दगी जीते हैं। मज़दूरों की इन आर्थिक विषमताओं पर लेखक ने अपनी पैनी दृष्टि डाली है।

समकालीन हिन्दी उपन्यासों में सामाजिक और आर्थिक जीवन के यथार्थ को पूरी समग्रता के साथ अंकित किया गया है । समकालीन भारतीय परिवेश में अभी पूँजीवादी व्यवस्था ही मुख्यतः कार्यरत है ।

नारी शोषण :

"मैं मनुष्य हूँ और मनुष्य की ही भाँति समाज में रहने की अधिकारी हूँ। मेरा 'स्व' दाँव पर न लगे मेरी अस्मिता सुरक्षित रहे।"[1] यदि यह वाक्य हम स्त्री के संन्दर्भ में कहे तो, 'मुर्दाघर' के हर एक स्त्री पात्र इस वाक्य को दुहराएगी । उनके लिए यह वाक्य सत्य नहीं है । मानव जीवन के बूनियादी प्रश्न समान रहते हुए भी आनुषांगिक परिस्थितियों के कारण ग्रामीण एवं शहरीय नर नारी के जीवन में विभिन्न समस्याओं का समावेश हो जाता है । शहरीय जीवन की अपनी कुछ विशेषताओं के कारण नगरीय जीवन की नारियों में कुछ विशेष प्रकार की समस्याओं को विश्लेषित किया जा सकता है। शहर के जीवन में दो तरह के जीवन हम देख सकते हैं - सुसंस्कृत, संभ्रान्त तथा कथित कुलीन शहरीय जीवन और झोपड़ पट्टियों और कच्ची बस्तियों का जीवन, जो किसी नरक से कम नहीं होता । बम्बई के 'महिम' या 'धारावी' की झोपड़ - पट्टियों में नारी का जो जीवन है वह कहीं कहीं तो ग्रामींण परिवेश की निम्नस्तरीय नारियों से कई गुना ज़्यादा बदतर होता है ।

'मुर्दाघर' में नारी जीवन के संबन्ध में देखने पर अनेक प्रकार की ज़िन्दगियां देखने को मिलेंगी । जो अपने शरीर को एक या दो रूपये में सौदा करती हैं । इन वेश्याओं के गन्दे, घिनौने, सड़ाँधपूर्ण जीवन में कहीं कहीं मानवता की झिलमिलाहट की दीप्त छवियां भी उभरकर आती हैं । प्रस्तुत उपन्यास में लेखक ने बम्बई के निम्नतम वर्ग की उन औरतों का चित्रण किया है जो कभी

---

1. मधुमति - अक्तूबर 1996 - पृ. सं : 51

मुम्बई में किसी सपने को लेकर आयी थीं। मैना भी ऐसा सपना लेकर मुम्बई आयी थी । परन्तु उसके प्रेमी ने उसके साथ विश्वासाघात किया, मुम्बई में रत्न व्यापार करनेवाले एक आदमी के हाथ में उसे बेच दिया, फिर एक के बाद अनेक लोगों के हाथ से गुज़रते हुए वह पोपट के हाथ में आ गयी । वह भी मैना के जिस्म का सौदा करके शराब पीकर मस्त रहा । मैना के सारे स्वप्न एवं मोह चूर चूर हो गये, वह एक आदर्श गृहणी बनना चाहती थी, लेकिन परिस्थितियों के भंवर में पड़कर वेश्या जीवन जीने केलिए विवश हो गई।

वेश्यावृत्ति का इतिहास स्त्री पुरुष की उत्पत्ति के साथ संलग्न है । वेश्यावृत्ति हमारे समाज में फैला हुआ एक कोढ़ है। वेश्यावृत्ति के अनेक महत्वपूर्ण कारणों में निर्धनता एक प्रमुख कारण है। 'मुर्दाघर' का पूरा परिदृश्य इस तथ्य को सिद्ध करता है । रंड़ी की ज़िन्दगी के कुछ कटु सत्य मरियम के माध्यम से सामने आते हैं । जब मरियम गर्भवति बनजाती है तब वह परपेशान है कि क्या करे ? जो संभ्रान्त महिलाओं का सौभाग्य है वही मरियम का दुर्भाग्य । जब प्रसव वेदना शुरू हुई तो अल्ला से प्रार्थना करती है कि क्यों अल्ला ने रंड़ी को बच्चा दिया, अल्ला भी उनकी राय से अंधा हो गया है।

गरीब रंड़ियों को विवाह से कोई मतलब नहीं है । रोज़ी की ज़िन्दगी में ऐसा ही हुआ था। कभी उसका भी मरद हुआ था "पहला चला गया छोड़कर.....दूसरा आया शादी नहीं 'बनाया' थोडे दिन का साथ.....निकाल दिया रोज़ी को । .....फिर तीसरा.....फिर चौथा.....फिर जिसने खिला दिया रोज़ी को.....हो गया रोज़ी का मरद । हर हफ्ते के बाद हर रात .....नया मरद । मगर हारी नहीं रोज़ी।

ज़ारी रही मरद की तलाश।"[1] एक सुरक्षा साधारण स्त्रियों की भांति रोज़ी भी चाहती थी । उसने अपना मर्द कहने केलिए मात्र किसी एक मर्द के साथ खड़ा होकर फोटो खींचना चाहा । लेकिन कोई रोजदी नहीं हुआ । ज़िन्दगी ऐसा ही गुज़र गयी । वेश्या नारी का भी हृदय होता है, जिसमें भावनाओं का उद्वेलन रहता है । ममता व सहारे के लिए पतित वेश्या नारी का भी प्राण छटपटाता है । वेश्यावृत्ति के कारण रोज़ी को मुफ्त में छूत की बिमारी मिली । उसका झोपड़ा चला गया। लोग उसे देखते ही दूर भगने लगे।

पुलिस की ज़्यादतियों और सड़क पर शरीर विक्रय कर अपना पेट मुश्किल से पालनेवाली रंड़ियों का जो चित्रण 'मुर्दाघर' में हुआ है । वह रंड़ियों के जीवन की असलियत को पेश करता है और वे हमारी हमदर्दी के पात्र बन जाता हैं । झोपड़ पट्टी के आस पास के शरीफ और अच्छे धंधे करनेवालों ने पुलिस से शिकायत की, इसलिए कानून के रखवालों ने झोपड़पटी पर अचानक रेड डाला, "अंधेरे कोने से निकल - निकल कर भाग रही है रंड़ियाँ रेलवे लाइन की तरफ । सफेद रोशनी की सड़क से दौड़े आ रहे हैं पुलिसवाले । क्या करे मैना ? क्या करेगी भाग कर ? मगर नहीं .....जैसे एक मशीन काम करती है । भागना शुरू कर देती है रेलवे लाइन की तरफ । भागी चली आ रही है नूरन भी। भाग गया उसका ग्राहक। बशीरन दौड़ नहीं पाती .....भाग रही है मगर । शांति.....पारबति..... जमीला.....सब की सब।"[2] पुलिसकस्टडी की बम्बई की कोठरी ज़्यादा बड़ी नहीं है । उसमें दो शौचालय और दो बाथरूम हैं । "रेंग रहे हैं कीड़े दीवारों पर । मारे

---

1. जगदम्बा प्रसाद दीक्षित - मुर्दाघर - पृ. सं :15
2. जगदम्बा प्रसाद दीक्षित - मुर्दाघर - पृ. सं :40

गये कीड़ों के निशान से काली हो गयी है दीवारें । पसीने की बदबू और पेशाब की बदबू फैली पड़ी है औरतें। गरमी बहुत....और उतारकर फेंक दिये हैं ब्लाउज़ ....साड़ियां।"[1]

पुलिस छोटी लड़कियों को रिमाण्ड होम में डालती हैं । वहाँ का तो मामला ही और है । कोई भी आकर पुलिस साहब को पांच सौ रूपया देता है, साहब उसे उसका भाई या बाप समझकर उसके साथ भेज देता है । वह भाई स्वयं उस पर मौज मारकर रोज़ एक एक आदमी को बेचकर धंधा करवाता है । चमेली तीन बार पकड़ी गयी और तीन बार उसे रिमाण्ड़ होम ले गए । हर बार कोई न कोई भाई और बाप आता है और उसे धंधे के लिए ले जाते हैं । "मुम्बई का लोक मेरा भाई है जो साब कूदेंगा रूपिया.....वोच मेरा भाई हो जाएँगा । भाई नई होएँगा तो मरद हो जाएँगा । पुच ! साला या लोक कितना पइसा कमाना । इधर होक का छाकरी लोक भूका मरता । इसकी माँ की .....पुच सा।"[2]

गुजरात के एक गांव से लायी गयी एक छोकरी को प्रेमी ने मुम्बई में लाकर किसी को बेच दिया था। मैना छोकरी को अपने गांव वापस लौटने को कहती है , मैना उसे समझाती हैंकि "ये मुम्बई है ? मुम्बई क्या ये आक्खा दुनिया है ना.....बाज़ार है भोत बड़ा बाज़ार।"[3] एक भंट्ठी है मुम्बई में । दूर दूर गांव से छोकरियों को लाकर बाज़ार की भट्ठी में डाला जाता है। एक बार भट्ठी में गिरेगा तो फिर धंधे के लोग निकलने नहीं देंगे। एक बार होम में गई तो बन जाएगी पूरी रंड़ी ।

---

1. जगदम्बा प्रसाद दीक्षित - मुर्दाघर -पृ. सं :69
2. जगदम्बा प्रसाद दीक्षित - मुर्दाघर - पृ. सं :55
3. जगदम्बा प्रसाद दीक्षित - मुर्दाघर - पृ. सं :79

सारी वेश्याएँ जमानत करने वाले ऐसे मजिस्ट्रेट की प्रतीक्षा में है, जो यह कहकर उन लोगों को छोड़ देगा कि इनका कुछ गुन्हा नहीं, बदले में इन्स्पेक्टर और हवलदारों को दंड़ दो जो इन वेशयाओं को जेल में गिरफ्त करके रात को भोगकर दिन में डंड़े से मारते हैं । लेकिन ये सब वेश्याओं का सपना या आशा मात्र है। पारबती की शिकायत है कि 'ये साला लोक अपने कू पकड़ता। रंड़ी का होटल चलाता .....उनकू नई पकड़ता । इनकी मां की।"[1]

इसप्रकार वेश्याओं की ज़िन्दगी जीनेवाली अनेक रंड़ियों का दिल पिघलाने वाला चित्र दीक्षितजी ने 'मुर्दाघर' में खींचा है । समाज के सामने कानून की विशिष्टताओं का पेशेवर प्रदर्शन पुलीस और न्यायतंत्र करते है । परन्तु उसमें उभरती है स्त्री की लोक लज्जा और पुरुष वर्ग की यौन प्रतिष्ठा, निम्न वर्गीय समाज के स्त्री - पुरुषों की मूलभूत मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ती का साधन उपलब्ध किए बिना रंड़ियों की झोपड़ पट्टी पर पुलिस का लाठी डंडे से आक्रमण, उनके नगर से बाहर खदेडना, लॉकअप के अंदर बंद करना आदि इस सामाजिक कोढ़ का सही इलाज नहीं है । 'मुर्दाघर' में इसका प्रतीकात्मक चित्रण जगदम्बा प्रसाद दीक्षीत ने बड़े ही बेबाक नज़रिये से खींचा है ।

शैलेश मटियानी के उपन्यासों में नारी के अनेक रूप मिलते हैं । मटियानी ने नारी को केन्द्र में रखकर विपुल लेखन भी किया है । 'कोई अजनबी नहीं' का रामप्यारी कभी सामान्य पात्रों की भांति जन सामान्य में घुल मिल जाती है तो कभी अपना अलग अस्तित्व बनाता है । उसके ज़रिए दिल्ली शहर की

---

1. जगदम्बा प्रसाद दीक्षित - मुर्दाघर - पृ. सं :108

चकाचौध को बीच में रहनेवाले किसी का ध्यान न आकर्षित करके अपने सुख दु:खों में जीनेवाले मज़दूरों की झुग्गी झोपड़ पट्टी ज़िन्दगी का वर्णन मटियानी ने किया है।

रामप्यारी पहली बार शहर आयी है, वह भी दिल्ली जैसे बड़े शहर में । क्षेत्र जहां भी हो स्त्री के प्रति लोगों की मानसिकता जैसी की तैसी ही है । शहर में आकर उसने जो कुछ महसूस किया था वह ज़िन्दगी में पहली बार नहीं था । उसके कद्दावर जिस्म के कारण वह जहां भी जाए लोगों के लिए परिहास का विषय बन जाता था । उसके कद्दवर जिस्म को कँटीले के पत्तों - जैसी चुभन वाली नज़र से देखने वाले जितने गांव और कस्बे में थे, उतने या उससे भी ज़्यादा लोग शहर में भी थे । वह पीठ पर ठंड बरदाश्त कर सकती है, लू बरदाश्त कर सकती है, पीठ पर कंटीले के पत्ते और रेंगते हुए कन खजुरे बरदाश्त कर सकती है । लेकिन पीठ पर चुभती हुई मरदों की हथेलियों और आँखें बरदाश्त नहीं कर सकती थी ।

रामप्यारी गांव छोड़कर हरिहर सिंह अहीर के साथ कस्बे में इसीलिए गई थी कि अपने ही मायके के लोगों का अपने को तमाशाइयों की तरह देखना उससे बरदाश्त नहीं हो पाया था । फिर वह कस्बे को छोड़कर मातादीन चौकीदार के साथ दिल्ली जैसे बड़े शहर में आ गया। उसने अनुभव किया कि सिर्फ जगह बदलने मात्र से अपने अंदर का आत्मबोध नहीं बदलेगा । उसकी कद्दावर जिस्म को हर आदमी पहचान सकता है लेकिन उसके औरत जात होने के इस बोध को कोई नहीं पहचान पाता है ।

शहर में उसे किसी साहब के यहां रखैल के रूप में रखने केलिए ले आया था । संसार भर के लोगों के लिए औरत जात को पहचानने वाली आँख भगवान

ने नहीं दी है । मातादीन तब उसे द्रौपदी बनाकर अपने कमरे के पांच मरदों के साथ रहने को कहते हैं तब वह बड़े साहस से मातादीन को एक थप्पड़ देकर कोठरी छोड़कर चली जाती है । "दुरोपदी - दुरोपदी कहता है पापी। अरे चोट्टे, पांच पांड़वों और पांच कुत्तों में बड़ा फर्क होता है।"[1] पर पारिवारिक और सामाजिक रिश्तों से कटी हुई औरत अकेली जानकर ही सारे के सारे पुरुष उसका दैहिक शोषण करने को निकलता है ।

"पुरुषों जिस दृष्टि में औरत की धार्मिक स्तूपों के अंदर रखी हुई पवित्र अस्थियों जैसी पसलियपर टिके हुए स्तनों की मांसलता के परे का नारित्व को सोन्दर्य नहीं होती।"[2] यह शहरी जीवन का सबसे विचित्र नेगा और शर्मनाक अनुभव है। मगर इसी में रामप्यारी जैसा चरित्र भी जो धोखा खाने, बेचे जाने, सताए जाने के बावजूद जीवन के प्रतिं अपने उछाह और आस्था में अड़िग है । जीवन नितान्त असुरक्षित, अर्थहीन और अमानवीय होने पर भी वह जीवन में एक नए अर्थ की खोज करती रहती है ।

भारत की लगभग 85 प्रतिशत आबादी मज़दूरी करके जीवन बिताती है। मज़दूरों के जीवन में शोषण के सिवा कुछ नहीं है । महिला मज़दूर तो और भी अधिक शोषित होती है । प्रस्तुत उपन्यास में दिल्ली की मज़दूर बस्तियों के जीवन का विशद वर्णन किया गया हैं । महीला मज़दूरों को अपने श्रम का सम्पूर्ण व उचित मुआवज़ा नहीं मिलता और दूसरे उन्हें हेय दृष्टि से देखते हैं । साथ काम

---

1. शैलेश मटियानी - कोई अजनबी नहीं - पृ. सं : 16
2. शैलेश मटियानी - कोई अजनबी नहीं -पृ. सं : 31

कर रहे मज़दूरों का व्यवहार भी ठीक नहीं होता है । ऊपर से ठेकेदार की मनमानी भी उन्हें झेलनी पड़ती है। मज़दूरों के काम की देखरेख करनेवाला सरदार खुशवन्त सिंह मज़दूरिनों के हाथों से ईंट उतारते वक्त जानबूझकर मज़दूरिनों के हाथ, छाती पर स्पर्श करके स्त्रियों के साथ छेड़ छाड़ करती है । मज़दूरिनें मज़बूर होकर पेट के वास्ते ठेकेदार को असन्तुष्ट न रखने केलिए चुपचाप सब कुछ सह लेती हैं । आज गांव से लेकर शहर तक बचपन से वृद्धावस्था तक यदि हम आकलन करें तो नारी जाति का शोषण ही शोषण हो रहा है । जो न सिर्फ यौन स्तर पर ही नहीं श्रम के क्षेत्र में भी अवमूल्यन किया जा रहा है। जो मानवता के नाम पर उपहास है।

व्यक्ति और परिवेश की गहन टकराहट व्यक्ति के व्यक्तित्व के संपूर्ण गठन को अर्थात उसकी वृत्ति, प्रवृत्तियों, आचरण के मानों, मूल्यों और व्यवहारिकता को तथा शील को गहन रूप में किसप्रकार प्रभावित करती है 'लाल पीली ज़मीन' इसको उद्धृत करता है । उस बस्ति में लड़कियों को जवानी प्राप्त होने के पहले ही घर की चार दीवारी में कैद किया जाता था। विवाह की बेड़ियों में विकास के पहले ही उन्हें बाँध दिया जाता था । क्यों कि "वहाँ इतने सांड़ फिरते रहते थे कि आम आदमी अपनी लड़की तेरह चौदह में ही ब्याहकर नीबटा देने की सोचता था।"[1] स्त्री जीवन की भयानक नियति शांति,मालति, छवि, शैलजा के माध्यम से इतने शक्तिपूर्ण ढंग से व्यंजित की गई है कि अन्तर्मुख होकर विचार करने वाला पुरुष भी अपने को पुरुष होने की नियति को कोसता रहता है।

---

1. गोविन्द मिश्र - लाल पीली ज़मीन - पृ. सं :161

शांति के पास अपनी बस्ति के सांड़ों से बचने का उपाया था । वह मुहल्ले के लौड़ों से बचने के लिए अकेले निड़र होकर जाने केलिए अपने आपको युवावस्था में ही बूढ़ों की तरह आचरण करके रहते थे । यौवन की कुछ छल की बूँदें शांति को मिलती हैं बड़े के साथ झूले पर पेंग भरते वक्त और उसके घर रोटियाँ बनाकर खिलाते वक्त। अपने मुहल्ले के प्रति उसको कोई विशेष इच्छा नहीं थी और चिढ़ और गुस्सा कुछ ऐसा था कि शादि के पहले बड़े के हाथ पकड़कर मुहल्ले के सामने खड़े होकर कालिख पोतना चाहती थीं, वह मुहल्ले के नाम पर। लेकिन किस्मत का खेल था कि उसे गंदे, वयस्क, लंगोटधारी पंड़ित की वासना का शिकार होना पड़ा और "यहां की हर औरत बड़ी सक्त होती है, उसकी छाति मर्द की छाती से भी मज़बूत होती है।"[1] कहनेवाली शांति पंड़ित के बलात्कार के परिणामस्वरूप मानसिक यातना से मर जाती है ।

छवि मन्दिर में नारायण को देखने केलिए आती थी । लेकिन बचपन से ही बस्ति में यह फैलाया गया था कि प्रेम पाप है । बस्ती की गलियों में सिर्फ त्योहार के दिन ही औरत जाती थी वह भी ढेर सारे झुंड़ के साथ । फिर बाकी दिनों में वहीं दीवारें, वहीं कमरा, वहीं लोग। दिन भर कैद के बाद शाम को मन्दिर चला जाना एक तरह की मुक्ति भी थी । छवि और शान्ति जैसी लड़कियों के जीवन में थोड़ी सी रोमानी पुलक पैदा हुआ फिर भी उन दोनों को भीषण नियति का शिकार होना पड़ा ।

---

1. गोविन्द मिश्र - लाल पीली ज़मीन - पृ. सं :129

किसी के आसपास न फटकने वाली शैलजा को भंगेडी फहलवान कल्लू भगा ले जाता है। उसकी पीड़ा पाकर वापस आने के बाद कौशल मास्टर जैसा समझदार व्यक्ति भी कह देता है "मर तो सकती थी"[1] हर पिता लगभग इसी तरह चिन्तित है अपनी पुत्रि को लेकर - "क्या करेगी कौन ब्याहेगा तुझे अब? बदबू मारती घूमती लड़कों की जवानी के माहौल में सब पिता जैसे लाचार है, विवश है, अमानुष होने केलिए बाध्य है।"[2]

मालती को पंचायत के मुताबिक एक अधेड़ वृद्ध से शादि करना पड़ा उसके तीन पत्नियाँ मर चुकी थीं । पांच छः दिनों बाद वैसे सूखे सूखे ढंग से विवाह भी होगया। न कोई बारात, न कोई पालकी। लड़के की उम्र मालती से 15-20 साल ज़्यादा है । बड़े बुजुर्गों का कहना है कि इतना तो फर्क होना चाहिए। मालती की माँ इस विवाह के एकदम खिलाफ थी । लेकिन कौन मानता है, निर्णय सब बड़े पंचायत करते हैं । उनके अनुसार "औरत में सोचने की ताकत है कहाँ?"[3] मालती अपनी इच्छा के विरूद्ध होने वाले विवाह के प्रति एक शब्द भी नहीं बोलती है, उसे लग कि लड़कियों को भगवान ने मूँह क्यों दिया है । थोड़ा बहुत मूँह खोलता है तो वह शादि के बाद ही। मालती की माँ को लगा 'औरत तो गाय है चाहे जिधर को हाँक दो, चाहे जिस खूँटे से बँध दो।"[4] लाल पीली ज़मीन की लड़कियों अपने यौवन को भोग ही नहीं सकती थी । यह दर्दनाक तथ्य लगभग हर नारी प्रमाणित कर देती है ।

---

1. गोविन्द मिश्र - लाल पीली ज़मीन - पृ. सं :212
2. गोविन्द मिश्र - लाल पीली ज़मीन - पृ. सं :212
3. गोविन्द मिश्र - लाल पीली ज़मीन - पृ. सं :161
4. गोविन्द मिश्र - लाल पीली ज़मीन -पृ. सं :163

राजनीतिक परिवेश :

महानगर में अन्य सारी बातें मिलेंगी पर नेता और राजनीति बहुत कम ही मिलेगें। क्यों कि महानगर के लोगों को नेता से कुछ लेना देना नहीं । उनका प्रत्यक्ष उनसे कुछ सम्बन्ध नहीं रहता । उनके प्रति लोगों में उस प्रकार की कोई सहानुभूति नहीं होती जो गांव में होती है।

नेता का जमाधर गांवों में होता है । गांवों में ही मतदाता अधिक है और वे लोग इतने भोले हैं कि नेता लोग बड़ी आसानी से उसे अपने जाल में फंसा देता है। इसलिए राजनीति की उठापटक और जोड़ तोड़ गांवों में अधिक देखने को मिलती है । महानगरों में शिक्षा का प्रसार, तेज जीवन, निरन्तर व्यस्तता आदि के कारण शहरों के लोगों को नेता और राजनीति से ज़्यादा सरोकार नहीं होता । वे हमेशा अपनी रोज़ी रोटी के संघर्ष में दिन काटता हैं और शहर के भागदौड़ में किसी को रुककर राजनीतिज्ञों के लंबे लंबे भाषणों और झूठे वादे को सुनने का फुरसत नहीं है । इसलिए गांव केन्द्रित आंचलिक उपन्यासों में राजनीति के विभिन्न पहलुओं को जितना सशक्त चित्रण मिलता है उतना शहर केन्द्रित आंचलिक उपन्यासों में नहीं होता है ।

गोविन्द मिश्र ने जिस समाज को उपन्यास्त किया है उसमें घोर पार्टी बन्दी है । किन्तु यह राजनीतिक किस्म की पार्टी बन्दी से भिन्न जातिवादी और गुंड़ा गर्दीवाला पार्टी बन्दीं है । यादव पार्टी और चौबेपार्टी खुलकर मैदान में है। बीच में है बोस साहब, राजनीतिक आदमी जो दोनों का इस्तेमाल करता है । कालेज का विद्रोह भी सामने है पर वह भी अराजनीतिक है । शिक्षा संस्थाएँ अन्याय, जोड़

तोड़ और राजनीतिक व्यक्तियों का अखाड़ा है । उपन्यास बताता है कि किस तरह छात्रों को राजनीतिकनेता लोग अपना उल्लू सीधा करने के लिए इस्तेमाल करता है । हिंसा को व्यापक राजनीतिक संदर्भ से जोड़ने की विफलता भी इसमें है ।

मास्टर कैलाश गांधिजी के अहिंसा सिद्धान्त पर विश्वास रखते थे। उनका दावा है कि बचाव में लड़ने को गांधिजी हिंसा नहीं करते थे। वह कैलाश और शिवमंगल के बीच के झगड़े को जानकर गांधिजी के सिद्धान्तों को अपनाने के लिए कहता है । उनके अनुसार "हिंसा आदमी को अन्दर और बाहर दोनों जगह है दोनों में से एक जगह कुछ दबी रही वहां चलता है , जहां दोनों ही उफान पर हो वहां सिर्फ विनाश ही विनाश है। इसलिए यह प्रदेश हमेशा पिछड़ा रहा है।"[1]

एक ज़माना था जब बस्ती में सिर्फ चौबों की शासन चलती थी। पर आज़ादी के साथ जब जादवों ने भी शहर में पाव फैलाना शुरू कर दिया। नाई और ब्राह्मण लड़कों के बीच के झगड़े को ठाकूर नेता इमेज बनाने का अच्छा मौका मानते हैं। बोस केशव की मां को राजनीति में लाकर स्त्रियों की वाट बटोरना चाहते हैं । चुनाव के पहले बोस छोटी जाति को ऊपर उठाने की बड़ी बड़ी बातें करते थे । लेकिन वह अब बिलकुल अवसरवादी नेता बन गये है क्यों कि उसके सिरपर दिल्ली के चक्कर लगा है, इसलिए वे कुछ और ही सुर में बोलने लगे हैं।

स्कूल का उस छोटे से शहर में बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है । शिक्षा के क्षेत्र में आजकल राजनीति का बोल बाला चल रहा है । जुलूसों केलिए भीड़, मीटिंग केलिए आदमी बटोरना या चुनाव के समय भाग - भाग कर काम करने आदि के

---

1. गोविन्द मिश्र - लाल पीली ज़मीन - पृ. सं :104

लिए राजनीतिज्ञों को छात्रों की आवश्यकता थी । मास्टर कंठी को प्रिंसिपल बनने का अवसर इसलिए नहीं देता था कि वह किसी पार्टी या सेठ, साहूकरों का आदमी नहीं था। शिक्षा का क्षेत्र इतना बिगड़ गया था कि परीक्षा में नकल करने को अवसर न देने के कारण छात्र अध्यापक को चाकू से मार देता है । शिवमंगल मास्टर कंठी की हत्या करके बोस के घर में छिपा रहता है, और बोस लोगों को उसे जल्द से जल्द पकड़ने की दिलासा भी देता है । सुरेश पढ़ने से ज़्यादा अपने को एक गुण्ड़ा साबित करके पूरे मुहल्ले को डराए रखने की कोशिश में लगातार रहता है, और वह कामयाब भी होता है।

भारत और मास्टर जो है हिंसा से सामाजिक व्यवस्था को ठीक कराने की आशा करता है। कभी कभी मास्टर को समझाता है कि सामाजिक व्यवस्था सड़ चुकी है इसे बदलना चाहिए । उन लोगों का उद्देश्य कोई नई व्यवस्था लाना नहीं, बल्कि जो सामाजिक व्यवस्था चल रही है उसे उखाड़ना है। उनके अनुसार अव्यवस्था पैदा करके ही नये केलिए जगह पैदा कर सकते हैं और वे अपने को स्वयं समाज का 'कन्स्ट्रक्टीव' मानते हैं। उनके लिए हिंसा ही एकमात्र हथियार है। उनकी दृष्टि में "आदमी की हर हरकत हिंसा है, एक आदमी की औरत को बीवी बनकर रखना हिंसा है, बच्चे को खास ढ़ंग से शिक्षा देना हिंसा है, आदमी को कायद से जीने के लिए मजबूर करना हिंसा है.....बाप का लड़के को समझना हिंसा है।"[1] वे लोग व्यवस्था का विरोध करते हैं व्यक्ति का नहीं । राजनीति के संबंध में उनकी मान्यता है कि 'राजनीति तो वह समुन्दर है जहाँ हर तरह की हिंसा की

---

1. गोविन्द मिश्र - लाल पीली ज़मीन - पृ. सं : 236

धाराएँ नदियों की तरह आकर गिरती है और फिर जो हिंसा इस समुद्र से निकलती है।"[1] पुलिसों के रवैये भी राजनीतिज्ञों को समान ही है । जिसके पास धन है उसके साथ पुलिस है ।

'मुर्दाघर' में भी पुलिसों के नीच व्यवहार का वर्णन और राजनीतिज्ञों, स्मग्लेरों के साथ मिलन को दीक्षितजी ने चित्रित किया है । रेलवे स्टेशन पर सादे कपड़ों में पुलिस जब्बार को घसीटकर ले जाती है । थाने ले जाकर उसपर झूठा इलज़ाम लगाता है कि उसने हवलदारों पर हमला किया था । तब वह चिल्लाता है 'तुम लोग चोर .....सब से बड़ा चोर। तुम चोर.....तुम्हारा सब लोग चोर..... तुम्हारा मिन्स्टर चोर.....साला....तुम सबका पइसा खाता"[2] झोपड़ पट्टि में दारूवाले और मटकेवाला भी है, वे लोग पुलिसों को हफ्ता देते हैं । इसलिए रेड होने पर पहले ही इनं लोगों को पुलिस सूचना देती है । बशीर ने एक स्मग्लर के बगल से ब्लाक रूपये की चोरी की थी । वे सोचते थे कि ब्लाक रूपया होने के कारण वह पुलिस में शिकायत नहीं करेगा । लेकिन इन ब्लाक रूपयों का अच्छा नाता रिश्ता है । इसप्रकार की एक सामाजिक व्यवस्था का नंगा रूप पाठकों के सामने खुलकर रखने का कार्य दीक्षितजी ने 'मुर्दाघर' उपन्यास के द्वारा किया है ।

नगर जीवन नयेपन और आधुनिकता के कारण टूट रहा है। लेकिन फिर भी वह अभी तक गांव के पुरानेपन और उखड़ेपन से बहुत दूर है । गांव, कस्बा, शहर, सभी टूटन से अभिशप्त है । शहरों में दिखाई देने वाले सामाजिक और

---

1. गोविन्द मिश्र - लाल पीली ज़मीन - पृ. सं :237
2. जगदम्बा प्रसाद दीक्षित - मुर्दाघर - पृ. सं :177

सांस्कृतिक संघर्ष के तीव्र रूप और कहीं भी दिखाई नहीं देता है । जो व्यक्ति गांव से नगर आता है उसे प्रायः शहर के बाहरी हिस्से में रहना सस्ता होता है । जब कि शहर के बीचों बीच व्यापार, उद्योग इत्यादि के केन्द्र इतना बढ़ जाते हैं कि वहां पर उसका रहना अति कठिन होता है। शहर के इन बाहरी हिस्सों में उसे तंग गलियों, गंदी बस्तियों, कूचों, एवं फूटपाथों, सड़कों के किनारे पर झोपड़ पट्टी बनाकर रहना पड़ता है । जीवन में इतनी व्यस्थता एवं परेशानी के कारण शहर के बाहरी भाग गरीबी, निर्धनता, एवं अपराधों के अड्डे बन गये हैं। इन बस्तियों में न बिजली, न जल और न ही सफाई की व्यवस्था होती है। वहाँ होता है शिक्षा एवं चिकित्सा सुविधाओं का अभाव, यौन का व्यापार, भीख, अपराधों का प्रश्रय आदि।

आज हिन्दी उपन्यास मानवीय पीड़ा और संघर्ष को व्यक्त करने का महत्वपूर्ण माध्यम है । जिसप्रकार पिछड़े गांव के अंचल और पिछड़ी जनजाति की समस्याओं का ज़िक्र समकालीन आंचलिक उपन्यासाकार करते हैं उसीप्रकार शहर केन्द्रित आंचलिक उपन्यासकार भी शहर में रहकर शहर की संतती न कहने वाले उपेक्षित जनजीवन की व्यथा को वाणी दी है और हमारे चारों तरफ के अनबुझे रहस्यों को पाठकों के सामने खोलकर रख दिया है ।

चौथा अध्याय

जाति, जनजाति और धंधा केन्द्रित आंचलिक उपन्यास

भूमिका :

हिन्दी के आंचलिक उपन्यासों में जनजाति केन्द्रित उपन्यासों का महत्वपूर्ण स्थान है। हिन्दी के जनजाती मूलक उपन्यास, जाति केन्द्रित उपन्यास और धंधा केन्द्रित उपन्यास आंचलिक उपन्यासों के अन्य आयाम हैं। आंचलिकता के अनेक क्षेत्रीय भेद माने जाते हैं - नगरीय, कस्बाई, ग्रामीण, जंगली, पहाड़ी, विशेष धंधे जैसे मछुआरे, बुनकर आदि लोगों की कथा अनुसूचित जाति जैसे चमार और नटों की जीवनगाथा आदि आंचलिक उपन्यास की श्रेणी में दर्ज किया जाता है।

हिन्दी के जनजाति, जाति और धंधे को लेकर लिखे गये उपन्यासों से भारत के विभिन्न क्षेत्रों में बसी हुई जनजातियों, जातियों और विशेष धंधे को लेकर जीनेवालों का परिचय मिलता है। भारत विविध जातियों का देश हैं । आदिवासियों की समस्याएँ अनुसूचित जातियों के समान होते हुए भी कुछ भिन्न थीं। दलित भारतीय समाज का अंग होते हुए भी कुछ उनसे बहिष्कृत करके रखे गए। आदिवासी तो उस समाज और सभ्यता से ही बहिष्कृत कर मुख्य धारा से अलग थलग कर दिए गए थे। अनुसूचित जाति के लोग गांव में ही रहे उससे बहिष्कृत होकर पर वे उस सभ्यता के भीतर रहे। उसके विकास के साधन बनकर, फिर भी विकास से वंचित रहे । वे अपनी सुविधा के लिए नहीं दूसरों की सुविधा के लिए

ज़िन्दा रखे गए, पर गांव में ही रखे गये। लेकिन आदिम जातियाँ नैसर्गिक वातावरण और एकांत में रहने के कारण समाज एवं राष्ट्र की मुख्य धारा से दूर रह गयीं। आदिवासी सदियों से पीड़ित उस समुदाय के व्यक्ति रहे हैं, जो राज्य द्वारा प्रदत्त सामान्य सुविधाओं से भी वंचित रहा हैं। इम्पीरियल गज़ेटियर के अनुसार शिवतोष दास गुप्त का कहना है कि "आदिवासी जनजाति परिवारों के एक ऐसे समुदाय का नाम है जिसका एक समान नाम हो, समान बोली हो, जो एक समान भू-भाग पर रहता हो या उस भू भाग को अपना मानते हो, और जो अपनी ही जाति के भीतर ही विवाह करते हो"[1]

अपराधी जातियाँ भी इन जातियों के बीच होती हैं। समाज के विरुद्ध अपराध करना इनका पेशा है। सरकार की ओर से इन अपराधियों को सुधार करने के बदले में दमन और शोषण का कार्य किया गया। कबूतर जाति और नट इसीप्रकार की अपराधी जातियाँ हैं । जरायम पेशा ज़िन्दगी बितानेवाले कबूतर ओर नटों को समकालीन उपन्यासों का आधार बनाया हैं। मैत्रेयी पुष्पा का 'अल्मा कबूतरी', शिवप्रसाद सिंह का 'शैलूष' उसीप्रकार अपराधी करार किए गए जातियों की कथा है । भारत के विभिन्न प्रदेशों में व्याप्त जनजातियों को लेकर अनेक उपन्यास लिखे गए हैं । इन उपन्यासों से हमें अनेक जनजातियों का पता चलता है । उरांव, संथाल, थारू आदि जनजातियों को केन्द्र बनाकर लिखे गये उपन्यास हैं श्रवणकुमार गोस्वामी का 'हस्तक्षेप', मनमोहन पाठक का 'गगन घटा घहरानी', तेजिन्दर का 'कालापादरी', संजीव के 'धार' और 'जंगल जहाँ शुरू होता है' आदि।

---

1. डॉ.शिवतोष दास - भारत की जनजातियाँ - पृ.सं : 76

इन उपन्यासों के ज़रिए इन जनजातियों की संस्कृति को उजागर करने के साथ साथ शेषण के विभिन्न रूप पर भी प्रकाश डाला गया है।

दक्षिण भारत में केरल के मछुआरों की ज़िन्दगी को आधार बनाकर लिखा गया उपन्यास है डॉ. रामन नायर का 'सागर की गलियाँ' और बनारस के बुनकरों की ज़िन्दगी को आधार बनाकर लिखा गया अब्दुल बिस्मिल्लाह का उपन्यास है 'झीनी झीनी बीनी चदरिया' इन दोनों उपन्योसों के माध्यम से लेखक विशेष धंधे को लेकर जीनेवालों के समाज का परिचय कराते हैं । चमार समाज में व्याप्त कुरीतियों और उनकी संस्कृति को दिखाने वाला उपन्यास है जगदीश चन्द्र का 'धरती धन न अपना'।

समकालीन आंचलिक उपन्यास की सबसे बड़ी विशेषता हाशिये में रहनेवाले लोगों को प्रकाश में लाना है। समकालीन उपन्यासकार मैत्रेयी पुष्पा, संजीव, मनमोहन पाठक, तेजिन्दर, श्रवणकुमार गोस्वामी, जगदीश चन्द्र, रामन नायर, अब्दुल बिस्मिल्लाह, शिवप्रसाद सिंह, आदि लेखक अपने जाति, जनजाति और धंधा केन्द्रित आंचलिक उपन्यासों के द्वारा यह कार्य करने में सफल हुए हैं । इन तीनों प्रकार के उपन्यासों में हम सभ्य समाज से दूर हाशिये रहनेवाले उस समाज को देखते हैं जिनकी अपनी निजी भाषा, संस्कृति, रीति-रिवाज़ है । लेकिन इन तीनों प्रकार के समाज का शोषण करने वालों में कोई भिन्नता नहीं ।

भौंगोलिकता :

मनुष्य यद्यपि संसार में सबसे अधिक बुद्धिमान और बलवान प्राणी है तथापि उसे भी भौगोलिक परिस्थितियों के अधीन रहना पड़ता है । मनुष्य के

भोजन, व्यवसाय, वस्त्र, जीवन निर्वाह के अन्य उपाय, यातायात के साधन, आचार-विचार तथा व्यवहार इत्यादि सब कुछ उसकी उन भौगोलिक परिस्थितियों पर निर्भर रहते हैं जिनमें वह रहता है । उत्तर पूर्वी प्रदेश, मध्यवर्ती प्रदेश और दक्षिण प्रदेश के बड़े बड़े भू-भागों में भारत की अनेक जनजातियाँ बसी हुई हैं । नर्मदा और गोदावरी नदीयों के बीच का पर्वतीय भाग ही अपने अंचल में सर्वाधिक आदिम ज़नजातियों को लपेटे हुए हैं। ये जातियाँ विंध्या-पर्वत श्रेणी, सतपुड़ा, महादेव मैकाल और अजन्ता की पहाड़ियों की ढालों और पठारी भाग से लेकर देश के निचले भाग हैदराबाद के घने जंगलों, पूर्वी व पश्चिमी घाट के पहाड़ी प्रदेश और उत्तर पश्चिम में अरावली पहाड़ी तक बसी हैं । इस प्रदेश में मध्यप्रदेश के गौंड़ा, राजस्थान के भील, छोटा नागपुर के संथाल, उरांव, थारू, मुण्ड़ा, आदि आते हैं ।

समकालीन उपन्यासकार अपने आंचलिक उपन्यासों के ज़रिए एक एक प्रदेश और वहाँ के आदिवासी धंधा और जाति से हमारा परिचय कराकर हाशिये पर पड़े लोगों का विस्तृत फलक खोलकर रख देता है । शिवप्रसाद सिंह का 'शैलूष' नटों के कबीलाई जीवन पर लिखा गया उपन्यास हे, जिसका भौगोलिक क्षेत्र मिर्जापुर और विंधायाचल के आस-पास का पूर्वांचल है। रेवतीपुर और कमालपुर दो प्रदेशों को आधार बनाकर नटों की ज़िन्दगी सामने आती है । कमालपुर चंदौली तहसील का उभरता हुआ कस्बा है। बुंदेलखंड़ से लेकर पश्चिम में गुजरात तक और पूरब में बंगाल तक नट कबीले फैले हुए हैं ।

डॉ. रामन नायर का 'सागर की गलियां' का भू-भाग केरल के दक्खिनी छोर पर कन्याकुमारी से साठ-सत्तर मील दूरी पर अरब सागर के तट पर बसी तुरुत्त अंचल है । तुरुत्त पश्चिम सागर की कन्या है । साठ साल पहले कई गांवों

को सागर ने लील लिया था, तभी से यह तुरुत्त टापू हो गया। चारों तरफ पानी आ गया, उससे पहले तुरुत्त पड़ोसी गांव का एक हिस्सा था, अब चार सौ पांच सौ चालाओं का टापू बन गया। 'सगर की की गलियां' इस तुरुत्त में आकर मिलती थीं।

संजीव का 'जंगल जहाँ शुरू होता है' में थारू जनजाति के अनुकूल पड़ती है वहां की भौगोलक और सामाजिक स्थिति भी। उत्तर में पड़ोसी देश नेपाल, पश्चिम में पड़ोसी प्रांत उत्तरप्रदेश, बीच में प्रायः दुर्भेद्य जंगल, पहाड़, मीलों फैले गन्ने के खेत, नारायण नदी के तिलस्मी कछार, दुर्गम पहाड़ों और नदी नालों से आँटा पड़ा है यह क्षेत्र। थारू जनजाति को इसके चप्पे-चप्पे का पता है । चारों ओर इतना वीरानापन पसरा हुआ था कि इस क्षेत्र को देखकर यकीन ही नही होता था कि इसी देश में पटना, दिल्ली, कलकत्ता और बंबई जैसी गहमा गहमीवाली आबादी भी है । लोगों के बीच में ऐसा विश्वास था कि ईसा पूर्व 339 में ब्राह्मण चाणक्य और शूद्र चरवाहा बालक चंद्रगुप्त की भूमि था वह । थारुओं के अंचल को नेपाल और भारत के सांस्कृतिक सेतु के रूप में माना जा सकता था । इसमें दूसरा गांव गोबर्धना का भी उल्लेख है। यहाँ बनमुर्गी, तीतर, मैना, बुलबुल, पंडुक, कोयल और पपीहे की टेर जैसे इन विचित्र आगन्तुकों को टोक रही थी । पहाड़ी बतास चौरा इस गांव के पास है । बतास चौरा दो पहाड़ों को जोड़नेवाली डेंडी है, इसकी ऊँचाई एक हज़ार पांच सौ फीट है । उत्तर बिहार की यह भूमि स्वर्ग का वह खंड़ है जो हिमालय से पिघलकर पृथ्वि के रूप में परिणत हुआ है ।

मनमोहन पाठक का 'गगन घटा घहरानी' में चित्रित सोनाहातू, मोरंगा, लुपुंगा, जंगल की गिनती दक्षिण बिहार के सबसे घनी वनों में है । बिहार में सामन्ति अवशेषों के लक्षणों से युक्त शक्तियाँ जहाँ जहाँ घृणित रूप में सक्रिय है, उनमें

पलामू का नाम शायद सबसे ऊपर है। लेखक के इस उपन्यास की प्रेरणा भूमि पलामू और उसके आसपास के वे तमाम क्षेत्र है, जहाँ एक लंबे समय से आज़ादी की लड़ाई चल रही है । पलामू प्रेदश को आधार बनाकर लिखा गया उपन्यास 'जहां खिले है रक्त पलाश' का उल्लेख गांव केन्द्रित आंचलिक उपन्यासों में पहले किया था।

मध्यप्रदेश के गहन आदिवासी क्षेत्रों में घटित होती घटनाओं और जंगलों के पार साँस लेते उरांवों के जीवन का यथार्थ चित्र तेजिन्दर ने 'कालापादरी' में खींचा है। रोहतास गढ़ के साथ उरांव जाति की स्मृतियां जुड़ी हैं। वे रोहतास पठार के स्वतन्त्र निवासी थे। रोहतास गढ़ बिहार के दक्षिण पश्चिम शाहबाद जिले में है। छोटा नागपुर में पहले ही मुंड़ा जाति के लोग मौजूद थे। छोटा नागपुर क्षेत्र में उरांवों का मूल गांव 'खुखड़ा' माना जाता है। मुगलों ने उरांव और मुड़ों के इस क्षेत्र को 'झारखंड' नाम दिया। बाद में 'खुखड़ा' पर नवाब शाहबाज़ खनं ने आक्रमण किया। 'कालापादरी' में वर्णित अंबिकापुर कल जमा एक सड़क की बस्ती थी।

सतपुड़ा, बुन्देलखंड़, बघेलखंड़ एवं महादेव की पहाड़ियों को अपना आश्रय स्थल एवं कर्म स्थल बनाकर प्राकृतिक परिवेश के बीच जीवन यापन करनेवाले उरांव लोग तथा कथित आधुनिकता से दूर अपनी संस्कृति को सुरक्षित रखने का प्रयास करते हैं । इस प्रदेश के उरांवों के संकट को श्रवणकुमार गोस्वामी ने 'हस्तक्षेप' में चित्रित किया है । काशी, बनारस और मऊ का जीवन्त तस्वीर हमें अब्दुल बिस्मिल्लाह का 'झीनी झीनी बीनी चदरिया' से मिलता है। जगदीश चन्द्र का 'धरती धन न अपना' का संबन्ध पंजाब के हाशिए पुर जिले में स्थित घोड़े-वाहा ग्राम के चमादड़ी मोहल्ले से है । संजीव का 'धार' का संबंध बिहार और बंगाल के कोयला क्षेत्र में रहनेवाले संथालों के जीवन से है ।

इसप्रकार विभिन्न जनजाति, जाति और धंधे को केन्द्र बनाकर आंचलिक उपन्यासकारों ने पाठकों को दक्षिण से उत्तर तक, और पूर्वी से पश्चिम तक के भौगोलिकता का परिचय कराता है । साथ ही यह दिखाया जाता है कि भारत के विभिन्न प्रदेशों के घने जंगलों के अन्दर पहाड़ों के ऊपर समुद्र तट पर, छोटे छोटे गांवों में, गलियों में, बस्तियों में, शहर के मुहल्ले में कुछ लोग हैं, जो अपनी संस्कृति को बनाये रखने की कोशिश में हैं।

धार्मिक जीवन और अंधविश्वास :

भारतीय संस्कृति में धर्म के सर्वाधिक महत्व दिया गया है । "भारतीय परंपरा इस बात की साक्षी है कि धर्म की ग्लानी और अधर्म के उत्थान को ईश्वर भी सहन न कर वह अधर्म के विनाश और धर्म की स्थापना के लिए जन्म लेता है "[1] लेकिन आज धर्म इतना संकुचित हो गया है कि 'धर्म' शब्द सिर्फ संप्रदाय विशेष के अर्थों में प्रयुक्त होने लगा है । धर्म के इस बदलारूप शहर और गांव में ही नहीं विभिन्न जाति और जनजातियों के बीच जंगल में भी हम देख सकते हैं। जनजातियों के धार्मिक जीवन अनेक रूढ़ियों से जकड़े हुए हैं। वे कभी उससे मुक्त होना नहीं चाहते । अगर चहते भी तो समाज उसका अवसर नहीं देता। धर्म के प्रति आस्था से ज़्यादा अन्धविश्वासों का पालन ही इन लोगों का जीवन है।

'अल्मा कबूतरी' में अलौकिक शक्तियों के प्रति भय से परिचालित होकर शुभ की प्राप्ति और अशुभ के निवारण हेतु पूजा-पाठ, जादू-टोना, मन्त्र-तन्त्र आदि का प्रयोग अधिक दिखाई देता है। लोक-संस्कृति के धार्मिक पक्ष के अन्तर्गत जाति

---

1. डॉ. नवीन चन्द्र लोहनी - नई सदी के उपन्यास - पृ. सं : 203

विशेष के लोग भूत-प्रेत गण्ड़ा ताबीज, शकुन-अपशकुन, रोग-मृत्यि आदि से संबन्धित अन्धविश्वासों तथा अन्ध-परंपराओं को लोक विश्वास मानते हैं। राणा के बीमार हो जाने पर डेरे को लोगों को लगा कि उस पर जमुनी का साया आ गया है । उसे देखकर भजनी कहती है "हाय माता जमुनी चुड़ैल ने धर दबया"[1] राणा की दवा करने के स्थान पर बस्ती के लोग उसके सिर से भूत उतारने की तैयारी करते हैं । कज्जा लोग कबूतरा बालकों का खून अपने बच्चों की देह में चढ़वा देते हैं क्यों कि उन लोगों का विश्वास हैं इससे अपने बच्चो में मज़बूती और बहादुरी आ जाएगा । कबूतराओं शनिवार और मंगल के दिन चोरी करना शुभ माना जाता है तथा चोरी वाले घर में माल त्याग करना शकुन माना जाता है।

'जंगल जहाँ शुरू होता है' में डाकू समस्या के जो कई फीड़बैक्स है उनमें एक फीडबैक धर्म भी है। डाकुओं और थारू जनजाति के बीच भी अनेक अंधविश्वास प्रचलित है। डाकुओं की देवी है वनस्पति देवी। जंगल के अन्दर वनस्पति देवी का मन्दिर भी है। लेखक कभी कभी परेमा की तुलना व्यंग्य से वात्मीकी से करता है । क्यों कि वात्मीकी भी एक डाकू था पहले। उसी प्रकार परेमा भी डाकू है और वह जंगल में पूजापाठ आदि भी करता है। डाकू लोग आत्मशुद्धि के लिए 'लखरांव' और कीर्तन करते हैं। किसी महीने की कृष्णा चतुर्दशी को प्रदोष काल के पश्चात ही यह अनुष्ठान आरंभ करते है । इसमें भगवान शिव का विधिवत् पूजन होता है । डाकू और सब लोगों का विश्वास है कि ऐसा करने से गो-हत्या, ब्रह्म-हत्या, गुरू- हत्या, परस्त्री गमन, मद्यपान आदि

---

1. मैत्रेयी पुष्पा - अल्माकबूतरी - पृ. सं : 50

महा़पातकों का नाश होता है । "लूट हत्या और बलात्कार के दागों़ से जब चुनर मैली हो जाए तो धर्म की लांड्री में भेज दो सारा मैल धुल जाएगा, जिसे शिवजी उठाकर पी जाएँगे, इसके बाद फिर पाप करने की सहूलियत जितना चाहो करो।"[1] लखराँव करने का मतलब यह है कि धर्म इन्हें पाप मुक्त कर इनमें एक नया आत्मविश्वास भरेगा कि ये फिर से चोरी, डकैती, यौन-उत्पीड़न और अपहरण करने लगेंगे । कामदगिरी जंगल की थारू जनजाति के बीच के बहुत सिद्ध ओझा है । बिसराम बहू की बीमारी को जादू मन्त्र से दूर भगाने केलिए ओझा उसे मारते पीटते रहते हैं । गांववालों और ओझा का कहना है कि बिसराम बहू ने अपनी बच्ची को गाय का दूध दिया और उन्होंने हरिना का मांस खाया था । मास्टर मुरलीपांड़े थारू जनजाति के इन अंधविश्वासों को दूर करना चाहते हैं, लेकिन थारू लोग कभी तैयार नहीं होते । गांव के लोग ओझा के पूजा के बाद ही बिसराम बहु के परिवार को शुद्ध मान लेते हैं । मुरली पांड़े गांववालों को समझाते हैं कि "हिरण का मांस अनजाने में खा लेने पर तो तुम बेचारी बिसराम बहू को इतना बड़ा दंड़ दे रही है तो जिसने हिरण मारा उसका नाश क्यों नहीं कर देती? गाय का दूध लाचारी में बच्ची को पिला दिया बिसराम ने तो अनर्थ हो गया, लेकिन मलिकार उसकी भैंस ही ले गए, उनका क्या कर रही हो।"[2] यहां उपन्यासकार इस विडंबना को भी रेखांकित करता है कि हिरन का मांस और गाय का जो दूध, बिसराम सरीखे थारू परिवारों को सहज उपलब्ध है उससे भी वे धार्मिक व परंपरागत षड़यन्त्री अंधविश्वासों के चलते किस तरह वंचित कर दिए जाते हैं ।

---

1. संजीव - जंगल जहाँ शुरू होता है - पृ. सं : 143
2. संजीव - जंगल जहाँ शुरू होता है - पृ. सं : 30

'झीनी झीनी बीनी चदरिया' में मुस्लिम़ बुनकरों के बीच व्याप्त अनाचारों, धार्मिक कुरीतियों एवं रीति-रिवाज़ों का चित्रण है । मज़हब आस्था का प्रश्न है । आस्था पर कोई प्रश्न चिन्ह नहीं डालता। मतीन की पीढ़ी के लिए धर्म सर्वोपरी है लेकिन इकबाल की युवापीढ़ी के लिए उतना नहीं है । इकबाल धार्मिक संस्थाओं द्वारा एवं धर्म के नाम पर होनेवाले अत्याचारों से परिचित है । लत्तीफ अभावग्रस्त है फिर भी साड़ी बेचकर प्राप्त बहुत कम पैसों में से मस्जिद को दान देता है । यह तो आस्था का प्रश्न है । अगर खाने के लिए कुछ भी नहीं मिले फिर भी समस्या तो नहीं । भारतीय समाज में धर्म की नींव बहुत गहरी है । चाहे वह हिन्दू हो या मुस्लिम या ईसाई। जब लत्तीफ का छोटा लड़का मर गया तो रेहनवा को ज़िम्मेदार ठहराया गया। वास्तविक कारण खराब घोश्त का दोष है, लेकिन दोष इसलिइ नहीं देता कि जितना भी खाओ कि कुर्बानी का गोश्त खराब नहीं करता । ये भी आस्था का सवाल है । आंधविश्वास को छोड़ने के लिए वे तैयार नहीं है। लेखक ने मुस्लिम समाज में व्याप्त अन्धविश्वासों को छोटे छोटे प्रसंगों के माध्यम से व्यक्त किया है। जब अलीमुन के मूँह से टी.बी के कारण खून गिरा तो मोली साहब जिन्न का असर कहकर उसे मकदूम शाह के पास ठीक कराने के लिए भेज देते हैं। जब रेहनवा पर हाजी अमीरुल्ला के बेटे बलात्कार करने की कोशिश करते हैं तब से लेकर रेहनवा की मानसिक संतुलन खो गया था। लेकिन घरवाले और बिरादरी के लोग उसे मखदूम शाह के पास ले जाकर उसकी खूब पिटाई करवाता है क्यों कि उन लोगों का विश्वास हैं कि रेहनवा के शरीर में भूत का वास है । दुर्गापूजा के अवसर पर हर साल हिन्दू और मुसलमानों के बीच सांप्रदायिक दंगे होना वहां स्वाभाविक बात हो गयी है । लेकन एक दूसरी विचित्र बात यह है कि, बनारस में लाटभैरव

नामक एक मस्जिद है, वहाँ का महत्व इसलिए ज़्यादा है कि इस मस्जिद के आँगन में एक मन्दिर भी है। बरसों पहले एक अंग्रेज़ कलक्टर ने ऐसा आदेश दिया था कि यहाँ पूजा भी होगी और नमाज़ भी पड़ी जाएगी । लेकिन नमाज़ के वक्त पूजा नहीं होगी ।

मदनपुरा में दो गलियाँ ऐसी हैं कि जिनको लेकर विवाद है । एक गली ऐसी हैं जिसमें मुसलमानों की आबादी बहुत ज़्यादा है और हिन्दू चाहते है कि दुर्गा की प्रतिमा इसी गली से होकर गुज़रे। दूसरी गली ऐसी है जहाँ हिन्दू आबादी ज़्यादा है और उस गली में मुसलमानों ने एक इमाम चौक बना रखा है । इसतरह हरसाल दशहरे और मुहर्रम के अवसर पर सांप्रदायिक दंगे का मेला हो जाता है । धर्म के नाम पर जनता की धार्मिक भावना का शोषण हो रहा है । जिसके पास पैसा है, उसके लिए धर्म बाधक नहीं । पूँजीपति वर्ग को मज़हब में कोई आस्था नहीं। शोषण ही उनका धर्म है । बुनकर समाज के पिछड़ेपन में धर्मिक अंधविश्वास का हाथ भी है ।

संथाल जनजाति के बीच भी अंधविश्वासों की कोई कमी नहीं है । 'धार' में जब पहले पहले तेजाब का फैक्टरी बना तब मैना के माँ-बाप के बीच झगड़ा हुआ । इस तेजाब से दूषित पानी पीने से एक भैंस मर गया तो ओझा ने कहा कि मैना की माँ डायन है, और उसे बांसगड़ा से दूर भगाना होगा क्यों कि उन्हीं के कारण से सर्वनाश होनेवाला है। गांव के सब लोगों ने उसे ऐसा घेर लिया जैसे वे मानुष जात नहीं पागल कुत्तिया हो । मेरी मैना को क्रिश्चियन बनाने की कोशिश करती है । संथालों को ईसाई मिश्नरी के लोग ईसाई बनाकर अपने धर्म का प्रचार करना चाहते हैं । इसी धर्म परिवर्तन का भीषण रूप हम 'कालापादरी' में देख

सकते हैं । इसमें तेजिन्दर ने सरगुजा जिले के उरांव में आदिवासियों के विसंगत जीवन, धार्मिक सत्ता केन्द्रों द्वारा शोषण, धर्मान्तरण, राजनीति एवं ज़मीदारी के मुद्दों को एक साथ उठाया है । इसमें फादर मैथ्यूस नामक एक पात्र है, उनका कहना है कि उरांव जंगली जनजाति के पास ईश्वर का कोई इमेज नहीं था । जिसकी ओर ये आस भरी निगाह के साथ देख सके, राजाओं ने भी अपनी देवी देवताओं को इन्हीं लोगों के बीच प्लांट कर रहा था और ईसाई मिश्नरी भी अपने प्रभू यीशु की इमेज प्लांट कर दी । उरांवों के बीच भी बहुत अधिक अंधविश्वास है । जब गांव का एक आदमी भूख से कराह कराहकर मरने लगता है तब उरांवों के ओझा उस आदमी की पीठ पर कमर के नीचे, उसे उलटा-पुलटाकर उसकी छाती पर, प्रेत भगाने के लिए झाड़ू मारता है। वास्तव में इस आदमी को देवता नही चावल बचा सकता है । पर चावल न उसके पास है न गांववालों के पास और जिनके पास है वे इन्हें देने के लिए तैयार नहीं है । ओझा के झाड़ू मारने से और भूख से वह आदमी मर जाता है तब ओझा उस आदमी को दुष्टतम कहकर गांव के बाहर दफनाकर उसके ऊपर नीम के पेड़ लगाने को कहता है । क्यों कि उरांवों का विश्वास हे कि नीम दुष्टताओं का घर होता है ।

जेम्स खाखा ही कलापादरी है । अपने अतीत के बारे में वह हमेशा तनाव ग्रस्त है। वह पूछता है "क्या यह सच नहीं कि हमारी इमेजेज़ में पहाड़ थे, नदियाँ थी, पेड़ थे, शेर थे, चीते थे और राजा ने हमें बंधुआ बना दिया, फिज़िकली और इक्नांमिकली एक्सप्लाइट किया, लेकिन आपने क्या किया? यू रादर टेम्ट अस, आपने हमें पालतू बना दिया, हमारे लिए हिन्दू फंडमेडलिस्टों और आप में कोई

खास फर्क नहीं है । हमारी सारी इमेजज़ छीन ली, आप लोगों ने।"[1] यहाँ धर्मान्तरण के पीछे की राजनीती एवं धर्मान्तरण के बाद की सच्चाई दोनों उपस्थित होते हैं । धर्मान्तरण के ज़रिए सामाजिक पिछड़ेपन का फायदा उठानेवाले चर्च का मकसद उनके पिछड़ेपन को दूर करना नहीं है । उसका लक्ष्य उन लोगों को अपने धर्म के अन्तर्गत लाना है । बिशपस्वामी जिसतरह से अपने को अपने धार्मिक विश्वासियों के हित तक ही सीमित करने की सोच की तरफ बढ़ रहे हैं, उसके पीछे आज की सांप्रदायिक और राजनैतिक घटनाएँ और स्थितियाँ है। "एक धर्म निरपेक्ष राष्ट्र में जब धर्म ही प्रमुख कारक बन जाएग, तो अपने-अपने धार्मिक विश्वासों के निहित स्वार्थ सह-अस्तित्व की भावना को तो खत्म कर ही देंगे। मनुष्य के बँटवारे को इस सीमा तक ले जायेंगे कि वे एक दूसरे से सिर्फ घृणा ही कर सकें। क्यों कि तब आदमी को धर्म और जाति आधारित राजनीति का मोहरा ही माना जाएगा। मोहरे की गति पिटना ही है।"[2] 'कालापादरी' इस खतरे की ओर इशारा ही नहीं करता इसके विरुद्ध एक संघर्ष की नींव भी डालता है।

'शैलूष' में नट लोग लड़ाईयों में जीतने के लिए अपनी कुलदेवी नथिया बनजारिन और गुरू मानबाबा की पूजा करते हैं । जहाँ तक इस घुमक्कड़ कबीले का विस्तार था, वहां तक मानगुरू और नथिया बनजारिन के प्रेम और शौर्य की कथाएँ गूँजती थीं। अमरित नट को भगवान पर भरोसा नहीं है, उनका विचार है कि "भगवान नामक जंतु हमें रीढ़ हीन केंचुवा बना देता है उर वकूफ को बरगलता है कि तू हमारे गले में पड़ा नागराज है, मेरा शराणागत है, मेरा भक्त है, मैं तुम्हारा योग-

---

1. तेजिन्दर - कालापादरी - पृ. सं: 45
2. कथादेश - मार्च 2003 पृ. सं : 93

क्षेम वहन करनेवाला सखा हूँ, स्वामी हूँ, मार्गदर्शक हूँ ।"[1] लेकिन उसको छोड़कर सारा नट अपने को मानगुरु का हुकम दाता मानते हैं। "नट न तो हिन्दू होता है, न मुसलमान। उसे मानगुरू का हुकुम दाते रहना है।"[2] नट लोग पांच सौ वर्ष पहले से अपने आदिम परखे मानगुरू और नथिया बनजारिन की सौंगंध निभाते आ रहे हैं । उनके पूर्वज कह आये हैं कि हिन्दु-मुसलमान में भेद करना बनाफर खून की तौहीन है । वे अपने को आल्हा-ऊदल की संतान मानते हैं । सब्बो मौसी कबीले के नटों को सभ्य बनाकर खानाबदोशी ज़िन्दगी और जरायमपेशे से निकालने की कोशिश करती है । जितना भी सभ्य बनाऊँ फिर भी वे अपने अंधविश्वासों को छोड़ते नहीं हैं । जब सुरजितवा को बुखार हो जाता है तब उनके बाप का विश्वास है कि सुरजितवा पर चमाइन की प्रेतात्मा का वास हो गया है। क्यों कि चमाइन को चोरी के जुल्म में सुरजितवा के दादा ने मार डाला था, तभी से यह रोग उनके घर आया था । सब्बो पूरे कबीले नटों को समझाने की कोशिश करती है कि यह मामूली बुखार है। लेकिन वे लोग ओझा को बुलाकर पूजा के लिए शराब की बोतल से लेकर अपने घर पाल रखे सुअर तक देते हैं । सब्बो इन्हें जरायम पेशे से अलग करके संस्कृति की मुख्य धारा में शामिल होने का पाठ पढ़ाती रही, अंधविश्वास को कुरेद-कुरेदकर निकालती रही।

चमार वर्ग में धर्म का वर्तमान रूप अफीम की तरह है । यह हम 'धरती धन न अपना' में देख सकते हैं । हिन्दू धर्म की चमारों के प्रति कोई सहानुभूति नहीं रही । पंड़ित संताराम कहता हैं "कभी किसी दूसरे धर्मवाले को अपना धर्म

---

1. डॉ. शिवप्रसाद सिंह - शैलूष - पृ.सं : 170
2. डॉ. शिवप्रसादसिंह - शैलूष - पृ.सं : 179

बदलते हुए सुना है । धर्म जब भी बदलता है, तो हिन्दू ही बदलता है, क्यों कि उसे अपने धर्म कर्म पर विश्वास नहीं रहा।"[1] हिन्दू समाज व्यवस्था में निम्न वर्ग को अनेकानेक विषमताएँ सहनी पड़ती है । इसलिए ही वह अपना धर्म परिवर्तन कर लेता है । नन्द सिंह को 'चमार' कहलाने से नफ़रत है। पहले वह अमृत धारण कर मज़हबी सिख बनता है, फिर ईसाई धर्म अपना लेता है, फिर भी वह दूसरों की दृष्टि में चमार ही रहता है। पादरी अंचितराम हर समय इंजील और आसमानी बाप की रट लगाए रखता है तथा लोगों को ईसाई बनाने के लिए प्रेरित करता है । वह ईसाई बनने के रिश्ते से ही लोगों की मदद करता है । चमारों के बीच में भी अंधविश्वासों की भरमार है । काली की चाची का बीमार दूर करने के लिए जादू टोने करने के लिए काली को गांववाले विवश करते हैं । रक्खेधेवर ओझा कहते हैं जब कभी नयी इमारत बनेगी तो उसमें प्रेत आ जायेग, वहीं प्रेत चाची में वास करने लगा है । रखा ने चाची को झाड़ू से मारा, मिर्ची और आग उसके मूँह में धकेल दिया, उसका हाल और भी बदतर होकर अन्त में वह मर गयी । इन लोगों के अंधविश्वासों का कारण अज्ञान और अशिक्षा है।

'सागर की गलियां' में तुरुत्त के लोग सागर देवता पर विश्वास करते हैं और कालीमाता पर उन लोगों का पूरा भरोसा है। जब सागर में मछली पकड़ने गए लोगों को न दिखाई देने पर सब मिलकर कालीमैय्या को रक्त-पुष्प की माला चढ़ाने, गिरजा घर में मोमबत्ती जलाने की और मस्जिद में चिरट्टा देने की मिन्नत मांगती है । काली और सागर देवता के अलावा दक्षिणी मछुआरों के देवताओं

---

1. जगदीशचन्द्र - धरती धन न अपना - पृ. सं : 178

में गणपति और माड़न देवता का भी स्थान है । अपने मन की तमन्नाओं की पूर्ति के लिए लोग कालीमैय्या को चार मुर्गे चढ़ने का वचन देते हैं और कुछ लोग गणपति के सिर पर एक सौ एक नारियल फोड़ने की शपथ लेते हैं। वे माड़न देवता को ताड़ी और मछली ही समर्पित करते हैं। माड़ द्रविड़ों के देवता शिव का ही रूप है । वे अपने को वेद-व्यास परंपरा के मानते हैं। मछुआरों के बीच पहले न जाति थी, न मज़हब बाद में आर्यों ने उसे हिन्दू बनाकर शूद्र घोषित किया। जब ईसाई मिश्नरियों ने उन्हें हिन्दू बनाने की कोशिश की तो उन्होंनें उस धर्म को भी माना । "अब हम ईसाई भी है, हिन्दु भी है, हमारे लिए ईश्वर में या धर्म में भेदभाव नहीं है फिर भी ईसाई और हिन्दू भी हम निम्न जात के मानते है ।"[1] मछुआरें बड़े गर्व के साथ कहते हैं कि "हमारा संस्कर भारत का है । हम मंदिर में भी जाते हैं गिरजा घर में भी। किसी एक के गुलाम नही । मज़हब झगड़ा करने का माध्यम नहीं है, विश्वास और आचार की वस्तु है।"[2] जब कुरुप्पन की मृत्यू होती है तब वेलुतम्मा विश्वास करती है कि अपने बच्ची के जन्म नक्षत्र के कारण ही ऐसा हुआ । ज्योतिषी ने कहा था कि बच्ची के नक्षत्र के अनुसार पिता की मौत होगी और देश का नाश होगा। इसीप्रकार के छोटे छोटे अन्धविश्वास मछुआरों के बीच भी है ।

'गगन घटा घहरानी' में चित्रित उरांव ही नहीं तमाम आदिवासी जातियों के शब्द कोशों में एक शब्द नहीं है वह है 'पुण्य'। 'पाप' शब्द से उन्हें डर था और पाप से पीछा छुड़ाने के लिए वे दण्ड भोगते हैं। वे पूजा-पाठ पुणय के लिए नहीं

---

1. डॉ. रामन नायर - सागर की गलियाँ - पृ. सं : 120
2. डॉ. रामननायर - सागर की गलियाँ - पृ. सं : 120

पाप से बचने के लिए करते हैं । समूह ही उनके लिए देवता है और उस समूह के प्रधान ही उनके लिए मुख्य होते है । लेकिन उनके यही पाप-पुण्य के संस्कार इनके ही शोषण का इच्छुक सहभागी बनाता है । आदिवासियों के बद्ध मूल धार्मिक संस्कारों की जकड़न को उपन्यासकार चेतना संपन्न युवक सोनाराम की इस सोच के माध्यम से तोड़ता है । "उनका धर्म तो हमें सज़ा दे रहा है । उनका धर्म, उनका समाज तो हमारे समाज को लीलता जा रहा है । दादा.....हमारा धर्म, हमारे देवता, क्या इतने कमज़ोर है कि वे अपने अपने लोगों को बचा नहीं सकते। जब हमारे लोग, हमारी जाति, हमारा समाज ही नहीं रहेगा तो हमारा धर्म किसके लिए होगा।"[1] "धर्मिक विश्वासों को धार्मिक तर्कों से काटता यह औपन्यासिक विमर्श बदलाव की जिस चेतना में रूपान्तरित होता है, वह मात्र एक कथात्मक संरचना न होकर प्रभुत्वशाली वर्गों से हाशिये के समाज का वह यथार्थ है, जो आए दिन आदिवासी लूटपाट की घटना या कानून - व्यवस्था की समस्या के रूप में अखबारों की सुर्खियाँ बनता है।"[2]

जनजाति हो या जाति, या किसी प्रदेश के धंधे को लेकर जीनेवाले हो अपने धर्म को कभी छोड़ते नहीं है । वे धर्म की आस्था को एक हाथ में लेते हैं तो दूसरे हाथ में अंधविश्वास को भी लेते हैं । जब से ये शिक्षित होंगे तब से वे धर्म के पीछे के शोषकों का मुख पहचानेंगे और अंधविश्वास से दूर होंगे।

---

1. मनमोहनपाठक - गगन घटा घहरानी - पृ. सं : 101
2. आलोचना - लेख -जुलाई-सितंबर - 2001 पृ.सं : 88

रीति-रिवाज़ :

संथाल हमारे देश के अति प्राचीन लोगों में से हैं। ये बंगाल के वीर भूमी, उड़ीसा के कटक और बिहार के पलामू, हज़ारीबाग, रांची, संथाल परगना आदि जिलों में रहते हैं। इनका रंग अधिकतर काला होता है । इन लोगों की सामाजिक रीतियाँ बड़ी अनोखी हैं । संथालों के रिवाज़ के अनुसार पति के रहते पत्नी दूसरे पुरुष से संबन्ध करे तो ऐसी औरत का जीतेजी क्रिया कर्म कर देते है। 'धार' में मैना का जीतेजी क्रिया कर्म किया जाता है। बांसगड़ा गांव में भ्रष्ट होते ही आदमी का श्राद्द किया जाता है। दस गांवों के चौधरी लोग लॉबीर में जमा होते हैं और शाल के पत्ते लिये एक आदमी घोषणा करता हैं कि 'रात को लॉबीर की बैठक बांसगड़ा में होने जा रही है' । मैना फोकल के रहते मंगर के साथ रहने के कारण उसका श्राद्ध कर देता है । इनका मृत्यु संस्कार भी अनोखा होता हैं । जब मैनां के बच्चे की मृत्यू होती तब दो महीने तक उसे अलग कटोरी में खाना दिया जाता है । संथालों के सबसे बड़ा देवता माराबुरू है, बड़े पहाड़ को माराबुरू देवता मानकर संथाल इसी को पूजता है ।

संथालों के छोटे छोटे घर फूस और खपड़े की थे। बांसगड़ा के सभी घरों में एक बात आम थी - दीवारों का ऊपरी भाग सफेद चिकनी मिट्टी से और नीचे स्याह सलेटी मिट्टी से लिपा हुआ था। शर्मा आर्य और आदिवासी को बराबर मानते हैं । बांसगड़ा के ब्रह्मणों का घर ऐसे हैं कि अन्दर चले जाएँ तो गन्दगी से सर फटने लगेंगे । लेकिन आदिवासी का घर एक भी गन्दा नहीं मिलेगा, न अन्दर से न बाहर से चाहे वे सुअर ही क्यों न पोसे। आदिवासी मज़ूरन औरत अपने को साफ सुथरा रखने के लिए सरपर एक गमछा रखकर कोयला ढोती है । आदिवासी

संस्कृति इस मायने में आर्य संस्कृति से बहतर थी । लेकिन आज बांसगड़ा के संथालों के मन में हिन्दू और मुसलमानों के प्रति नफ़रत है क्यों कि उन्होंने संथालों के आज़ाद और आदिम जंगल की सभ्यता और रहन-सहन को अपने ढंग से मोड़ा। वास्तव में संथाल आदिम संस्कारों से जकड़े हुए हैं, वे लोग इतना भोले हैं कि सभ्यता के फैलाव से डरकर कोने में सिकुड़ते जाते है । इसलिए शर्मा संथालों को बार बार उपदेश देते हैं कि समय के बदलाव को समझकर कुछ जड़ संस्कारों को छोड़कर छीना हुआ हक वापस लेने के लिए लड़ो ।

'जंगल जहाँ शुरू होता है' थारू जनजाति की व्यथा कथा है । थारू लोगों का प्रदेश नैनिताल के पूर्व में नेपाल राज्य की पश्चिमी सीमा के साथ बड़ी दूर तक फैला हुआ है । यह प्रदेश घोर वनों से ढ़ंका हुआ है । उत्तर के पड़ोसी देश नेपाल और पश्चिम के पड़ोसी प्रांत उत्तर प्रदेश के बीच के दुर्भोध जंगल के चप्पे-चप्पे का पता थारू जनजाति को हैं । इन थारुओं के लिए उस प्रदेश में पक्के मकान एक भी न था, ये सिर्फ फूस के घरौंदे या खपड़ैल के घर में रहते हैं ।

थारू जनजाति के संबन्ध में ठीक से कोई नृतत्वशास्त्री और इतिहास विद् ही बता सकता है कि थारू का संबन्ध थार से है या हिमालय से । पर्यावरण के बिगड़ने से थार का रेगिस्तान फैलता गया और इनके कबीले उजड़ते गये । लेकिन थारुओं के गढ़न और कद काटी देखकर लगता है ये हिमालय की तलहटी के ही बशिंदे है । समुद्र की धाराओं की तरह जातीय और सांस्कृतिक प्रवाह भी मूव करता रहता है । थारुओं के गुरू ओझा है, इनके अलग देवता और मंदिर है, रहसोगुरू और सोमेश्वर इनके मन्दिर है । थारू जनजाति की अन्य उपजातियाँ मर्चावार, रोतार, गौरिहार, दीक्षित आदि है । थारू हट के लिए मेहनत मज़ूरी के

दिन अगहनी माह है, इसी दिन में धान की रोपाई शुरू होती है । गन्ना, मकई, ज्वार, बाजर और सनी की खेती करता है ।

उरांव जनजाति को आधार बनाकर लिखा गया उपन्यास है श्रवणकुमार गोस्वामी का 'हस्तक्षेप', मनमोहन पाठक का 'गगन घटा घहरानी', तेजिन्दर का 'कालापादरी' आदि । इन तीनों उपन्यासों से उरांवों के रीति-रिवाज़ का सुन्दर चित्रण हमें मिलता हैं । उरांव प्रदेश बिहार रज्य के दक्षिण पश्चिम में सोना-महानदी के निकट के पहाड़ी क्षेत्र में स्थित है । इन लोगों के घर प्रायः छोटे छोटे और घास फूस के होते है । इस जाति का मुख्य व्यवसाय कृषि ही है । ये लोग मोटा दाल, तिलहन के अतिरिक्त मोटा अन्न भी पैदा करते हैं । परन्तु कृषि की अवस्था इतनी दीन है कि इन्हें बड़े बड़े साहुकारों तथा ज़मीन्दारों से उधार लेकर उनका गुलाम बनकर रहना पड़ता है । ऐसे एक गुलम को 'गगन घटा घहरानी' में हम देख सकते हैं, वह है जागो । उरांवों के बीच मृत्यू हो जाने के बाद क्रिया कर्म करना ज़रूरी है, नहीं तो उनका विश्वास है कि आत्मा को शान्त नहीं मिलेगी। जागो ने अपने संसार के क्रिया कर्म करने के लिए रायसाहब से साठ रूपये लिया। फिर उसे जीवन भर उसकी सेवकिया या गुलाम बनना पड़ा । ससुर के क्रिया कर्म के लिए ही उसे कर्ज़ लेना पड़ा था, वह भी समाज को दारू हंड़िया पिलाने के लिए। लेकिन दण्ड भोगना पड़ा सिर्फ जागो को। दण्ड तो पूरे समाज को भोगना चाहिए क्यों कि धर्म के लिए ही जागो को दण्ड मिला था। तीन और से मिट्टी की दीवार से घिरा बांस और वन तुलसी छाजन और उसकी ही टाटी का दरवाज़ा यहीं था सोनाहातू गांव के हर एक घर का बनावट। एक एक गांव आठ दस घरों का समूह हैं।

उरांव संकेत की भाषा भी जानती है थारू जनजाति के समान वे भी कुशल शिकारी हैं । शिकार करते वक्त ये स्पर्श और इशारे की भाषा बोलते हैं। 'कालापादरी' में अंबिकापुर और भटहरा गांव के उरांवों का चित्रण किया गया है। अंबिकापुर की उरांव जनजातियों के बीच अनेक प्रकार के रिवाज़ प्रचलित थे । पुराने समय में सूखे मौसम के दौरान मृतकों को जला दिया जाता था । बीज बोने के बाद यदि मृत्यू हुई तो शव को दफनाकर फसलों को काटने के बाद पुनः उन्हें कब्र से खोदकर जला दिया जाता था। फसल काटने के बाद एक निश्चित दिन गांव के वर्ष भर के सबी मृतकों के अवशेष पात्र जो पेड़ पर लटके हुए थे, वह कुंडी तक ले जाता है, कुंडी यानी उरांव कुलों या पुश्तों का स्मरण पत्र है, वहाँ इन पात्रों को मारकर फोड़ा जाता है । इसप्रकार करने से उरांवों का विश्वास हैं कि मृतक पूर्वजों की संगति प्राप्त करते हैं, और दर्ज प्राप्त होते हैं । अंबिकापुर से रामानुगंज की तरफ किलोमीटर की दूरी पर स्थित एक गांव था भटहरा। वहाँ तीस घर थे। जिनका इस दुनिया से लगभग कोई संबन्ध नहीं था। वे कोदो नाम के एक तरह का अनाज उगाते थे और खाते थे । थोड़ा बहुत जो धान उगता था उसका चावल निकालकर उसकी हंड़िया छानते थे, और खुशी से नाचते थे । गांव में सरकार जैसे नहीं थी, बिजली भी नहीं । बाहर की किसी और चीज़ की उन्हें खास ज़रूरत नहीं थी ।

श्रवणकुमार गोस्वामी के 'हस्तक्षेप' में इन्हीं उरांवों के सांस्कृतिक शोषण की ओर लेखक ने नज़र डाला है । आदिवासियों का काम दारू-हँड़िया के बिना नहीं चलता है । शादी ब्याह के मामले में आदिवासी आज भी बेहद रूढ़िवादी होते हैं । एक उरांव दूसरे मुंड़ा परिवार में विवाह करने की बात सोच भी नहीं सकता।

लेकिन बिरसी ने करमा भगत के लिए महुआ को पूरे समाज की उपेक्षा कर अपने बहू बनाना चाहते हैं ।

'कालापादरी' में उरांवों की संस्कृति को जड़ से उखाड़कर उन्हें धर्मान्तरण करके ईसाई बनाया जाता है । 'हस्तक्षेप' में सभ्य होने की कोशिश करने वाले उरांवों के सांस्कृतिक रीति-रिवाज़ों का व्यापार करते हैं । 'गगन घटा घहरानी' में उरांवों को गुलाम बनाकर रखते हैं सामन्ती लोग।

कबूतरा जनजाति के अपने अलग रीति-रिवाज़ हैं । जिनको मैत्रेयी पुष्पा ने 'अल्मा कबूतरी' में बड़ी सूक्षमता के साथ चित्रित किया है । कबूतरों के बारे में एक प्रचलित कहानी है कि, रानी झाँसी के संग लड़नेवालों के शहीद होने के बाद जब अंग्रेज़ों ने खदेड़ना शुरू किया तो इन कबूतरों ने जहाँ-तहाँ ऐसे फैले गए, जैसे पानी फैल जाता है । जिनको बुंदेलखंड की मिट्टी ने अपना लिया । वे ऐसे लोग थे, जिनकी बोली-बाली, रहन-सहन, तौर-तरीके, अपने इलाके के थे, मगर वे जो इस कसौटी पर खरे न उतरते थे । वे अंग्रेज़ों की मार खाते हए पत्थर ढ़ोंकों की तरह यहाँ-वहाँ लुढ़कते रहे ।

कबूतराओं का पैतृक व्यवसाय चोरी करना है । जब कोई कबूतरा चोरी करके लाता है तो उस चोरी के माल को बस्ती के मुखिया के सामने रखकर बाँटने का रिवाज़ है । जब पहली बार बस्ती का कोई बच्चा चोरी के लिए जाता है तो पूजा पाठ के साथ साथ प्रसाद बाँटा जाता है। बस्ती के सभी औरतें आशीर्वाद देती हैं । शादी के समय इनके यहाँ बेटेवाले से दहेज लेने का रिवाज़ है । लेकिन शिवसिंह कबूतरा ने अपनी बेटी कदमबाई का विवाह जंगलिया से कराया लेकिन

बेटेवाले से एक पैसा तक नहीं लिया, और इनके यहाँ बारात के दिन लड़ने भिड़ने का रिवाज़ भी है । और उनकी दवा दारू लड़की के पिता को करानी पड़ती है। कबूतर जाति मौत पर रोती नहीं है वही उनकी कायदा है। जंगलिया के मरणोपरान्त किये जानेवाले संस्कार या रिति-रिवाज़ो का वर्णन करते हुए लेखिका ने लिखा है कि "कुँआरी लड़की से चबूतरा लिपवाया गया। अगरबत्ती मोमबत्ती जलाई गयी। देवताओं की मढ़इया बनाने के लिए कोरा कपड़ा थोड़ा ऊपर उठाकर ताना गया। उन्हें काँती (बलि का बकरा काटनेवाला चाकू) पकडाई जाती । वे देवी के चबूतरे पर कट्टस का निशाना बनाते । पवित्र मन्त्र की तरह सबने बोला कौल, जंगलिया का मरण नहीं हुआ। कबूतरा कभी नहीं मरता । रानी पद्मिनी की सन्तान खत्म नहीं होती । कुनबी मरकर भी नहीं मरते"[1] कबूतराओं में मौत पर भी गीत गाने का रिवाज़ है ।

बच्चों के जन्म पर कबूतरा लोग भी जश्न मनाते हैं । स्त्रियाँ गीत गाती हैं । कच्चे ओटलें पर गोबर की टिकुली और कोरी झाडू की सींकें लगाती है । छठी पूजती है । बच्चे के जन्म पर चोरी में बड़ा हाथ लग जाए तो बच्चे को भाग्यशाली माना जाता है । छठी के दिन सभी डेरों से एक-एक कटोरी अनाज आता है । मजे हुए लोटे में शुद्ध जल, बेर के पत्ते, गुड़ कनावा , अगरबत्ती आदि के साथ कुनबी कथा होती है । नामकरण संस्कार के लिए इनके यहाँ बाहर से कोई ब्राह्मण नहीं आता वरन् इनके समाज का ही जो व्यक्ति विधि-विधान जानता है वही ब्राह्मण का कार्य करता है । फिर सामूहिक भोज होता है । गुली और दाल-भात

---

1. मैत्रेयी पुष्पा - अल्मा कबूतरी - पृ. सं : 26

की पंगत बैठती है । कबूतर जाति के लोग डेरों में रहते हैं । इनके रहने का कोई निश्चित स्थान नहीं होता । जहाँ जगह मिल जाती है वहीं अपने कच्चे घर बना लेते हैं । कबूतरों की बिरादरी का काम दारू बेचना, चोरी करना और बार बार जेल जाना है । इसके बच्चे भी आगे यहीं करेंगे । कबूतर स्त्रियों का विश्वास हैं कि निःसन्तान स्त्री वीर देवता पर पान और बेर के पत्ते चढ़ाने से उसे सन्तान मिलती है । स्त्री की पवित्रता का इमत्हान लेने के लिए कबूतरों के बीच में प्रचलित एक प्रथा थी । वह यह थी कि, रात के समय लोग तालाब के किनारे जुड़कर तालाब की दूसरी ओर पत्थर फेंकता है । जहाँ पत्तर गिरे वहाँ लाल कपड़े के रूप में औरत की ज़िन्दगी रखी जाती है । सज़ायफ्ता औरत को तब तक पानी में डूबा रहना पड़ेगा जब तक की सामने छोर पर तैनात आदमी जल परीक्षक को वह लाल कपड़ा उठाकर न दे दे । उतनी दूर आना और जाना ज़िन्दगी और मौत का खेल है। प्राणों को डुबाकर भी स्त्री बच जाए तो उसकी पवित्रता सब स्वीकार कर लेती है। जब राणा से मास्टर ने अपनी ज़िन्दगी के बारे में दस लाइन लिखने को कहा तब राणा ने लिखा कि ' पिटना, पीटना, मरना, मारना हमारी ज़िन्दगी है । गुनियाँ, ओझा, मुखिया और पुलिस हमारे भगवान है । कज्जा लोग माई बाप और मालिक। भूख-प्यास हमारी गुइयाँ हैं। देह गर्मी से जलने लगती है हम चोरी से तलाब में नहा लेते हैं। जाड़े में हड्डियाँ चटकने लगती हैं जंगल में से ईधन चुराकर देह सेंक लेते है ।"[1] इन दस वाक्यों से कबूतरों के ज़िन्दगी के बारे में सब को पता चलता है । कदमबांई के द्वारा कहे गए वाक्य उनकी रहन-सहन की संपूर्ण तस्वीर प्रस्तुत करते हैं । 'हमें तो बचपन से एक सच्चाई समझाई गयी है कि कबूतरी के मर्द

---

1. मैत्रेयी पुष्पा - अल्मा कबूतरी - पृ-. सं : 99

की कोई खेती धरती नहीं होती। कुआँ तालाब पर उनका हक नहीं होता । फिर भी ज़िन्दा रहना होता है । अन्न-पानी चुराओ और जुटाओ। बिना छत के सोने की आदत डालो। मौसम की फतह करो।"[1]

'सागर की गलियाँ' में तुरुत्त के मछुआरों की कथा के केन्द्र में है । सागर पर निर्भर मछुआरों का अलग किस्म का जीवन चित्रित करके लेखक ने दक्षिण प्रदेश केरल के समुद्र तट पर ज़िन्दगी बितानेवाले मछुआरों की ज़िन्दगी का, उनके बोलचाल, रहन-सहन, विश्वास, रीति- रिवाज़ों का यथार्थ चित्रण किया है । तुरुत्त के मछुए चाला में रहते हैं । 'चाला' मछुओं की झोंपड़ी को कहते हैं । मछुओं की सबसे बड़ी संपत्ति एक जाल, नाव और चालतडियाँ हैं। सोने चांदी से बढ़कर यही उनकी श्रेष्ठ संपत्ति है । अगर किसी मछुए के पास ये संपत्ति हो तो उसकी मान्यता बिरादरी में दुगुनी-तिगुनी हो जाती है, उसे 'मूप्पंन' माना जाता है । बिरादरी का नेता मूप्पन होता है सभी उसी को मानने लगता है । उसी का जाल वहां की झोपड़ियों को अन्न, कपड़ा देता है । इसलिए मूप्पन की संपत्ति सिर्फ उनकी ही नहीं बल्कि पूरे मोहल्ले की है। मुहल्ले की आर्थिक गतिविधि उसी पर आश्रित है । यह सम्मान प्राप्ति तुरत्त में वेलन को है ।

मछुआरों के बीच में यह विश्वास है कि सागर देवता उससे कभी न बिगडेगा । इसलिए बड़ी बड़ी तूफानों में भी वे सगर में मछली पकड़ने के लिए जाते हैं । काली माता पर उन लोगों का पूरा भरोसा है । वे लोग जितना कमाते हैं उतने में कुडुम्ब समाते हैं । वह कभी कल के लिए कमाकर नहीं रखते । मछुए

---

1. मैत्रेयी पुष्पा -अल्मा कबूतरी - पृ-. सं : 10

का धन सागर मैया की गोद में है । वह देगी तो वे खुश है नहीं तो वे भूखें मरेंगे। मछली ही मछुए के लिए ईश्वर है । उन लोगों का विश्वास है कि सागर मैया ने पहले पहल मछली का रूप लिया था, इसलिए मछुए अपने को आदिम मानते हैं। कभी कभी वे अपने को वेद-व्यास परंपरा के भी मानते हैं। मछुआरे कर्म और कर्तव्य पर जीते हैं । कर्म ही उसका भगवान है, वही उसका सहारा भी। तुरुत्त में कन्या की एक ही बार शादी होती है । पति की मृत्यू पर आजीवन वह विधवा रहती है । मछुआरिन अपने आदमी को खिलाने के बाद खाती है और इन्हीं के खाए बरतन पर ही खाती है । चौमासे की तरह लंबे कालखण्ड मछुओं के जीवन में काल-रात्री जैसा है । उस समय कम मछली पकड़ी जाती है, इसलिए प्रत्येक चाला में भूख और प्यास का नाच होता हैं । प्रत्येक वर्ष यह कालखंड मछुओं के सामने चुनौती देती हुई आता है और उनके वर्ष भर की संपदा को लूटकर चला जाता है।

मीना की शादी का वर्णन करके केरल के विवाह के रीति-रिवाज़ों का सुन्दर वर्णन किया जाता है । केरल में वर का स्वागत सब औरतें एक साथ कुरवा से करता है। कुरवा विशेष मुहूर्तों पर नारियाँ अपने मूँह से सस्वर नाद करती हैं। केरल में दुसरी प्रथा है, इसे वाग्नारी या मूंह कोताल भी कहा जाता है । विवाह में आए हुए सभी को नींबू, फल तथा पुष्प के गुच्च दिया जाता है । चेंड़ा, नागस्वर, इड़का, इलत्ताल, श्रुति आदि के पंचवाद्य मेला के साथ वर तथा बारात में आए लोगों का भव्य स्वागत किया जाता है । वर को सात प्रदक्षिण करके मण्डप में बिटाता है 'ताली' का धारण ही विवाहिता को अविवाहिता से अलग करने का चिन्ह था । केरल के लोगों का सबसे पवित्र कर्म विवाह है । वर के पिता थाल में

बनारसी साड़ी, ब्लाउज़, नेर्यत की धोती रखकर वधू को देता है इसे 'पुड़वाकोड़' याने 'वस्त्र दान' कहते है । पहले केरल में मातृसत्तात्मक नियम था, लड़की पति के साथ अपनी ही घर में रहती थी । मछुआरिन प्रसव के लिए अस्पताल नहीं जाती थी । काम करने के बीच में बच्चे को जन्म देती थी । सत्ताईस दिन तक ज़्यादा काम नहीं करती थी । सत्ताईसवें दिन बच्ची के कमर में काला सूत्र बाँधा जाता था । पुत्र होतो यह कर्म अठाईसवें दिन में होता था । उस दिन सारे बंधु मित्रों को दावत दिया जाता है ।

मछुआरों की ज़िन्दगी उनके धंधे से आश्रित होकर गढ़ा हुआ है और उनकी जीवन शैली भी । उसी प्रकार बनारस के बुनकरों के जीवन रीति-रिवाज़ और विश्वास भी एक हद तक उनके धंधे पर आश्रित है । बनारस में बिनकारी का काम छिंत्तनबाबा ने शुरू किया था । बुनकरों के संबन्ध में कहा जाता है कि वे महाराज अशोक के ज़माने में अरब से हिन्दुस्तान आये थे, और उन्होंने काशी में अपना कारोबार शुरू किया था । औरतों के सोने के प्रति लगाव देखकर उनके पूर्वजों ने सोने को महीन धागे में तब्दील किया और उस धागे से सुनहरी साड़ियाँ बनायीं । सोने की असली तारों वाली वे साड़ियाँ देश देश में जाकर बनारसी साड़ी के नाम से मशहूर हुई ।

बुनकर लोग कबीर को अपनी परंपरा के मानकर उसके व्यक्तित्व पर गर्व करते थे। क्यों कि कबीरदास एक बहुत बड़ा कवि था, वह उसी की जाति का था और वह इसी बनारस में रहकर कपड़ा बुनता था । बुनकरों के बिरादरी में अब डाक्टर, वकील सब हो गये हैं। सारे बुनकर अपने बच्चों को स्कूल न भेजकर उसे भी जुलाहा बनाकर अपने साथ काम के लिए ले जाते हैं । बनारस के जुलाहों की

बिरादरी में ब्याह में कोई लफड़ा नहीं है । बारातियों को खाना खिलाना भी ज़रूरी नहीं है । जाड़ा है तो चाय और गर्मी है तो शरबत से ही काम चलाता था । पांच बर्तनों से ज़्यादा दहेज नहीं देते थे और लेते थे । वर घोड़े पर आते है, घराती - बराती सब एक साथ खड़े हो जाते हैं । दरवाज़े पर वर पहूँचते ही बेलबट्टा होता है और महतो उन्हें पान खिलाते हैं । सभी लोग पानवाली सेनी में दस-दस या पच्चीस-पच्चीस पैसे डालते जाते है । यह पैसा दोनों पक्षों के नाइयों और धोबियों के बीच बाद में बाँट दिया जाता है ।

नटों को जरायमपेशा, खानाबदोश कहकर बड़ी जाति लोग दूर भगाते हैं। लेकिन इनके भी अपनी संस्कृति है । इसका सबूत है शिवप्रसाद सिंह का 'शैलूष'। नट लोग नक्षत्रों पर विश्वास करते हैं । रेवती नक्षत्र के संबन्ध में इन लोगों के बीच प्रचलित एक कथा भी है । सत्तीमैया के नाम रेवती होने के कारण ही नटों के गांव भी रेवतीपुर कहलाया । जुड़ावन के कबीले में करीब पच्चीस नट ऐसे थे जो हर तरह का करतब और खेल दिखा सकते थे । जो युवति नट्टिनें हैं उनका काम गुदना गोदना और अवैध हमल गिराने के लिए अफीम और दूसरी जड़ी बूटियों बेचना है । इन लोगों के अलावा छूरे की नोक पर नचानेवाली नृत्य कुशल शैलूष छोकरियाँ भी हैं । जुड़ावन कबीले के सरदार है । वे ही सब का दुःख हाल पूछता है । नट लोग पासवाले गांवों में नाच गाने के लिए जाते हैं । नटों के घर द्वार नहीं है वे सब कुछ भैसों पर लादकर चलते हैं । नट ओर नट के बीच घनिष्ठ संबन्ध होता है । जिसप्रकार शक्ति के बिना शिव मुर्दा होता है वैसे ही नटी के बिना नट भी मुर्दा होता है ।

नटों की शादी अजीब होती है । लड़की के परिवारों को युद्ध में हराकर उठाए जाता है या लड़की के बाप को मुहमांगी रकम मेहर के रूप में देकर लड़की को मांगते हैं । नट अपने को चंदेलों के सेनापति आल्हा और ऊदल के वंशज मानते है । सब्बो इन नटों को सभय बनाना चाहती थी । क्यों कि वह नहीं चाहती थी कि नट करतब दिखाकर बन्दरों की तरह दुनिया के सामने नाचे । नटों को अपने पुरखों से दायज के रूप में जडी बूटियों का ज्ञान मिला है । जब सुरजितवा नट चार महीने से बीमार हो जाते हैं तब लल्लू नट जड़ी बूटियों से उसका इलाज करके ठीक कर देता है ।

जब एक कबीला या एक परिवार दूसरे कबीले या दूसरे परिवार को अपना दुशमन मानने पर परिवार और कबीलों के बीच का खाना पीना हुक्का पानी सब बंद होता था । नट हमेशा से जरायम पेशा रहे । लेकिन पिछले तीन सालों में सब्बो ने नटों को ऐसा सभ्य बनाया हैं कि कोई नट या नटी सामने पड़ा सौ का नोट अगर उसका नहीं होता तो छूते तक नहीं थे । इन नटों की सबसे बड़ी कमज़ोरी सब्बो की दृष्टि में यह थी कि वे आगे के बारे में सोचते नहीं थे । नट लड़की बिना छूरे लिए नहीं चलती थी । रूपा और सलमा छूरा चलाने में निपुण थे । नट लोग जितना गरीब है कि खेल कूद , रस्सि पर चलना आदि अनेकों करतब दिखाकर रोज़ी रोटी कमाता है । कभी कभी कबीलों के नटों के बीच में आल्हा दंगल के प्रतियोगिताएँ होती थीं । नट अपने को आल्हा ऊदल के संतान मानते हैं । नट्टिन का अर्थ कुछ लोग झगडालू, कठ मल्लापन में जीनेवाली गंदी औरत मानते है ।

नटों के बीच एक अजीब रिवाज़ है कि कोई भी नट परिवार दूसरे नट परिवार का छुआ नहीं खाता हैं । आगर राजपूत, ब्राह्मण, बनिये, अहीर यहां तक कि मुसलमान भी बनाये तो वे खालेंगे । पर बिरादरी का किसी आदमी का छुआ नहीं खायेंगे । नटों के विवाह भी अजीब होते हैं । मानिक रूपा कि मांग में सात बार सिंदूर लगा देते हैं । जब मानिक उसे हार पहनाते हैं तब रूपा चुक्कड़ में महुवे का उर्रा भरकर मानिक को पिलाते हैं । मानिक को शराब पसन्द नहीं थी फिर भी पी लेती है क्यों कि शादी की रस्मों को अस्वीकार करना उचित नहीं है। इस शादी में जो उखरनेवाली बात यही थी की कन्यापक्ष की पूरी बिरादरी को वरपक्ष प्रत्येक सदस्य के हिसाब से राशन देते थे ।

रीतिरिवाज़ किसी भी संस्कृति का वह हिस्सा है जो मानव को उसके अतीत और पूर्वजों से प्राप्त होता है । एक बँधी-बँधाई परिपाटी पर चलना ही रीति है । यह एक पीढ़ी से दुसरी पीढ़ी में हस्तान्तरित होता रहा है ।

खान-पान :

'अल्मा कबूतरी' में कबूतर जाति की औरतें खाने का जुगाड़ करने के लिए औरतें खेतों से छोटी मोटी चीज़ें चुराती रहती हैं । गेंहूँ की रोटी, सब्जी, चीनी की चाय इनके लिए सपने जैसी ही है । कदमबाई राणा से कहती है "खरा लुखरिया का मांस खाकर ही हमने ज़िन्दगी जीती है । तेरा बाप डेरे पर एक बकरी नहीं रख पाया, कहने को बीसियां भैंस खोली।"[1] खाने की कुछ व्यवस्था न होने पर

---

1. मैत्रेयी पुष्पा - अल्मा कबूतरी - पृ. सं : 38

ये लोग गाय बैल का मांस भी खा लेते हैं । मलिया कहता है 'बैल हो या गाय काटे, पीछे सब मांस हो जाता है । दस रूपये में नोन मिर्च और तेल आजाएगा।"[1]

'झीनी झीनी बीनी चदरिया' में सुबरात के दिन बनाने वाला खाना है गेंहूँ का हलवा। गेंहूँ को भिगोकर फिर उसकी गीरी निकालकर हलवा बनाती है । मतीन के घर में ही नहीं बनारस के सारे मुसलमानों के घर में लोग इस दिन रोज़ यह हलवा बनाते हैं । बिरादरी में होनेवाले विवाह में खाना खिलाना भी ज़रूरी नहीं है जाड़ा है तो चाय गर्मी है तो शरबत से ही काम चलाता है । बकरीद के समय मुसलमान लोग बकरी को बली चढ़ाकर आदा हिस्सा रिश्तेदारों को भेज देते हैं और आधे में थोड़ा खाकर शेष भाग धूप में सुखाकर भविष्य के लिए रखते हैं । बकरीद के तीसरे दिन खास रिश्तेदारों को दावत दिया जाता है । उस दिन पड़वा कटेगा, और पटवे का गोश्त पकाकर मसूरी चावल का पुलाव बंनाता है । मुहर्रम की नवीं रात बनारस मुसलमानों के लिए मलीदों की रात है, कहते हैं कि इमाम हुसैन को मलीदा बहुत प्रिय था, इसलिए उनकी दादा उन्हें बासी रोटी गुड़ के साथ मलकर खिलाया करती थी । बनारस के लोग इसी दिन न्याज़ के लिए तरह तरह के मलीदे बनाते हैं । रोटी का मलीदा, सूजी मैदे का मलीदा, शीरमाला का मलीदा आदि। पचासा पर्व के वक्त भैंस के गोश्त से पकौड़ियां बनाता है । सफर महीने का आखिरी बुधवार को हर साल मतीन के घर में गेंहूँ का हलवा बनाता है । इस दिन रोज़ बनारस के बुनकर बढ़िया बढ़िया पकवान बनाते हैं और उस पर न्याज़ - फातेहा कराते हैं ।

---

1. मैत्रेयी पुष्पा -अल्मा कबूतरी - पृ. सं : 50

उरांव लोग कुछ विशेष अवसरों पर ही शिकार करते हैं। दैनिकी शिकार तथा विशेष अवसरों पर किये जानेवाले शिकार में अन्तर केवल इतना ही है कि दैनिक शिकार की जब भी इच्छा या आवश्यकता हुई, कर लते हैं तथा इसमें किसी का साथ आवश्यक नहीं समझा जाता है । जितना भी अन्न वे उत्पादन करने पर भी कोई फायदा नहीं क्यों कि परिश्रम के पश्चात भी पूरा अन्न उपलब्ध नहीं हो पाता है, रायसाहब, बिशपस्वामी, नेताजी, विधायकजी जैसे शोषक लोग इन्हें अपनी भूख मिटाने का अन्न तक जुटाने के लिए अवसर न देकर उनका रक्त चूसते रहते हैं । इनका मुख्य उद्यम खेती करना है । जंगली कंद, मूल, फल आदि भी इनके भोजन में बहुत सहायक है ।

जंगली कहकर पुकरने वाले संथाल, थारू उरांव जनजातियों के लोग आज भूख से पीड़ित हैं । आज जंगल भी सरकार के हो गये हैं । 'सागर की गलियां' में केरल के मछुआरों के खान-पान का खूब वर्णन लेखक ने किया है । चाला के लोग कप्पा और मत्ती मछी खाते हैं । कप्पा एक प्रकार का कंद है जो लकड़ी जैसे पौधे के नीचे होता है । कप्पा गरीबों का प्रिय आहार है, मत्ती एक प्रकार की सस्ती मछली है लेकिन विटामिन से भरपूर है । मछुआरे लोग कभी कभी कुएँ के पानी के बजाय चूल्हे की मांड में उबल रहा पानी पीते हैं । भूरे रंग के उबले मोटे चावल ही सब खाते हैं । चूरा मछली थूना नाम से मशहूर है वे चूरा मछली से कई कढ़ियां बनाते है जब चाकरा होता है तब जो झीगें मिलता है उससे अनेक कड़ियाँ बनायी जाती हैं । चात्तु को गल्फ में कई चीज़ों खाने को मिलीं, लेकिन उनके अनुसार केरल के तरुत्त के चालाओं का खाना जैसा कहीं भी नहीं है । भगवान ने केरल के गरीबों के लिए ही कप्पा और मछली के झोला का अपूर्व

मोल दिया है । यह संतुलित पूर्णाहार भी है, पौष्टिक भी, चावल की ज़रूरत ही नही है । चात्तु जिस दिन से गल्फ से आया है उस दिन से लेकर वह रोज़ पषंकंजी और कप्पा मछली की कढ़ी ही खाता है । पिछले दिन के चावल में पानी डालकर रखने पर दूसरे दिन पषंकंजी होती है । यह इतना पौष्टिक आहार है कि मछुआरे इस्पात जैसे बलवान रहते हैं । समुद्र के किनारे रहने वाले हिन्दू हो या मुसलमान या ईसाई सभी मछली के बिना भोजन पसन्द नहीं करते थे । लोग मछली के बिना चावल खाना बेकार समझते थे । अंतराल वर्ग तथा कुछ सामन्त नायर शाकाहारी थे । कभी कभी उनमें पुरुष वर्ग छिप-छिपकर तली मछली क स्वाद लेते थे ।

भूख से पीड़ित, और खाने के लिए तरसनेवाले अनेक पात्रों को हम 'धरती धन न अपना' में देख सकते हैं । यहां तक कि लच्छो अपनी इज़्ज़त खोकर भी अपने घर परिवार लोगों के लिए दो जून रोटी कमाने की कोशिश करते हैं। 'धरती धन न अपना' में चमारों का विश्वास है कि सावन में जो खीर नहीं खाया तो उसे अपराधी माना जाता हैं । सारे लोगों के घर में खीर होना चाहिए नहीं तो जन्म व्यर्थ और पापी मानेगा । लेकिन चमादड़ी के लोगों को खीर तो सपना हो गया है । प्रीतो हमेशा खाने पीने की बात करते है क्यों कि उनकी दावा है कि भूखा आदमी जब भी बात करेगा तो रोटियों की ही बात करेगा । वह हमेशा कटोरा भरकर खीर खाने का सपना देखता है । चमादड़ गांव के लोग बाग, आम, मकई और बाजरा ही खाते हैं । ताई निहाली काली से कहती है कि "मुझे तो घी देखे कई सल बीत गये है । जब जीतू पैदा हुआ था तब आधा सेर घी खाया था । मैं तो घी रंग और स्वाद दोनों ही भूल गयी हूँ ।"[1] प्रीतो के घर में शाम होने पर सब

---

1. जगदीशचन्द्र - धरती धन अपना - पृ . सं : 67

लच्छो का इंतज़ार करती है । लच्छो चौधरी के घर का नौ़करानी है और उसे रोज़ वहां से जूठन मिलती है । घर के बाल बच्चे सब पेट दबाकर उसकी राह देखती है।

नट लोग गन्दे जानवरों को खाते थे। ये गिलहरी, चूहे, ऊदबिलाव, गिरगिट, कंटेदार साही, मेंढ़क, नेवले आदि सब कुछ को खाकर पचा लेते थे । नटों के बीच गरीबी इतना भयंकर था कि बच्चे को पीने के लिए माँ की छात्ती में दूध नहीं था । जब बच्चा भूख से रोता है तब ये गीत गाती हैं कि -

"केकरे धरे रोटिया नांगे जाई रे
जस बाछतिया
कइसे के दुधवा पियाई रे"[1]

'जंगल जहाँ शुरू होता है' में बिसराम को अपने घर से आए घी और बास्मती और गरम मसालों की खुशबू से आश्चर्य लगा । क्यों कि उनके घर में चाय पत्तीली तक नहीं है । थारुओं को डाकुओं के लिए खाना बनाके देना पड़ता है । परसू सरदार डाकू के लिए बिसराम बहू को खाना बनाना पड़ा । खाना बनाके न देने पर इनको डाकू मारते हैं, बनाके देने पर पुलिस मारती है । बेचारे ये क्या करे । खान-पान के संबन्ध में एक उक्ति है "साधारण आदमी के लिए स्वर्ग क्या है गेंहूँ की रोटी और जड़हने का भात ।

गल गल नेमुआ और घिउतात.
तिछी नज़र परोसे जोय
ईसुख सरग पैठिले होय

---

1. शिवप्रसाद सिंह - शैलूष - पृ. सं : 127

मानो गेंहूँ की रोटी, ज़ड़हन का भात,नींबू का गल गलाना रस, गर्म घी और इसको परोसे कोई तिरछी नज़रवाली खाली तो ई सुख स्वर्ग में जाने कैसा है"[1]

'धार' में चित्रित संथाल जनजाति रेल की पटरी में कटे बछड़ा-बकरी को मिलने पर बांसगड़ के लोग बड़ी खुशी से खाती हैं । और रेल की कंपनी को धन्यवाद देते हैं । आदिवासी अपने खान-पान में प्रकृति प्रदत्त वस्तुओं का इस्तेमाल ही अधिक करते हैं । ये लोग मदिरा पान भी करते हैं । इनकी मदिरा महुआ और चावल की बनी होती है । 'कलापादरी' में बरवाडीह गांव के लोग खाने के चावल से मदिरा बनाते हैं ।

इसप्रकार विभिन्न जनजाति, जाति और धंधा केन्द्रित आंचलिक उपन्यासों से विभिन्न तरह के खान-पान और उनकी भूख-प्यास से पीड़ित कराहें हमें देखने को मिलती हैं ।

वेश-भूषा :

'जंगल जहाँ शुरू होता है' में चित्रित थारुओं का पहनावा बड़ा अनोखा है । बरसों पहले ये लोग एक लंगोटी ही पहने रहते हैं । पर अब शरद ऋतु में एक बड़ा सा कोट पहन लेते हैं । सिर पर ऊनी कपड़ों की काली टोपी तथा कन्धे पर कंबल, इनके साथ हर समय रहता है । मेले, उत्सव, त्योहारों में स्त्रियाँ सजधजकर जाती थीं । गहने पहनने का इन्हें बहुत शौक है । इनके पहनावे के संदर्भ में लेखक ने एक व्यंग्य प्रसंग लिखा है कि काली के बाप के बाप बेतिया

---

1. संजीव - जंगल जहाँ शुरू होता है - पृ. सं : 191

महाराज के खास़ मुलाजिम थे । महाराज बहुत मोटे थे इसलिए पाखाने बैठना बहुत मुश्किल था। तब काली के बाबा और एक आदमी का काम होता था उन्हें सौचाने का । हर बार एक नई कोरी धोती मिलती थी इस काम के लिए। महाराज के टाँगों के बीच उस धोती से आरा की तरह रगड़कर उनका चूतड़ साफ किया जाता था और बारी बारी से यह धोती उन लोगों को बखशीश में मिलती थी। उन्हीं धोतियों को रंगकर औरतें साड़ी कमीज़, पाजामा, कुरता, गंजी आदि बनाती थी । बहुत बाद तक वे उन्हीं धोतियों की कत्थर, गूदड़, चादर, धोती इस्तेमाल करते रहे।

कबूतरा जनजाति का पहनावा अलग प्रकार का होता है । इन्हें गुदने गुदवाने में रुची होती है । इनका पहनावा घाघरा चोली है । कदमबाई कबूतरी की छवी का वर्णन करते हुए लेखिका लिखती हैं "गोरा उजला चेहरा । छोटा माथा, सुतवा नांक, नाक में नगजड़ी मैली सी लौंग। आँखों में चमकदार नज़र । अण्डाकार चेहरे की नुकीली ठोड़ी पर गुदने की बूँद"[1] कबूतरों से बिलकुल भिन्न और सभ्य वेश है कज्जा लोगों का । मंसाराम कज्जा बंद गले का कोट और पावों में सफेद पाजामा पहनते है । ज़ुल्फों पर होता हुआ मफलर कानों को ढँके मूँदे हैं।

'सागर की गलियां' में वर्णित केरल के मछुआरों की औरत केवल एक केली पहना करती हैं, और एक ओढ़ती है । स्त्रियों की इस वेश-भूषा में परिवर्तन लाने की कोशिश होती है। जब वे झाबे सिर में लेकर भागते समय पसीना बहता है इसलिए मछुआरिन स्त्रियां ब्लाउज़ नहीं पहनती हैं । साड़ी पहनकर यह काम नहीं किया जा सकता । अशिक्षित मछुआरिनों का विचार है कि साड़ी, ब्लाउज़

---

1. मैत्रेयी पुष्पा - अल्मा कबूतरी - पृ . सं : 9

पहनना तो बड़े घर में सजधज कर रहने वाली स्त्रियों के लिए ही अच्छा है, मछुआरिनों के लिए नहीं । 'शैलूष' में ताहिरा, रूपा और अन्य नट्टिनों का वेश घाघरा, चोली, लहंगा, कुर्ता आदि हैं । लेकिन सारे नट्टिनों की कमर पट्टी में चाकू होती है । 'धरती धन न अपना' में क़ाली चमार है लेकिन शहर में कुछ साल रहने के कारण उनके पहनावा में शहर का प्रभाव है । काली की वेश-भूषा गांव के लोगों की तरह नहीं था। उजली कमीज़ और खाकी नीक्कर पहनकर पांव में पेशावरी चप्पल पहनते थे और धूप से बचने के लिए सिर पर गाढ़े के साफे की जगह तौलिया रखा हुआ था। 'धार' के संथाल लोग शहरों के संपर्क में आकर वस्त्रों का उपयोग करने लगे हैं । पुरुष केवल घुटनों से ऊपर जंघाओं तक धोती पहनते हैं । शुभ अवसर पर ये लोग पगदड़ी तथा कुर्ते भी पहनते है । इसीप्रकार स्त्रियां भी केवल एक धोती ही पहनती हैं जो घुटनों तक होती हैं ।

'झीनी झीनी बीनी चदरिया' में जिस बनारसी साड़ी को बनारसी बुनकर खून पसीना एक करके अपनी मेहनत और फ़न से तैयार करते हैं, उस साड़ी को बुनकरों की औरत कभी भी छुआ तक नहीं है। ईद के रोज़ बुनकरों की बीवी मामूली कपड़े के सलवार से ही अपना तल ढाँकती है। अलीमुन की सबसे बड़ी आशा थी मरने से पहले एकबार बनारसी साड़ी पहनूँ, लेकिन यह उसके नसीब में नहीं था। हाजी अमीरुल्ला बनारस के बड़े गिरस है, लेकिन बांगलूर जाना है तो वह लुंगी पहनकर जाता है उनका दावा है कि बड़े लोग अपने वेश विन्यास पर ज़्यादा ध्यान नहीं देते। इसी में उनका बड़प्पन है । इनके बड़े भाई हाजी मतिउल्ला तो लुंगी पहनकर विदेश भी जा चुके है । स्त्रियां घर से बाहर निकलते वक्त पर्दा पहनती हैं और मूँह पर नकाब पहनती है । सिर्फ बाहर दूसरों को आँख मात्र ही देखी जा सकती है ।

'हस्तक्षेप', 'गगन घटा घहरानी' और 'कालापादरी' में चित्रित उरांवों का पहनावा बहुत सीधा सादा है । स्त्री तथा परुष दोनों पांच, छः मीटर लंबा और आधे मीटर से भी कम चौड़ा कपड़ा बांधते हैं । इन्हें शेष शरीर नंगा रखना ही अच्छा लगता है । धनी लोग कंबल आदि का व्यवहार करते हैं तथा बाज़ार में जाते समय चादर की पगड़ी भी पहनती हैं । गरीब तथा कंगाल केवल लंगोटी ही पहनते हैं। औरतें कमर के चारों ओर जनाना कीचरी कहा जाने नाला वस्त्र लपेटती है । वे उत्सव आदि के अवसर पर साढ़े पांच मीटर लंबा और एक मीटर चौड़ा 'खनरिया कीचरी' वस्त्र भी पहनती हैं ।

इसप्रकार विभिन्न प्रदेशों में रहने वाले लोगों की वेश-भूषा अपनी संस्कृति, भूभाग, जलवायु के अनुसार भिन्न होते हैं । लेकिन समय के अनुसार उनकी वेश-भूषा में भी परिवर्तन आ गया है ।

लोकगीत :

त्योहारों, उत्सवों और पर्वों पर गाए जाने वाले परंपरागत गीतों को लोकगीत कहा जाता है । 'अल्मा कबूतरी' में जब जंगलिया की मृत्यू होती है तब सारी कबूतरियों चिता के पास बैठकर सिसक सिसककर गीत गातें हैं ।

"आजो तो जाजो तो पनफूटे मत जातो रे
घोड़ो घोड़ो घूमती, मोर आवती । फुलवादी फेवड़ा
आवतीं, आवतीं हमीर दे, वीर दे ....."[1]

---

1. मैत्रेयी पुष्पा - अल्मा कबूतरी - पृ सं : 26

सब कबूतरियों वीर देवता से प्रार्थना करती हैं कि हम बड़े कष्ट में हैं आकर हमारे कष्ट और दुःख को दूर करो । होली के अवसर पर बच्चे, बूढ़े, मर्द, औरत सब मिलकर गीत गाते हैं -

"मोरी चन्दा चकोर, काजर लगा के आ गई भोर ही भोर
मोरी चन्दा चकोर, छतिया पै तोता, करिहा पै मोर
मोरी चन्दा चकोर, चोली में निबुआ घँघरा घुमेर"[1]

होली से जुड़कर अनेक गीतों का गायन कबूतरों के ढेरे में होता है।

'सागर की गलियां' में कुरुप्पन की नाव जब ढेर सारे मछली को लेकर किनारे आती हैं तब तुरुत्त वासियों को खुशी का ठिकाना नहीं है । तुरुत्त के सारे पुरुष नाव को ज़ोर से खींचते वक्त सब मिलकर खुशी से गीत गाते हैं

"एल मितय्या एलेलय्या
एल मितय्या एलेलय्या
खींचो खींचो जल्दी रे
मिलकर खींचो साथी रे"[2]

जब तुरुत्तवासियों से मुलाकात करने केलिए मंत्री आते है तब उसके स्वागत में सारे मछुए झुंड़ों में वंचीपाट्ट या नावगीत गाते हैं -

"केरल भू जयलक्ष्मी, पुण्यमाला ले खड़ी है
स्वागत है स्वागत है धन्य महात्मन्

---

1. मैत्रेयी पुष्पा - अल्मा कबूतरी - पृ सं : 41
2. डॉ. रामन नायर - सागर की गलियाँ - पृ. सं : 17

तकनैनों तकनैनों तकनैनों तकनैनों
तकनैनों तकनैनों तकनैनों तिन्नत्ता तित्ते"[1]

'धरती धन न अपना' में जब काली शहर से वापस आते है तब चमादड़ी के हरिजन बस्ति के सारे लोग उनके घर आकर गीत गाते हैं । ताई निहाली सब को गाने के लिए ज़िद्द करती है ।

"जिस दहाड़े मेरा काली नीं जन्मया....
सोई दिहाड़ा भागाँ भरया"[2]

अर्थात जिस दिन काली ने जन्म लिया था वह दिन उनके लिए बहुत शुभ था । सावन के महीने आठवें दिन धूप बहुत ही तेज़ होती है । वर्षा आने केलिए सारी स्त्रियाँ मिलकर सावन का गीत गाती हैं -

"सावन खीर न खा दिया
क्यों जन्मया अपराधिया,
घर न होवे अपने
ते कित्थों खावाँ आपने"[3]

अर्थात सावन में खीर नहीं खायी तो अपराधी मानते है । तूने जन्म ही क्यों लिया अपने घर में खीर नहीं होतो पापी बता, कहाँ से खाऊँ ।

---

1. डॉ. रामन नायर - सागर की गलियाँ - पृ. सं : 36
2. जगदीशचन्द्र - धरती धन न अपना - पृ.सं : 14
3. जगदीशचन्द्र - धरती धन न अपना - पृ.सं : 215

'शैलूष' में नटों के लिए समय चाहे दुःख का हो या सुख का वे लोग ढोलक पर थाप देकर गीत गाते रहते हैं -

"आहो रामा मानिक हमरो हेरइल हो रामा
आहो रामा ओही रे जमुनवा के चिकनी मटियवा
चलत पांव बिछलइले हो रामा"[1]

ये चैत के गीत है । भोजपुरी लोकगीत का भी उल्लेख इसमें है । भोजपुरी गीत वे अलगोजा से बजाकर गाते हैं । नट आल्हा, नाच-गान, कसरत और आसन सबकुछ के साथ अलगोजा भी बजाते है।

नटों को खेती करना नहीं मालूम जब सब्बो मौसी के कहने के अनुसार सारा नट मिलकर खेती करना शुरू कर देते हैं, तब गीत गाते हैं -

"हरि मोर चलले उतर बनिया जरिया
दुअर कदंब लाइ गइले होराम
जब जब धनिय रे मनवां उदसिहे
तब तू कदमतरै जो हिहे हो राम।

अर्थात मेरे प्रिय उत्तर दिशा को नौकरी करने गये । वे द्वार पर कदंब का वृक्ष लगा गये। हे धनिया जब जब तुम्हारा मन उदास, तुम इसी के नीचे खड़ी होकर मेरी बार जोहती रहना।"[2]

---

1. शिवप्रसाद सिंह - शैलूष - पृ. सं : 9
2. शिवप्रसाद सिंह - शैलूष - पृ. सं : 251

'धार' में जनखदान के सारे मज़दूर सड़क के किनारे पौधा लगाते हुए संथाली गीत गाते हैं -

"नोड़ाक केढ़ा लड़ दुआर केढञा
बांद केदा लाड़ पुखुर केदा
रोहो य लड़ सारी नुथे से ताले दारे
गुजुंक गुरुक रे अतुय तोहन....."[1]

अर्थात हमने घर बनाया, द्वार बनाया, बाँध बाँधे और पेखरा खोदे । प्यारे चलो अब हम आम एवं ताड़ के पेड़ भी लगाएँ क्यों कि मृत्यू के बाद यही हमारा यादगार रह जायेंगे ।

'झीनी झीनी बीनी चदरिया' में बनारस के जुलाहों के बीच प्रचलित त्योहारों, मेलों, विवाहों से जुड़े अनेक गीत हैं । बिरादरी के विवाह के समय एक औरत ढ़ोलक बजाती है तो दूसरी औरत मुरादाबादी लोटे को अठन्नियों से पीट-पीटकर मंजीरे की धुन निकालकर गीत गाती है । रेहनवा के शादी के अवसर पर विदाई के वक्त नसीबुन बुआ गाती है, शादी चाहे दिन में हो या रात , चाहे बड़े गिरस के यहाँ हो या मामूली मज़ूर के यहाँ नसीबुन बुआ वहाँ ढोलक लेकर पहूँच जाती है, और गीत गाती है -

"काहे को दिया बिदेस रे
अरे लखिया बाबुल मोरे

---

1. संजीव - धार - पृ. सं : 162

भइया केदी है बाबू आपन देहरिया

हमके दिहेउ परदेस रे"[1]

मुहर्रम के नवीं रात नसीबुन बुआ और अन्य औरतें मिलकर दाहा गाती हैं

"छिकतै हसन मियाँ त घोड़वा पलानै
बछेड़ व पलानै
छिकतै भये हैं असवार रोहाय
दादी समझौंव आनकर अम्माँ"[2]

'गगन घटा घहरानी' में तपेसर के ओसारे पर बड़ी रात तक गाने बजाने हंसी ठट्ठे का कोलाहल होता रहता है । बरवाड़ीह गांव में गीत गाने के लिए पर्व, त्योहार का आसरा नहीं देखा जाता। कोई ढ़ोलक लेकर पहूँच जाते है तो कोई झाल, हारमुनियम आदि लेकर आता है। बलराम पांडे को संगीत का विधिवत् ज्ञान भले ही न हो आवाज़ में जो दर्द है, उसके सभी कायल है । तपेसर के साथ मिलकर सब गाते हैं -

"गगन घटा घहरानी साधो
गगन घटा घहरानी
पूरब दिसि सों उठी बदरिया
रिमझिम बरसतक पानी
साधो गगन घटा घहरानी"[3]

---

1. अब्दुल बिस्मिल्लाह - झीनी झीनी बीनी चदरिया - पृ . सं : 87
2. अब्दुल बिस्मिल्लाह - झीनी झीनी बीनी चदरिया - पृ . सं : 96
3. मनमोहन पाटक - गगन घटा घहरानी - पृ. सं : 205

हीरामनी और अन्य साथियाँ ज़ब काम सब करके शाम ढलने पर गीत गाते चलते हैं और दिशा खोए हुए अन्य साथियों को अपने साथ मिलाने के लिए ज़ोर से गाती है -

"उनि गुड़ी चोना निड़
तर दी योता पतर योता योता
चोना निड(कुडुख)
चलो सहेली जाएँ, दीपक देखते हुए, प्रकाश देखते हुए चलें (हिन्दी)"[1]

इसप्रकार इन गीतों का उत्तर सहेली बड़ी ज़ोर से दूसरी ओर से देते हैं। घर पहूँचने तक गीत की यह सिल सिला होती है ।

'जंगल जहाँ शुरू होता है' में चित्रित थारू हट का सबसे बड़ा मेला है सहोदरा या सुभद्दरा रामनवमी का मेला। इसदिन सहोदरा माई की पूजा होती है, और खुशी में थारू हट की बालिकाएँ सुध बुध खोकर नाचती हैं । उस वक्त अन्य स्त्रियां गीत गाती हैं -

"के अनिहें सुहानारी, के अनिहें कंगना,
कि के अनिहें कंगना,
हो के अनिहें कंगना,
से के अनिहें.....हिरदिया दरपनवाँ
कि अनिहें....."[2]

लोकगीत लोक संस्कृति के प्राणधार हैं । लोग अपनी खुशी और दुःख की अभिव्यक्ति लोकगीतों के द्वारा करते हैं ।

---

1. मनमोहन पाटक - गगन घटा घहरानी - पृ. सं : 205
2. संजीव - जंगल जहां शुरू होता है - पृ. सं : 17

लोककथाएँ :

जनजातियों में अनेक लोककथाएँ प्रचलित होती हैं । जिन्हें वे लोग अपने पूर्वजों से सुनते आये हैं । इन लोगों का इन कथाओं पर पूर्ण विश्वास होता है। कबूतरा जनजाति स्वयं को रानी पद्मिनी की संतानें कहती है । इनके बीच इससे जुड़कर एक कहानी भी प्रचलित है । जब कदम राणा को जन्म देती है तब बच्चे के छटी के अवसर पर मलिया सब को कुनबी कथा सुनाती है । शंकर महादेव अपने भक्तों को कुनबी नाम दिया । लेकिन देवता के संग हैवान भी पैदा हुआ था । एक दिन कुनबियों ने धोके में ऋषि की गाय का वध किया, ऋषियों ने शाप दे दिया कि तुम कलंकी होकर ढोते ढोते मरोगे । राक्षसों को खाने के लिए कुनबियों को गुफा में बंद किया । सारे कुनबी खत्म हो गये । तब देवता ने ऋषियों का तप खंड़ित करने के लिए नृत्य कला में निपुण नर नारी को पैदा किया । राक्षसों से नर-नारी कुनबियों का आज़ाद मांगी । लेकिन सारे कुनबियों को राक्षस ने पहले ही खा लिया था । इसलिए शंकर महादेव अपने लिए भक्तों को पैदा करने के लिए नर-नारी से कबूतर की तरह के सुन्दर और शांत संतान को पैदा करने को कहा । यह 'अल्मा कबूतरी' में चित्रित कबूतर जाती के पीछे की लोककथा है।

'शैलूष' में जहाँ तक घुमक्कड़ कबीले का विस्तार था वहाँ तक मानगुरू और नथिया बंजारिन के प्रेम और शौर्य की कथाएँ गूँजती थीं । उसका खूब वर्णन और लंबी कथा का उल्लेख इसमें किया है। 'झीनी झीनी बीनी चदरिया' में ज्ञानावापी मन्दिर को लेकर एक कथा है कि काशी के एक बड़ा सेठ ज्ञानचंद की बेटी वापी एक दिन मन्दिर गया तो किसी ने उसके साथ बलात्कार करके खत्ल किया । तब सेठ ज्ञानचंद ने मंदिर तुड़वाने के लिए औरगंज़ेब को खत लिखा ।

वहाँ रातों-रात मंदिर तुड़वाकर मस्जिद बनवाया। इस मस्जिद के साथ ज्ञानचंद और उसकी बेटी वापी का तालूक होने की वजह से यह मस्जिद ज्ञानावापी की मस्जिद बोली जाती है ।

'कालापादरी' में उरांव जनजाति के बीच मानव जाति की वृद्धि से जुड़कर एक लोककथा है । कथा इसप्रकार है - भइया-बहन को धरमेस ने प्रजनन के रहस्य का ज्ञान कराया। अब तक भइया-बहन के बीच लकड़ी का एक लट्टा डालकर एक साथ सोया करते थे। धरमेस ने लड़के से कहा कि जब तुम यह लट्टा पार करेंगे तब मानव की वृद्धि होगी । जब भाई और बहन के गहरी नींद के बीच धरमेंस ने लकड़ी का लट्ठा हटा दिया और मनुष्य की प्रथम जोडी की शुरूआत की । वहाँ से मानव की वृद्धि शुरू हो गयी ।

लोककथा सामाजिक संरचना का एक बहुत बड़ा आधार बिंदू होता है । तथा कथित लोककथाओं के आधार पर ही बहुत सारी प्रथाएँ अपना अस्तित्व आज भी बनाए रखती हैं। सांस्कृतिक कार्यक्रमों के अन्तर्गत कुल देवताओं की मान, प्रतिष्ठा आदि ऐसे ही कार्यक्रम हैं, जो पूर्ण प्रामाणिक न होकर लोककथा आश्रित होते हैं । इसप्रकार जाति, जनजाति और धंधा केन्द्रित आंचलिक उपन्यासों में लोककथा को भली भाँती चरितार्थ किया गया है ।

त्योहार और उत्सव :

त्योहार और उत्सव भारतीय संस्कृति के सूचक है। भारत वर्ष में त्योहारों और पर्वों को हज़ारों वर्षों से धार्मिक गरिमा प्राप्त है। इनका महत्व जनजातियों की सांस्कृतिक परंपरा में भी देखा जा सकता है । भारत में जनजातियाँ यद्यपि अलग

अलग अंचलों में निवास करती हैं, तथापि उसके पर्व एवं त्योहार मनाने की रीति में विशेष अंतर नहीं है ।

'अल्मा कबूतरी' में होली का वर्णन मिलता है । होली उल्लास और प्रसन्नता का त्योहार है । इस अवसर पर लोग एक दूसरे पर अबीर गुलाल डालकर और सभी मतभेदों को भुलाकर आपस में गले मिलते है । कबूतरा बस्ती में होली का वर्णन करते हुए लेखिका लिखती हैं कबूतर बस्ती में ढोल बजा।....लोगों के मन थिरक उठे । मंजीरा बजा । औरतें हंस रही थीं। बच्चे नाच रहे थे । होली के अवसर पर मर्दों और औरतों के गोल घरे में गीत गाने लगे कि -

"मोरी चन्दा चकोर, कजर लगा के आगई भोर ही भोर
मोरी चन्दा चकोर, छतिया पै तोता, करिहां पै मोर
मोरी चन्दा चकोर, चोली में निबुआ घँघरा घुमेर.....
जग मगाती धूप में रंग बिरंगे गुलाल उठने लगे"[1]

तेरह जनवरी संथालों के लिए बधना-पर्व का दिन है । इस दिन संथाल लड़के और लड़कियों का दल गीत गाते और नाचते हुए चलते हैं । 'धार' में बधना-पर्व का उल्लेख संजीव ने किया है । महेन्दर बाबू हर साल चावल की एक बोरी लेकर घर की फाटक खोलकर संथालों की प्रतीक्षा करते हैं । क्यों कि संथालों के विभिन्न त्योहार जैसे बधना हो, सरहुल हो, भादू, करमा, या मासपूजा हो सारे के सारे आदिवासियों की भीड़ उसके घर के सामने इकट्टी होती है । 'जंगल जहां शुरू होता है' में थारू हट का सबसे बड़ा मेला है सहोदरा या सुभद्रा मेला।

---

1. मैत्रेयी पुष्पा - अल्मा कबूतरी - पृ. सं : 41-42

रामनवमी के दिन सहोदरा माई की पूजा होती है। विभिन्न प्रदेशों से लोग अपने परिवार और गांव समेत सहोदरा में आकर जुड़ते हैं । मेले में सरकस, तरह तरह के खेल-तमाशे, कठपुतली का नाच आदि होता है । थारू हट की अप्सराओं का लोकनृत्य भी इसी मेला में होता है ।

करमा पर्व सिरफ थारुओं का ही नहीं उरांवों का भी त्योहार है । 'गगन घटा घहरानी' में करमा पर्व आने से पहले ही उरांव जनजाति के स्त्री पुरुष झूम झूमकर नाच गाने शुरू कर देते हैं । उस अवसर पर लुपुंगा, लेरता, खजुरी, डोलहात, मोरंगा, सोनाहातू आदि गांव और जंगल के उरांव इसी मज़े में डूबे होगे। एक एक गांव अपने को एक दूसरे से बढ़ चढ़कर झूमर के गीत गाते हैं । करमा के दिन नाच की कोई सीमा नहीं होती और एक एक दिन एक एक गांव दूसरे गांव जाता है, खूब दारू हंड़िया पीते है । बरवाडीह के लोग करमा को एकादशी कहते है । उस दिन सोनाहातू के घर के दरवाज़े पर लीप पोतकर ढकनी छतनी में पौधे जमाते हैं ।

धंधे को आधार बनाकर लिखा गया आंचलिक उपन्यास 'सागर की गलियां' में दक्षिण केरल के त्योहारों का उल्लेख लेखक ने किया है । विषुव केरल के हिन्दू घरों का सबसे बड़ा त्योहार है । विषुवा के दिन द्राविड़ का पहला महीना शुरू होता है । विषुव वेशाखी का दिन है, इस दिन में सूर्य सीधे सिर के ऊपर आता है । बच्चे, बूढ़े सब पटाखे जलाते हैं । घर के माँ और दादी कर्णिकार के फूल, सोने, वेदपुस्तक, ककड़ी, चिराग आदि का 'कणि' तैयार करके घर के अन्य लोगों के लिए सुबह होने पर इन वस्तुओं का प्रथम दर्शन कराती है, और बुजुर्ग लोग छोटों को कैनीट्टं या रूपया पैसे का उपहार देते हैं । केरल के लोगों

का अन्य उत्सव था भरणी । तुरुत्त के पड़ेसी गांव के देवी मंदिर में चलने वाले भरणी उत्सव पर सारे मज़हब के लोग जा सकते थे । मुसलमान और ईसाई क्या मछुवारे भी अपनी ताकत के अनुसार इस त्योहार के लिए पैसे देते थे । त्योहार के पन्द्रह दिन तक मंदिर के पूरबी मैदान में हाट- बाज़ार लग जाता था और देश विदेश के व्यापारी तरह तरह की चीज़ें लेकर व्यापार के लिए पहूँचते थे । इस उपन्यास में लेखक ने दक्षिण के लोगों के बीच में प्रचलित त्योहार का बड़ा विस्तार पूर्वक वर्णन किया है । तुरुत्त जैसे प्रदेशों में ऐसे त्योहारों से जो खुशी मिलती है उसकी सीमा नहीं है ।

बुनकरों की व्यथा कथा बतानेवाले 'झीनी झीनी बीनी चदरिया' बनारस के मुसलमान लोगों के बीच में प्रचलित त्योहारों और उत्सवों का मेला है । हर महीने में एक दिन उनके लिए विशिष्ट होगा । बुनकर लोग जीवन संघर्षों से गुज़रते हुए भी वे त्योहार मनाने को कभी पीछे नहीं हटते । बनारस के एक प्रसिद्ध मेला है गाजीमियां का बियाह मेला । यह जेठ महीने के प्रथम रविवार से आरंभ होता है । उस दिन मन्नत के मुर्गे काटे जाते हैं । और गाजीमियाँ पर उनकी खून चढ़ाता है । पूरे एक हफ्ते तक गाजीमियां कि मेला कच्ची बाग, छित्तनपुरा, बेनिया बाग आदि जगहों में होती है । बनारस के मुसलमानों का दूसरा त्योहार है सुबरात । उस दिन सारे घर में गेंहूँ का बना हुआ हलवा होता है और लड़के पटाखे जलाते हैं।

गंगा और वरुणा के संगम पर एक मज़ार है जो चन्दन शहीद के नाम से मशहूर है। इस चन्दन शहीद का मेला हर साल चैत महीने के प्रत्येक बृहस्पतिवार को लगता है । हिन्दुस्तान के मुसलमानों को इस बात का श्रेय मिलना चाहिए कि उन्होंने इस देश की धरती में ढेरों शहीद खोज निकाले हैं । दूसरी मेला सावन की

मेला है, यह सावन भर बनारस में होता है । बकरीद आनेपर बनारस में जहाँ भी देखो वहाँ भैंसें ही भैंसे नज़र आएगी । बकरीद के बाद मुहर्रम की तैयारियाँ शुरू होती हैं । मुहर्रम की नवीं रात मलीदों की रात है। कहा जाता है कि इमाम हुसैन को मलीदा बहुत प्रिय था। इसलिए इमाम हुसैन की यादगार के लिए लोग घर घर में तरह तरह के मलीदे बनाते हैं । इससे जुड़ी एक रीति है रात को सारी औरतें दाहा गाती हैं । दसवीं के रोज़ स्त्रियाँ चूल्हे नहीं जलाती हैं, झाड़ू नहीं लगाती, बालों में तेल नहीं डालती । दोपहर के बाद जब कर्बला के लिए तज़िये निकलने पर नवयुवकों के दल छाती पीट-पीटकर मातम करते हुए गली से जाते है । गम को उत्सव की तरह मनाने वाले यह दिखा देना चाहते थे कि हुसैन की हत्या का असली गम बस हमीं को हैं ।

इन लोगों के अन्य पर्व है पचासा पर्व यह सफर महीने की उन्नीस तारीख को मनाया जाता है । इस पर्व के अन्त में लाठ भैरव पर मेला लगती है । साठा त्योहार रबीउल अव्वल की सात तारीख को मनाया जाता है । और इसकी मेला चौहट्टा लालखाँ में लगता है, एक दूसरी मेला चुनार की मेला का भी उल्लेख इसमें है । सफर महीने का आखिरी बुध बनारस के बुनकरों का अत्यन्त महत्वपूर्ण पर्व है । क्यों कि उनका विश्वास है कि इसी दिन हज़रत मुहम्मद साहब ने गुस्ले सोहत किया था । अतः प्रति वर्ष सफर महीने के अन्तिम बुधवार के रोज़ बनारस के बुनकर बढ़िया बढ़िया पकवान बनाते हें और उस पर न्याज़-फातेहा कराते हैं । इस पर्व को एक जश्न के रूप में मनाया जाता है ।

इसप्रकार विभिन्न जनजातियों, मछुआरों, बुनकरों, नटों के बीच में प्रचलित विभिन्न उत्सव-त्यहारों का विशद वर्णन समकालीन आंचलिक उपन्यास में हुआ है ।

आर्थिक शोषण :

मानव जीवन की आवश्यकताएँ धन के द्वारा ही परिपूर्ण होती हैं । सभ्य और आदिम समाज के लोग विभिन्न रूपों से अर्थोपार्जन करते हैं । प्राचीन समय में भारत के विभिन्न प्रान्तों में रहने वाले आदिवासियों की आवश्यकताएँ जंगलों द्वारा ही पूर्ण होती थी । समय परिवर्तन के साथ साथ आदिवासोयों ने अपनी आजिविका और अर्थोपार्जन के अन्य साधनों का प्रयोग किया जैसे खेती करना, मज़दूरी करना, मछली पकड़ना, खेल तमाशे दिखाना, कपड़ा बुनना आदि ।

'कालापादरी' में चित्रित सरगुजा गांव से गुज़रेंगे तो कोयला बीनने वाले बच्चों का चित्र स्वाभाविक हैं । हैधरी, महाजन और बैनर्जी इन तीनों लोगों का काम बैंक में अपने ज़मीन को ऋण में रखकर पैसा लेने के लिए आनेवाले किसानों और सरगुजा के लोगों का शोषण करना है। ये लोग इन किसानों के नाम बड़ी रकम ऋण देकर आधा हिस्सा तीनों बाँटकर लेते हैं । यह सब करते हुए इन्हें किसी तरह का अपराध बोध नहीं था । अखबार में रोज़ खबर आ रही थी की सरगुजा के एक मुहल्ले बीजाकुर में लोग भूख से मर रहे थे । रिपोर्ट में लिखा गया था कि इस क्षेत्र के आदिवासी पिछले कई दिनों से ज़हरीली बूढ़ियां, बिल्लियों और बंदरों के मांस खा रहे हैं, खाने के लिए इन सबके अलावा बीजाकुर के लोगों के पास कुछ नहीं है । लेकिन कलक्टर का कहना है कि ये लोग भूख से नहीं बल्कि विष कन्द मूल खाने के कारण ही मर जाते हैं । "भूख से कोई व्यक्ति मर सकता है, यह कल्पना दुनिया की भयानक कल्पना थी"[1]

---

1. (तेजिन्दर - कालापादरी - पृ.सं :23

ईसाई मिश्नरी के लोग उरांवों के बीच आकर इनके ग़रीबी का शोषण करके इन्हें ईसाई बनाया । उन्हें खाना, कपड़ा, दूध सब दिया । उरांवों को ईसा का पुत्र कहकर बपत्सिमा किया । मिश्नरी के लोग उरांवों के आर्थिक स्थिति को मोहरा बनाकर अपने धर्म में सबको मिलाया, जेम्स खाखा पूछते हैं कि 'क्या यह सच नहीं कि हमारी इमेजज़ में पहाड़ थे, नदियाँ थी, पेड़ थे, शेर थे, चीते थे, और राजा ने हमें बंधुआ बना दिया फिज़िकली और इकनॉमिकली एक्सप्लाईट किया, लेकिन आपने क्या किया? यू रादर टेम्ड अस, आपने हमें पालतू बना दिया। हमारे लिए फंडमेंडलिस्टों और आप में अब कोई खास फर्क नहीं है । हमारी सारी इमेजज़ छीन ली आप लोगों ने।"[1]

उरांव जनजाति का शोषण सिर्फ सरगुजा, अंबिकापुर गांव में ही नहीं बंल्कि 'हस्तक्षेप' में चित्रित सतपुड़ा, बुन्देलखंड, बघेलखंड एंवं महादेव की पहाड़यों पर रहने वाले उरांवों की स्थिति भी जैसी की तैसी है। पहले गगनांचल के अधिकांश ज़मीनों पर आदिवासियों का ही अधिकार था। जब से बाहरी लोगों का आना बढ़ गया हैं उनकी आबादी भी तेज़ी से बढ़ने लग गई है । आदिवासी लोगों की गरीबी और उनकी आर्थिक स्थिति को सामने रखकर उनकी ज़मीनों को हड़पने शुरू कर दिया गया । इनको सौ, दो सौ रूपये देकर बहरी लोगों ने बड़ी से बड़ी ज़मीन को अपने नाम लिखवा दिया । आदिवासियों की सबसे बड़ी दुर्बलता शराब है, यह जानकर शोषक लोग इन्हें ढ़ेर सारे शराब या हंडिया भी देकर उनसे सारी ज़मीन छीन लेते हैं । अधिकांश आदिवासी आज भी पहले की तरह

---

1. तेजिन्दर - कालापादरी - पृ. सं :45

निश्चल एवं सीधे सादे हैं । जब तक उन्हें कोई बहकाता नहीं, ये किसी काम के लिए प्रेरित नहीं करते, वे स्वयं अपनी इच्छा से कोई कदम नहीं उठाते । आदिवासी द्वारा आदिवासी शोषण का अच्छा उदाहरण है विधायकजी ।

आदिम व सभाय समाज की टकराहट को मनमोहन पाठक ने 'गगन घटा घहरानी' में चित्रित किया है । जागो अपने ससुर के क्रिया कर्म के लिए दो मन अनाज और साठ रूपये रायसाहब से लिया था। उसी दिन से मालिक के पास उनकी गुलामी शुरू हो गयी । मालिक अपने बैल को आराम के लिए समय देते हैं, लेकिन जागो जैसे अन्य सेवकियों को नहीं। आज के ज़माने में भी गुलामी का बदला रूप हम जागो में देख सकते हैं । अगर उसके घर में बछड़ा, मुर्गी के बच्चे आदि होते तो मालिक उसे ले जाता था । खेतों में अनाज होता तो उसका भी दो तिहाई मालिक के आदमी बाँटकर ले जाते थे । राय साहब के चीते की देखभाल भी जागो का काम है । बढ़ती हुई उम्र के कारण जब जागो राय साहब के पास काम करने के लिए तैयार नहीं होता तब राय साहब ने जागो का हाथ पैर बाँधकर भूखे चीते के सामने फेंक दिया । सेवकिया बनने के कारण ही उन्हें यह सब कष्ट सहना पड़ा । जागो सेवकिया जैसे मेहनतकश अपने खेत, घर, गांव से बेदखल होकर जड़विहीनता का अभिशाप झेलते हैं ।

जंगल, पहाड़ सब कुछ सरकार का हो गया है । जो खेत अपने पास थी वह भी किसी राय साहब और बनिया के हो गये । लेरना जैसे बड़े गांव में भी आदमी खोजने से नहीं मिलेगा । सब ईट भट्ठा में मज़ूरी करने गये । छोटे छोटे बच्चे ईंट ढोते ढोते मर जाते हैं । अपना गांव छोड़कर सब को जंगल जाना पड़ रहा हैं । अपने ही खेत में चोरी की फसल काटकर भय से दिन गुज़ारना पड़ रहा

है । यही है सोनाहातू, लुपुंगा आदि गांवों के उरांवों की स्थिति । किसान साल भर न खाए लेकिन अगले साल की प्रतीक्षा में बीज बचाकर रखता है । आदिवासियों की सबसे बड़ी दुर्बलता दारू पीने का स्वभाव है । चारों तरफ अकाल पड़ने पर भी ये लोग अपनी ज़मीन बेच बेचकर दारू पीकर मस्त रहते हैं। लकड़ी काटकर जीवन बितानेवाले मज़दूरों का शोषण ठेकेदार तुच्छ वेतन देकर करते हैं ।

'धार' में मैना कहती हैं कि "हम को याद आता जब हम बच्चा था खेती से चार छः महीने का काम चल जाता, आज एक दिन कभी नई, खेत-खतार, पेड़ रूथ कुआँ, तालाब हम और हमारा बाल बच्चा तक आज तेजाब में गल रआ है, भूख में जल रआ है, पहले हम चोरी का चीज़ नई जानता था, भीख कब्भी नई मांगा, चुगली-दलाली कंब्भी नई किया, इज्जत कब्भी नई बेचा, आज हम सब करता, आदत पड़ गया है, बल्कि हमें इसके बिना गुज़ारा नई"[1] इन वाक्यों से बांसगड़ा की ही नहीं बल्कि पूरे संथालों की आर्थिक दशा सामने आती है ।

एक भोले भाले ग्रामीण से एक दुर्दान्त डाकू के रूप में उसके बदलने की प्रक्रिया को संजीव ने पूरे विस्तार ओर बारीकियों के साथ 'जंगल जहां शुरू होता है' में दिखाया है । डाकू के रूप में उसके बदलने की प्रक्रिय का पहला उत्तरदायित्व उनकी आर्थिक स्थिति को है । क्यों कि काली को मालूम नहीं वह कैसे अपने भैय्या और भाभी को तसल्ली दे क्यों कि महीने भर नहर पर काम करके पैसा मांगने पर ठेकेदार टरकाया जाता है, ज़िद कर बैठा तो हाथ ही छेड़ दिया । अपनी

---

1. संजीव - धार - पृ. सं : 56

क़माई मांगने पर ठेकेदार के पास पैसा नहीं लेकिन दुराचारी लुटेरे पऱशुराम के लिए उनके पास पैसा है "ऐसे अन्याय पर उसे क्या करना चाहिए, यह बताने वाला कोई नहीं, न कोई देवी देवता, न कोई साधू फकीर, न कोई लीड़र अपसर, हर तरफ अँधेरा है, हर तरफ घुटन।"[1] 'मिनि चंबल' के क्षेत्र की थारू जनजाति को जंगल में मज़बूरन संघर्षमय और शोषित जीवन बिताना पड़ता है । वे एक ओर सेठ साहूकारों के शोषण से प्रताड़ित हैं तो दूसरी ओर डाकुओं की कुरीतियों से। बिसराम की खेती को ज़मीन्दार ने हड़प ली है और मलिकार ने भैंस को पकड़ रखा है । थारू संस्कृति पर हस्तक्षेप करनेवाले सेठ-साहूकारों का पर्दाफाश इस उपन्यास में किया गया है ।

'अल्मा कबूतरी' में कबूतरा जनजाति के अर्थोपार्जन का मार्ग शराब बनाना और चोरी करना अथवा लूटपाट करना है । पुरुष वर्ग चोरी करता है तो स्त्रियाँ डेरों पर महुए और गुड़ की शराब डालती हैं । इन लोगों की आर्थिक विषमता के पीछे इसकी अशिक्षा है । कज्जा समाज अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए भी इस जाति का विकास नहीं चाहता । यह भी नही यह जाति अपने मूल से विस्थापित है । सभ्य समाज नहीं चाहता कि ये लोग शिक्षा प्राप्त कर उनकी बराबरी में खड़े हो । इसके लिए वे उन्हें बरगलाने में लगे रहते हैं तथा भावात्मक शोषण करने का भी पूरा प्रयास करते हैं । केहर सिंह और मंसाराम शराब का ठेका खोलता है और अपने षड्यन्त्र से कबूतराओं से शराब बनवाते हैं, और उन्हें सरकारी दरों पर बेचते हैं । कबूतराओं की आर्थिक स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं आता बल्कि वे अब केहर और मंसा की कृपा पर जी रहे हैं। यह कज्जा समाज

---

1. संजीव - जंगल जहाँ शुरू होता है - पृ . सं : 93

की एक सोची- समझी रणनीति है । जिससे कोई भी निम्न जाति या जनजाति उनकी बराबरी कर उनके साथ बैठकर काम न कर सके ।

'सागर की गलियाँ' का कथा संदर्भ केरल के मछुआरों के जीवन से संबन्धित है । चाकरा का स्वप्न मछुओं को सुखद हैं । विरले ही साल में एक बार ऐसा होता है । उससे मछुए मालामाल हो जाता है । सारे मछुए उस समय अपने ऋण से मुक्त होते हैं । कई महीनों के घोर प्रयत्न से जितनी मछली मिलती है उससे दुगुनी तिगुनी चाकरा के समय एक दिन में मिल जाती है । कभी कभी उनके प्रति समुद्र माता उदार नहीं रहती, उस वक्त भूखे बच्चों के आवाज़ ही तुरुत्त में सुनाई पड़ेंगी । इस अवसर का फायदा उठानेवाला कर्ज़कार भी अपनी त्योरी चढ़ाते हैं । दो सौ प्रतिशत सूद देकर भी कभी कभी उन्हें ऋण लेना पड़ता है । सूदखोरों के शिकार होते हुए भी वे सन्तुष्ट हैं । पुलिस और कलक्टर तक इन मछुआरों का शोषण करते हैं । जब कुरुप्पन को सागर से एक मगर मछली मिलते है, इसका प्रदर्शन करके वे चाला के लोगों की सहयता करता है । तब पहले पुलीस आकर दर्शनार्थियों से मिले पैसे का आधा हिस्सा भाँटकर ले जते हैं । कलक्टर भी इस पैसे के लिए आते हैं । अन्त में सरकार घोषणा करती हैं कि दर्शनार्थियों से मिलने वाले पैसे का आधा भाग सरकार को देना होगा । लेकिन ये सब बातें सिर्फ कागाज़ में होंगी और सारा पैसा इस श्रृंखला के बीच खड़े पुलिस, अफ्सर और कलक्टर के जेब में जाता रहेगा ।

मत्स्य संपदा की सुरक्षा करने की कोई सुविधा इन लोगों के बीच में न होने के कारण गरीबी इन लोगों के सहचरी हो गयी है । लाखों रूपये की मत्स्य संपदा वे लोग पाते हैं लेकिन खर्च करने की तरीका उन्हें मालूम नहीं । इसलिए

चाले के कुछ लोग गल्फ में जाकर पैसा कमाने का स्वप्न देखते हैं लेकिन वहाँ भी इन अशिक्षित लोगों का शोषण करने वाले एजेंट और अन्य लोग है । वहाँ भी जीवन दुष्कर होने पर वे इल्लीगल करके पैसा कमाता है । चात्तू ऐसा एक पात्र है । करुप्पन चाला की गरीबी को हमेशा के लिए दूर करने केलिए अनेक योजनाएँ बनाता है । आजकल नौकरी नीलाम होता है, सबसे ज़्यादा पैसा देनेवाला कौन हो वही उस पद के लिए नियुक्त होता है ।

इसी प्रकार बुनकरों की समस्या को लेकर लिखा गया उपन्यास है 'झीनी झीनी बीनी चदरिया'। मतीन उपन्यास का मुख्य पात्र है, वह गिरस्त हाजी साहब के यहां से कतान लाता है, उनका जीवन पूरी तरह हाजी साहब जैसे सेठों पर निर्भर है । कड़ी मेहनत करने पर एक हफ्ते पूरे नब्बे रूपये मिलते हैं । हाजी साहबों को हर साड़ी में कोई न कोई ऐब ज़रूर दिखाई पड़ जाता है । उनकी पत्नी अलीमुन टी.बी रोग से पीड़ित है । इनके इलाज के लिए पैसा इतना खर्च किया जाता है कि खाने के लिए कुछ शेष नहीं रह जाता । फिर दूबारा हाजी साहब जैसे सेठों से उधार लेना पड़ता हैं । कर्ज़ लेना, कर्ज़ चुकाना, दुबारा लेना यही उनका काम होता है । ज़िन्दगी कर्ज़ के चारों ओर घूमती रहती है । शोषण के लिए तमाम तरीके अपनानेवाले सेठ और गिरस्त के लोग साड़ी की बिक्री के समय साड़ी में ऐब निकालकर, एक महीने बाद वाले चेक देकर, सामाजिक, सांस्कृतिक कार्यों के नाम पर चन्दा इकट्ठा करने हेतु तथा बिना कारणों से कटौती करते हैं । इस स्थिति से मुक्ति पाने के लिए मतीन शेयर कॉपिटल बनाना चाहते हैं, लेकिन वहाँ भी हाजी अमीरुल्ला की ही विजय होती है । मतीन के अनुसार "जो गरीब है

वह ग़रीब ही रहेगा, चहे लाख कोशिश करे, अल्लमियाँ ने जिसे अमीर बना दिया है वह अमीर ही रहेगा ।"[1]एक गरीब बुनकर का एक मात्र सहारा गिरस है ।

बुनकरों के लिए दूसरी समस्या रेशमी धागों के मूल्य में हुई असाधारण वृद्धि थी । पावरलूम आने से हाथ के कारिगर बेकार हो गये । मतीन बनारस छोड़कर कुछ बहतर परस्थिति में काम करने के लिए मऊ जाता है । मऊ में काम करके उसे पता चला की मऊ और बनारस में कोई फर्क नहीं है, गरीब तो हर जगह एक ही जैसे हैं । शोषण और अत्याचार समान रूप से फैले हैं । गरीब के हालत में कोई परिवर्तन नहीं दीखता । आर्थिक शिकंजे में ग्रस्त मऊ के बुनकरों का रहन-सहन इतना निम्न स्तर का है कि वे स्वयं कपड़ा बुनकर भी अपने बच्चों को कपड़ा पहना नहीं पाते । घर के नाम पर उन्हें कच्चे सीलन युक्त अथवा टीन शेड के मकानों पर रहना पड़त है । जो मामूली सी वर्षा में कीचड़ युक्त हो जता है फिर भी वे इस नारकीय जीवन को बिताने के लिए मज़बूर है । चुनाव के बाद बुनकरों के लिए दूसरी समस्या शुरू होती है कटौती की । सारे जगहों में कटौती का चक्र चल रहा है । बुनकरों के चारों तरफ शोषक रूपी गिद्द मंडरा रहे हैं।

शिवप्रसाद सिंह का 'शैलूष' नटों के कबीलाई जीवन पर लिखा गया उपन्यास है । जरायमपेशा और खानाबदोशी ज़िन्दगी जीनेवाले नटों को सभ्य बनाने की कोशिश उपन्यास के आदि से अन्त तक है । कबीलों को सरकार चालीस एकड़ बबूल के सुत्थड़ और टीलों से भरी परती को दिये है ताकि वे जोत न सका घुरफेंकन इस जगह को हथियाने के लिए इन नटों को बहकाते हैं । सामंतवादी

---

1. अब्दुल बिस्मिल्लाह- झीनी झीनी बीनी चदरिया - पृ. सं :38

शक्तियां अधिकतर गरीबों को अपना पहला शिकार बनाती हैं । चोरी, हत्या, देहव्यापार मक्कारी जैसा कार्य आर्थिक विषमता को दूर करने के लिए इन्हें स्वीकार करना पड़ता है ।

'धरती धन न अपना' में लेखक स्वयं अर्थ शास्त्र का छात्र होने के कारण हरिजनों के सामाजिक दुरवस्था के पीछे छिपे आर्थिक कारणों का भी पता उन्हें था। आर्थिक आभावों की चक्की में युग युगान्तरों से पिस रहे हरिजन अब भी मध्यकालीन यातनाओं को भोग रहे हैं । जिस भूमि पर वे रहते हैं, जिस ज़मीन को वे जोतते हैं, यहाँ तक जिन छप्परों में वे रहते हैं कुछ भी उनका नहीं है । चमारों को हमेशा चौधरी लोग अपने पांव के नीचे पकड़कर रखना चाहते हैं। काम आने पर कठपुतली की तरह नचा देते हैं । काली जब शहर से वापस गांव में आते है तब एक पक्का मकान बनाना उनका सपना हो जाता है । लेकिन उसका सपना सपना ही रह जाता है। आर्थिक विषमता के कारण वह अपने घर की बनावट पूरी नहीं कर पाती । ईसाई मिश्नरी के लोग चमारों की इस आर्थिक विषमता से लाभ उठाकर उन्हें रोटी, कपड़ा, नौकरी देकर अपने धर्म में मिलाना चाहते हैं ।

आर्थिक शोषण से पीड़ित जनता सिर्फ बनारस और पंजाब के चमादड़ी मोहल्ले में ही नहीं बल्कि केरल के तुरुत्त से लेकर कश्मीर और विंध्याचल के सघन वनों में भी है ।

जातिगत शोषण :

मनुष्य सामाजिक प्राणी है । प्राचीन काल से भारतीय समाज अनेक जाति एवं वर्गों में विभाजित हैं । भारतीय समाज में मनुष्य का व्यवसाय जातीय

आधार पर बंटा हुआ है । अनुसूचित और जनजाती के बीच जातीय कट्टरता अधिक पायी जाती हैं । उच्च जाति के लोग निम्न जाति के लोगों का शोषण करते हैं । उच्च जातियता का अहं जितने काल तक उनके अन्दर होगा उतने काल तक वह निम्न जातियों का तिरस्कार करते रहेगा । कोई शूद्र और आदिम जनजाति आर्थिक स्तर पर संपन्न हो भी जाए तो जातिगत आधार पर उन्हें अनेक यातनाएँ झेलनी पड़ती है ।

अपने जातिगत संस्कारों तथा सामाजिक मान्यताओं की कठोर जकड़न के कारण 'धरती धन न अपना' में हरिजनों का जीवन विषमता और कटुता से भरा पड़ा है । आर्थिक अभावों की चक्की में युग युगान्तरों से पिस रहे हरिजन अब भी मध्यकालीन यातनाओं को भोग रहे हैं, जिस भूमि पर रहते थे, जिस ज़मीन को वे जोतते थे, यहां तक कीं जिन छप्परों में वे रहते थे, कुछ भी उनका नहीं था । इस उपन्यास में हरिजनों के जीवन संघर्ष को प्रमुख मुद्दे के रूप में लिया गया है । चौधरियों और चमारों का रिश्ता शोषक और शोषित का रिश्ता है । इसीलिए चमार वर्ग दारिद्रय से पूर्ण नारकीय जीवन जीने को विवश है । हर भूस्वामी का अपना चमार होता है, जो पीढ़ी-दर-पीढ़ी उस हवेली में सेवा करता आ रहा है । ये चमार पैसे से कोई चीज़ नहीं खरीद सकते, प्रत्येक वस्तु इन्हें भीख में मिलती है । धरती और धन के आभाव में चमार वर्ग चौधरियों की ज़्यादतियों को सहने के लिए विवश हैं ।

चौधरी हरनाम सिंह काली को चमार होने के कारण नीच समझता है, छज्जू शाह उसे कर्ज़ा देने के लिए किसी गिनती में शुमार नहीं करता, भट्टेवाला मुंशी उसे बे-हैसियत का इनसान समझता है । सन्त सिंह यह भी कह देता है कि

"गांव में कुत्तों और चमारों की पहचान रखना मुश्किल है।"[1] चौधरियों ने चमारों को मारपीट करके इतना निरीह बना दिया था कि उन्हें कदम कदम पर यह विश्वास बने रहे कि वे चमार हैं । ईसाई मिश्नरी के लोग भी जातियता और उनकी आर्थिक विषमता का लाभ उठाकर पैसे, भोजन, कपड़ा आदि देकर धर्मान्तरण करता है । नन्द सिंह चमार बनकर रहना नहीं चाहते, इसलिए उसने ईसाई धर्म को अपनाकर एक नया नाम भी स्वीकार लिया । लेकिन चौधरी लोग ईसाई बने या न बने 'चमार' कहकर ही सब को पुकारते हैं । चौधरी कहते हैं कि "तेरे सिर पर अभी तो सींग तो उगे नहीं.....पगला, तू कुछ भी बन जा लेकिन रहेगा चमार का चमार ही । जात कर्म से नहीं, जन्म से बनती है । अगर चमार कहलवाना पसन्द नहीं तो किसी और के पेट से जन्म लिया होता"[2] चौधरी लोग चमारों को खरीदे हुए दास समझते है । निम्न जाति के ऊपर ऊँची जाति का हस्तक्षेप का सुन्दर नमूना है प्रस्तुत उपन्यास 'शैलूष' में रूपा के अनुसार जिन्हें खाने पीने के लिए जांगर तोड़ मेहनत करनी पड़ती है वे बड़की बिरादरी की, किसान, मज़दूर और जो इनके खून चूस-चूसकर महल बनाते हैं वे सब छोट की बिरादरी की हैं । सब्वो मौसी जात पांत के शिकंजे को तोड़ना चाहते थे, इसलिए ही उसने जात-पांत पर लात मार के जुड़ावन से प्रेम किया था । वह नटों के बच्चों का नाम बकुल मुकुल रखकर समाज में उसे इज़जत दिलाने की कोशिश करती है । क्यों कि नाम से किसी दूसरे को पता न चले कि ये शैलूष पुत्र है । देश में आदिवासी, गिरिजन, हरिजन और दूसरे तंब के लोगों को हज़ारों सुविधाएँ दी गयी हैं लेकिन इन नट कबिंलाई जाति

---

1. जगदीशचन्द्र - धरती धन न अपना - पृ . सं : 109
2. जगदीशचन्द्र - धरती धन न अपना - पृ . सं : 200

के लिए कुछ भी सुविधाएँ नहीं दी गयी है। सरकार ने चालीस एकड़ ज़मीन नटों को और साठ एकड़ हरिजनों को दिया है । लेकिन घुरफेंकन नटों की भूमि को हड़प लेने का षड्यन्त्र रचता है । नटों के पुरुष जब अन्य गांवों में नाच गाने दिखाने के लिए जाते है तब इन नटों की दुर्बलता जानकर वहाँ के नौजवान इन्हें ताड़ी पिलाते हैं और इनकी स्त्रियों के साथ बत्तमीस करते हैं ।

'अल्मा कबूतरी' उपन्यास में चित्रित 'कबूतर जाति' एक ऐसी ही जनजाति है जो समाज से बिलकुल अलग थलग है । उच्च जाति के लोग इनके डेरों के आसपास तक नहीं फटकना चाहते । जो इन लोगों से मतलब रखता है उसे उसका समाज कोई भाव नहीं देता । मंसाराम ऐसा ही पात्र है । वह जाति से कज्जा है लेकिन जब उसके आना जाना कबूतरी बस्ती में हो जाता है तब से उसकी इज़्ज़त दो कौड़ी की रह जाती है । उच्च जाति के लोगनाच जाति के लोगों को पीपल के पेड़ तक छूने नहीं देते क्यों कि उनका विश्वास है कि पीपल में देवी-देवता वास करते हैं । जब राणा स्कूल में जाता है तो वहाँ के बच्चे और मास्टर उसके साथ भेद-भाव करते हैं । राणा प्यास से तड़पते रहने पर भी उसे स्कूल का नल छूने की आज्ञा नहीं थी । उससे तालाब का पानी पीने को कहा । तालाब में तो कज्जा लोगों के बच्चे टट्टी-पेशाब फेंकते हैं । उच्च जाति के लोगों की हरकत तो बड़ा दर्दनाक है । जब राणा पर कुत्ता झपड पड़ा तब गांव में हल्ला होगया । लोगों ने समझा कबूतरा लड़का कुत्ते से लड़कर नट की तरह तमाशा दिखा रहा है । किसी ने पैसा फेंकी, किसी ने ताली बजाई और किसी ने कुत्ते को शाबाशी देने लगा । राणा को उठाकर मंसा डेरे पर ले जाना चाहता था, लेकिन समाज के डर से वह कुछ न कर सका । राणा मंसा का अवैध संतान था ।

"कबूतर जाति भोले पंछी के समान है जिनके न घोंसले, न घर, सर्दी गर्मी बरसात दूसरों का मूँह देखता रहता है ।"[1] केहर सिंह अपने ठेके की रौनक बढ़ाने के लिए कबूतरी लड़कियों को ठेके में रखा है । तत्थू जाति से मेहतर है जब उनके हाथ से चाय पीने पर धीरज हिचकता ज़रूर है। क्यों कि पढ़े लिखे होने पर भी उसके अन्तर में कज्जा जाति का पुकार है और साथ ही बचपन से ही छुआछूत चिपका दिया है । इन कबूतराओं के डेरे गांव के बाहर होते हैं । गांव में घुसना इनके लिए निषेध है । उच्च जाति के लोग ये भूल जाते हैं कि कबूतर जाति के लोग भी मनुष्य हैं।

'सागर की गलियां' में तुरुत्त में रहने वाले मछुआरों को पास के गांववाले निम्न जाति के होने के कारण बड़ी घृणा की दृष्टि से देखते हैं । गांववाले मछुआरों को अछूत मानकर उनके साथ उपेक्षणीय व्यवहार करते हैं । इससे वेलुत्तम्मा आहत होती है तो करुप्पन उसे अपनी जातीय परंपरा से परिचित कराता है - "गांववाले जो चाहे कहे, जो चाहें करें, हम भगवान व्यास की परंपरा के हैं, कहीं छोटे या नीचे नहीं है । रिषि के समान है । हम बदबू में सुगंधी पैदा करते हैं ।"[2]

'गगन घटा घहरानी' में राय साहब जागो को ज़िन्दगी भर के गुलामी बनाकर अपने पास रखते है । क्यों कि राय साहब को मालुम था कि वे जंगली जाति होने के कारण सबकुछ बिना कुछ कहे छुपछाप सह लेंगे । डी.एस.पी के बेटे जुवेल ऊँचे जात के हैं इसलिए वह नीच जाति की स्त्रियों के सात बत्तमीसी

---

1. मैत्रेयी पुष्पा - अल्मा कबूतरी - पृ. सं : 222
2. डॉ. रामन नायर - सागर की गलियाँ - पृ. सं :53

करता है । "गरीब की स्त्री उनके लिए सिर्फ भोग की वस्तु है। मनुष्य नहीं, मनुष्य तो केवल वहीं है "[1]

'कालापादरी' में चित्रित उरांवों का हाल भी भिन्न नहीं है। इस देश के बड़े शहरों की जो सोसायटी है, उनमें आज भी उरांव जंगली जनजाति ही है । ईसाई होने पर भी उनकी ओर देखने का ढ़ंग एक तरह से जंगलियों की तरफ देखने का ढ़ंग है । उरांवों को पता नहीं उन्हें क्यों धर्म परिवर्तन करना पड़ता हैं । क्यों कि मूल रूप से वे जंगली जनजाति हैं, और धर्म परिवर्तन करने से पहले और बाद भी समाज में उनके लिए कोई स्थान नहीं है । "हम भले ही ईसाई बन गये हो, हमें एतराज़ नहीं, लेकिन मूलतः हम उरांव हैं और उरांव होने के नाते वे उरांव जिन्होंने प्रभू यीशू के मार्ग को नहीं अपनाया है।"[2]

'धार' में शर्मा बाबू बांसगड़ा के संथाल जाति को इज्ज़त मिलाने के लिए बहुत कोशिश करते हैं, ताकि वे आदमी की तरह जिए । संथाल जाति की ज़िन्दगी की रूप रेखा इन वाक्यों से हमें मिलती हैं - "पानी का पाइप हमारा छाती पर से गुज़रता, हमको एक बूँद पानी नई, रेल लाईन बगल में है, मगर हमरा खातिर सौ कोस दूर, वोट देने क़ो हमको आज तक कोई बोला नई, हमरा चिट्ठी- पत्र निहाल सिंह के दूकान के पते पर आता । हमरा कोई पता ठिकाना नई"[3] बाहर के लोग इन्हें कंगाल घोषित करके दूर भागते हैं । ये लोग अब न जंगल के रहे न शहर के और न गांव के ।

---

1. मनमोहन पाठक - गगन घटा घहरानी - पृ. सं : 81
2. तेजिन्दर - कालापादरी - पृ. सं : 104
3. संजीव - धार - पृ. सं : 57

'जंगल जहाँ शुरू होता है' में थारू जनज़ाति की व्यथा कथा का वर्णन करते हुए लेखक ने डाकुओं के बीच में प्रचलित जाति व्यवस्था पर ज़िक्र किया है । परेमा पहले पंडित के दल का ही था, लेकिन था अहीर । अब जात पांत के चलते उसने गद्दी का साथ दिया । परेमा ने पहले अविनाश पंड़ित को मारकर जाति का ऋण उतारा, फिर गद्दी को मारकर धर्म का । ज़्यादातर डाकू यादव थे। यानी रक्षक भी उसी जाति का भक्षक भी उसी जाति का । जब कोई अंचल, सामाजिक ईकाई अर्थात जाति खुद को असहाय पाती है तो विकल होकर शक्ति के अन्य स्रोतों की ओर भागती है, या क्रित्रिम स्रोत बनाती है । 'किसी जाति विशेष को नीच या चोर प्रचारित करवा देना उसकी तेज को मार देने का अमोघ अस्त्र है - चोरी को किसी जाति विशेष से जोड़ना ।"[1]

आज प्रत्येक कार्य जातिय आधार पर होता है । जाति के नाम पर अलग अलग संगठन खड़े हो गए हैं । जाति के आधार पर भेद भाव की भावना विकाराल रूप धारण कर चुकी है । अनुसूचित जातियाँ, जनजातियाँ और अन्य निम्नतर की जातियाँ आज भी सामाजिक धारा से छिटकी हुई नज़र आती है । इसे दिखाने का भरसक प्रयत्न समकालीन आंचलिक उपन्यासों में हुआ है ।

वर्गगत शोषण :

वर्ग शोषण की प्रक्रिया मानव सभ्यता के प्रारंभ से हो चुकी है । अब यह साम्राज्यवादी शक्तियों के संरक्षण के केन्द्र बिन्दु बन चुका है । आज कर्म के आधार पर वर्ग निर्धारण न होकर जन्म के आधार पर मान्यता प्राप्त कर चुका है।

---

1. संजीव - जंगल जहाँ शुरू होता है - पृ. सं : 187

जिसका सबसे आधिक लाभ सामन्तवादी वर्ग और सवर्ण जातियाँ उठा रही हैं । उसका सबसे अधिक दुष्प्रभाव और अत्याचार निम्न जातियाँ झेल रही हैं, जिसके कारण इनकी स्थिति अत्यधिक दयनीय है ।

'धार' में कोयला क्षेत्र में काम करनेवाले आदिवासी मज़दूरों की कथा संजीव ने सहानुभूति और सहृदयता के साथ कही है । बांसगड़ा इलाके में कोयला देखकर बस्ती ने एक एक आने लगे। पंड़ितजी वह जगह कोयलौरी - ठो नेशनलाइज़ हो जाने की घोषणा की । पंड़ितजी महेन्द्र बाबू के साथ मिलकर सारा कोयला हड़प लेना चाहते थे। इसलिए मैना कहती हैं कि बांसगड़ा में गीध की नज़र लग गयी है । "पहले इस जंगल में सियार, बनबिलाव, चूहों, खरगोशों, सांपों का बसेरा था, कुत्ते यदा-कदा पहूँचकर इनको पेरशान करते । यह सारा कुछ अब भी है, सिर्फ जन्तुओं ने आदमी की शक्ल अख्तियार कर ली है । कोयले के दलाल, मज़दूर उनके बच्चे, कोल माफिया और यदा-कदा पुलिस"[1] शर्मा मज़ाक में कहते हैं कि इस कोयले खज़ाने पर अमेरिका की तरह पंड़ित सीताराम काबिज है और लैटिन अमेरिका के एक छोटे राष्ट्र की तरह मैना ।

बांसगड़ा गांव प्रायः उजाड़ हो चला था । अभी ज़्यादातर अवैध कोयला खनन गड्ढों में पानी भर जाने से बंद था । बांसगड़ा के स्त्री पुरुष रात भर अवैध कोयला खनन के बाद दिन में सोते रहते हैं । चोरी से जो कोयला कटकर बेचते है इससे भी गुज़ारा न होने के कारण दूर दूर के ठेकेदार इन्हें सस्ती मज़दूरी पर काम के लिए ढोर डाँगरों की तरह हाँक ले जाते हैं । आश्चर्य की बात यह है कि धान

---

1. संजीव - धार - पृ. सं : 99

के खेत, इतनी कोलयरियाँ और छोटे से लेकर चित्तरंजन और केबुल्स के बड़े कारखाने होते हुए भी इनकी ज़िन्दगी में कोई सुरक्षा नहीं है । अविनाश शर्मा बासगड़ा के संथाल मजददूरों के जीवन में परिवर्तन लाने के लिए 'जनखदान' शुरू करता है। शुरू में मज़दूर बिना मज़दूरी से काम करते हैं । जब कोयला मिलना शुरू होता है तो मज़दूरी के बदले में उन्हें कोयला दिया जाता है जिसे वे शहर में बेचते हैं । धीरे धीरे मज़दूरों के जीवन में परिवर्तन आता हैं । जनखदान में मज़दूरों की सुविधा और सुरक्षा के लिए प्रबंध है। महेन्द्र बाबू और मारवाड़ी सेठ डोकनिया इसे खत्म करने को आमादा है । माफिया गुंड़ों और मज़दूरों के बीच लड़ाई होती है । खदान पर बुलडोज़र चलाकर नाश किया जाता है । सरकार ने इन संथालों के लिए कुछ नहीं किया हैं । अनेक हिन्दुओं के कारण इन्हें अपनी ज़मीन तक नहीं हैं ।। महेन्द्र बाबू एक ऐसा जोंक है जो संथालों के खून चूस-चूसकर बड़े हो गये । मैना और शर्मा का विश्धास हैं कि एक न एक दिन सरकार उनकी निष्ठा को स्वीकार करेगी ।

'गगन घटा घहरानी' में लकड़ी काटनेवाले मज़दूरों का शोषण ठेकेदार करते हैं । सोनाराम लुपुंगा, सोनाहातू, मोरंगा के उरांवों को समझाता है कि यदि आदमी डर, भय निकाल देते तो वह कुछ भी कर सकते हैं । वह सबसे एकजुट होने को कहता है । ठेकेदार तुच्छ वेतन देकर मज़दूरों का शोषण करने पर रामधनीजी की नेतृत्व में सारा मज़दूर अनशन करते हैं । लडाई सिर्फ न्यूनतम मज़दूरी को लेकर ही नहीं ज़मीन के मलिकाने को लेकर भी हो रही है । उनके अपने खेत में वे जोतते हैं लेकिन अपने लिए नहीं मालिक के लिए । अपने ही खेत से फसल चोरी करके दिन काटना भी पड़ता है । 'खेत जो होते -बोए

उसका, जिसकी मेहनत उसकी फसल' ये नारा रामधनीजी सबको समझाते हैं । ठेकेदार अपना काम करवाने के लिए दूसरे इलाके से आदिवासियों को लेकर आते हैं । तब इलाके के मज़दूरों ने भी हड़ताल शुरू कि । यह हड़ताल किसी कारखाने की बड़ी बड़ी यूनियनों वाले खाते-पीते मज़दूरों की हड़ताल न थी, और यह हड़ताल अपने अपने घरों झोपड़ियों में रहनेवाले खेतिहर किसान, मज़दूरों की हड़ताल भी न थी । वह अकाल से त्रस्त होकर गांव घर छोड़कर अपना श्रम बेचने के लिए निकले अपनी मेहनत अपनी देह नीलाम करने वाले ठेकेदार मज़दूरों की हड़ताल थी ।

'धरती धन न अपना' में काली बाढ़ के समय अपनी जान पर खेलकर गांव और फसल को बचाता है । जब बाँध को पाटने का प्रश्न उठता है तो चमार अपने परिश्रम के पैसे मांगते हैं । काली उनका नेतृत्व करता है, बायकाट चलता है, चमार फाके काटते हैं । अन्ततः चौधरी लोग बड़े नाटकीय ढंग से समझौता कर लेते हैं । डॉ. बिशनदास क्रान्ति के ठेकेदार बनते हैं, किन्तु वे भीतर से शोषक वर्ग के साथ मिले हुए हैं । इसी से शोषित वर्ग को उनकी केवल मौखिक सहानुभूति ही मिलती हैं । डॉ. बिशनदास शोषित वर्ग की सहायातार्थ न तो अनाज देते हैं और न जलसा करते हैं । इसीप्रकार उनके साथी टहलसिंह भी किताबी वर्ग संघर्ष के समर्थक हैं। वे न तो शोषित वर्ग के प्रति सहानुभूति रखते हैं और न उनकी शक्ति पर विश्वास करते हैं । गांव में रहनेवाले निम्न वर्ग और पूरी चमादड़ी सौकड़ों वर्षों से उच्च वर्णियों की गुलामी-मूलक दास्ता में संस्कारित हो चुकी है । ये वर्ग उच्च वर्णियों के हाथों अपमानित होना, उनके हाथों पिस जाना, और उन्हीं के हाथों भिक्षा ग्रहण करना अपने लिए पुण्य कर्म समझती हैं । सांस्कृतिक गुलामी की यह परंपरा

निम्न वर्ग की मानसिकता में इतनी गहरी रिस गयी है कि इसे निकालकर गुलामी की सही शत्रु की पहचान करवाना कठिन कार्य है ।

वर्ग शोषण का भीषण रूप हम 'झीनी झीनी बीनी चदरिया' में देख सकते हैं । जब मतीन सारे बुनकरों की फायदे के लिए बड़े कष्ट उठाकर सोसाइटि बनाकर बैंक में जाने पर उसे पता चलता है कि उससे पहले हाजी अमीरुल्ला ने तीस बुनकरों की नकली हस्ताक्षर करके नकली सोसाइटि बनाकर लोन लेना शुरू किया है । हाजी अमीरुल्ला को वो कुछ नहीं कर सकते, क्यों कि उनके हाथ बड़े लंबे हैं । आज़ादी के बाद हमारे देश में आम जनताओं के खासकर कृषकों और मज़दूरों के जीवन स्तर में उन्नति लाने के लिए अनेक योजनाएँ तैयार की गयी हैं। लेकिन ऐसी योजनाओं से दूसरों का जेब भर जाती है जैसे हाजी अमीरुल्ला की तरह । नौकरशाही और राजंनीतिक नेताओं को इससे फायदा है । वे दिन-ब-दिन संपन्न होते जा रहे हैं । सरकार से वे लोग बुनकरों के नाम बताकर रूपए लेते हैं और उनकी माल की आड़ में को-ओपरेटीव सोसाइटी के ज़रिए उनके माल बेच रहे हैं । सारा फायदा हड़प कर जा रहा है । लेखक ने वर्तमान भारत में चालू कराई जाने वाली परियोजनाओं पर व्यंग्य किया है ।

हाजी अमीरुल्ला करघों के स्थान पर पावरलूम्स बैठा लिया । एक साड़ी को एक बुनकर कम से कम चार दिनों में तैयार करते थे, लेकिन पावरलूम्स के आते ही एक दिन में चार साड़ियाँ तैयार होने लगीं । मामुली बुनकर के लिए यह एक बड़ी समस्या थी । और एक दूसरी समस्या कच्चे रेश्म की कीमत में हुई वृद्धि थी । जब से रेशम महंगा हुआ है लत्तीफ जैसे लोगों की साड़ियाँ गिरस्ता लोग रास्ते में ही अब नहीं जपटते और मज़बूरन इन्हें गोलधर की सोठों की शरण में जाना

पड़ता है । सेठ लोगों ने पैसे के बदले चेक देना शुरू कर दिया । चेक माने बुनकरों के लिए एक महीने का कैदा था ।

बुनकरों का सारा काम कर्ज पर चलता था । कर्ज का करघा, कर्ज़ का कतान, सिर्फ जांगर ही अपनी थी । सरकारी कर्ज़ पर तो बड़े बड़े गिरस्तों का पुश्तैनी अधिकार था । बैंक भी बड़े बड़े लोगों की सहायता करती थी । बशीर जैसे लोगों के लिए बैंक तो गिरस लोग हैं । कर्ज़ा देने में नये नये धनी हुए गिरसों को बड़ी रुची थी क्यों कि कर्ज़ के करघे पर बुनी हुई साड़ियाँ उन्हीं के हाथों बेची जाती थीं । बनारस की तरह मउ के बुनकर भी काफी पेरशान है । सरकार द्वारा बुनकरों को मिलने वाली सहायता एवं सुविधा का लाभ चन्द बिचौलिए ही उठा रहे हैं । ये बिचौलिये मिल, साइनिंग खोलकर उसमें गरीब बुनकरों से काम लेते है और इसके बदंले बहुत कम परिश्रमिक देते हैं । सरकार बुनकरों को आश्वासन देती हैं कि उनकी साड़ियों का बिकाव को-ओपरेटीव सोसाइटी सरकार के द्वारा होगी । ताकी बुनकरों को अपनी मेहनत का पूरा फायदा मिल सके । लेकिन बीच में ये जो हाजी साहब लोग हैं इन्होंन सारा कानून अपनी मुट्ठी में बन्द कर रखा है । मतीन का बेटा इकबाल इसके खिलाफ लड़ता है । बुनकरों के शोषक केवल गिरस्त अर्थात साड़ियों के व्यवसायी ही नहीं बल्कि वे सरकारी संस्थाएँ भी हैं, जिन्होंनें बुनकरों का हित स्थापित किया है ।

भूमण्डलीकरण के वर्तमान दौर में भारत के किसान, मज़दूर खासकर आम जनता की स्थिति बहुत दयनीय हो गई है । इसकी ओर प्रकाश डालने का महत्वपूर्ण कार्य समकालीन उपन्यासकार ने अपने आंचलिक उपन्यासों के ज़रिए किया है ।

राजनीतिक शोषण :

आज की ज़िन्दगी का हर स्तर राजनीति का इतना गहरा दबाव झेल रहा है कि राजनीतिक समझ के बिना सामाजिक जीवन की समझ ही संभव नहीं रह गई है । आज जन साधारण का राजनीति से कटकर रहना न तो संभव ही है और न ही उचित । जाति, जनजाति और धंधा केन्द्रित आंचलिक उपन्योसों के अध्ययन से एक बात ज़ाहिर होती है कि हाशिए पर पड़े लोगों का शोषण ही ज़्यादा हो रहा है । वह भी राजनीति के क्षेत्र में । जनजाति चाहे संथाल हो, उरांव हो, थारू हो या भील सब की स्थिति एक जैसी ही है । इस राजनीतिक शोषण के पर्दे को फाश करने का कार्य समकालीन आंचलिक उपन्यास में हुआ है ।

पुराने समय से आज तक आदिवासियों का शोषण होता रहा है । पुराने समय में ज़मीन्दार और रियासतों के राजा शोषण करते थे । आज इनका स्थान राजनीतिक नेता लोगों ने अपना लिया है । सभी लोग अपराधियों के प्रति घृणा दर्शाते हैं । लेकिन कोई यह नहीं सोचते हैं कि ये किन परिस्थितियों के दबाव के तहत ये लोग अपराधी वृत्ति अपनाते हैं । कोई भी जाति और जनजाति का आदमी जन्म से अपराधी प्रवृत्ति का नहीं होता बल्कि परिस्थितियाँ ही उसे अपराध करने के लिए बाध्य करती हैं । एक्स क्रिमिनल ट्रैब्स ऑफ इंडिया में कबूतर जनजाति को अपराधी करार दिया गया है । कबूतर जाति अनेक ढोकरें खाते हुए ज़िन्दगी बसर करते हैं । 'अल्मा कबूतरी' में जब मंसाराम और लल्लूराज प्रधान पद के लिए खड़े होते हैं तब मंसाराम की चिन्ता कबूतरों को लेकर हैं । क्यों कि उन्हें मालूम है कि कबूतर बहिष्कृत और अपराधी करार दिये जाने पर भी वोटर है और उनके दम पर वह प्रधान बन सकता है । तब उसे लगा कि उनके खेत में

कबूतरा नहीं वोटों की फसल लह लहा रही हैं । रोटी, कपड़ा और मकान का सपना पालनेवाला कबूतराओं को वोट के लिए झूठी वादा देकर वश में करना मंसाराम के लिए आसान था ।

चुनाव के समय नेता बेरोज़गार युवकों को पैसों का प्रलोभन देकर उनसे अनैतिक कार्य करवाते हैं । युवक जो देश का भविष्य हैं उन्हें अंधकार में ढकेलने का कार्य नेता किया करते हैं । सूरजभान का यह कथन इन बातों की पुष्टि करता है । यथा - 'तुम पढ़े लिखे लड़के हो, फुर्तीलो हो और ताकतवर हो, दंगों का सीज़न चल रहा है । तुम्हारी हमें ज़रूरत है । अभी हमारे पास छँटनी और भरती का समय था, क्यों कि चुनाव अभियान छः महीने में निश्चित ही चलना होगा।"[1] चुनाव के समय अफसरों व विपक्षी दल के लोगों को अपनी तरफ करने के लिए पैसे के साथ साथ ये नेता गर्म मांस के तौर पर लड़कियों को परोसने से भी पीछे नहीं हटते। अल्मा समय की मारी ऐसी ही लड़की है जो विपक्षी दल के नेता सूरजभान के चंगूल में फंस जाती है । वह उसे नेताओं के आगे परोसने के लिए बन्धक बनाकर रखता है ।

श्रीराम शास्त्री अपने स्वार्थ के लिए ही अल्मा को पत्नी के रूप में रखता है, क्यों कि चुनाव क्षेत्र में कबूतरा बस्ती ज़्यादा है । जातिगत राजनीति किसी भी समाज के लिए शुभ संकेत नहीं है । वर्तमान राजनीति जातीय राजनीति है । श्रीराम शास्त्री सूरजभान के बेरहम व्यवहार के बाद भी यही सोचता है कि चुनाव में वे ही जीते क्यों कि वे अपनी बिरादरी की है । सूरजभान की भी यही मंशा रहती

---

1. मैत्रेयी पुष्पा - अल्मा कबूतरी - पृ . सं :275

है कि श्रीराम शास्त्री विरोधी पार्टी में है तो क्या अपने वर्ग का है । यथार्थ यह है कि आज राजनीति में जाति का बोल बाला है । वर्तमान समीकरण यह बन चुका है कि बिना जाति को आधार बनाए चुनाव जीतना असंभव ही दिखाई पड़ता है । राजनीति भी आज भ्रष्टाचार से अछूती नहीं है । प्रत्येक नेता भ्रष्ट है । अनुचित से अनुचित साधनों का प्रयोग कर किसी प्रकार कुर्सी प्राप्त करने की प्रतिस्पर्धा प्रत्येक नेता में देखी जा सकती है ।

राजनीति में स्थान मिलने की योग्यता आजकल आतंक है । सूरजभान को राजनीति में इसलिए बड़ा पद मिला क्यों कि वे कांग्रेसी सभा में बम फोड़ा था। परसराम को पार्टी में पदवी तब मिली जब उसने बीजेपी के दो नेताओं को चाकू से हलाल कर दिया था । आजकल राजनीतिज्ञ मंत्री बनने के लिए मन्दिर तुड़वाने की पेशागीं जेब में लिए घूमते हैं । इन लोगों के बीच गाँधीवादी विचार धारा को लेकर जीनेवाला एक पात्र भी है धीरज के दद्दा । धीरज कहना है कि आजकल की कांग्रेस की स्थिति छोटे बच्चे को भी मालूम है । क्यों कि स्थिति इतनी बिगड़ गयी है कि आज़ाद के लिए लड़े राजनीतिज्ञ आज वीर स्मृतियाँ हो गये हैं । उन लोगों के जैसे नेताओं का पुनर्जन्म कभी नहीं होगा ।

शोषण की प्रक्रिया कई स्तरों पर चलती है । आर्थिक, समाजीक, सांस्कृतिक और राजनीतिक हर स्तर पर संथालों को अत्याचार, गैर बराबरी और दमन का सामना करना पड़ता है । 'धार' में इसी यथार्थ को कथा का आधार बनाया है । पीर टाँड, जादूखेड़ा, मदनपुरा, गोमुहानी, कदाडीह, बांसगड़ा आदि पचासों गांवों का उजाड़पन आदिवासियों को अलग अलग रंग के झंड़े के नीचे खड़ा किया हैं । लेकिन आदिवासियों की नियति में कोई फर्क नहीं आया है ।

अब भी ठेकेदार उन्हें ढ़ोर-ढाँगरों की तरह काम कराने के लिए हाँक कर ले जाते है, और चूसकर छोड़ देते है । माफिया अब भी उनसे चोरी से कोयला कटवाते हैं और पकड़े जाने पर सज़ा भी उन्हीं की होती है । बड़े जोतदार अमानुषिक श्रम कराकर ज़रा ज़रा सी बात पर पीटते है । "क्या कर रही है पार्टियाँ ? क्या कर रहे है झंड़े ? .....और खुद वे ही क्या कर रहे है ? गांव के गंव उजड रहे है और दल के दल माफिया उभार रहे है ।"[1] उनकी पुकार सुननेवाला कोई नहीं । वोट, चुनाव के अवसर पर उनकी पुकार सुनते है और जल्दी ही खत्म भी होते है ।

बीत चुकी बीसवीं सदी के प्रारंभिक वर्षों में सरगुजा के जंगली इलाके के अनजान, आदिम अंधकार में गिरे महेशपुर जैसे असंख्य भारतीय गांवों में घटित हो रही आज की मौजूदा राजनीति और बाज़ारवाद का चित्रण तेजिन्दर ने 'कालापादरी' उपन्यास में किया है । धर्म का राजनीति मे हस्तक्षेप बढ़ता ही जा रहा है । धर्म राजनीति का हथियार हो गया है । इसका शिकार होते है निरीह लोग। बिशप बीजेपी और कांग्रेस के रूख जानने के बाद अपने पैंतरेबाजी को रूपायित करने के पक्ष में है । वे कहते हैं - "लैट दम गैट एक्सपोस्ड फर्स्ट, लैड दम स्टेट दैट दै हैव फेलड, लैट द हिन्दू फंडमैंटलिस्ट गवर्नमेंट से ओपनली दैट दे आर बिज़ी इन द कन्स्ट्रक्शन ऑफ टैम्पल एंट अयोध्या एण्ड दे हैव लो टाइम फॉर द स्टारविंग पीपल एंट सरगुजा, ओनली दैन वी शैल टू मेक द डिस्ट्रिब्यूशन ऑफ राईस एन इंटरनेशनल इवेंट माई सन"[2] भूख एवं गरीबी का फायदा उठाकर अपने अनुयायी बनाने वाले धार्मिक नेतोओं की आन्तरिक राजनीति की पोल यहाँ खोल

---

1. संजीव - धार - पृ. सं : 129
2. तेजिन्दर - कालापादरी - पृ. सं : 123

जाती है । धर्म प्रचारक भूखों को अनाज देकर उन्हें अपना अनुयायी बनाना चाहते हैं तो सत्ता केन्द्रित राजनीति के लिए ये लोग सिर्फ वोट बैंक है ।

सरगुजा लोक तंत्र का सबसे सस्ता सामंतवादी संस्करण है । राय साहब के सामने इलाके के मंत्री तक चापलूसी करने के लिए शामिल थे । महात्मा गांधी के चित्र देखकर भ्रष्टाचार पर व्यंग्य करते हुए जेम्स खाखा कहते हैं कि 'दिस पुअर ओलड़ मान हैज़ बीकम गॉड ऑफ आल करप्ट गवर्नमेंट ऑफिसेज़"[1] जेम्स गांधीजी के तत्वों को कभी स्वीकारते नहीं है उनका दावा है कि गांधिजी ने अछूतों के आधिकारों को राजनीतिक तौर पर दबाने की कोशिश की थी । पार्टी के लोगों ने उरांवों को इतना बहकाया है कि गांव के छोटे बच्चे तक सोनिया गांधी को मरियम की भेजी हुई देवी मानकर पूजा करती हैं ।

स्वतंत्रता पूर्व जब आदिवासी शब्द का प्रयोग किया जाता था तब उनके दीन हीन शोषित तथा उपेक्षित व्यक्ति का चित्र उभरकर आता था । लेकिन आदिवासी शब्द राजनेताओं और गैर सरकारी संस्थाओं के लिए अनंत संभावनाओं का उत्स बन गया है । आदिवासियों का शोषण केवल बाहरी तत्वों द्वारा ही नहीं अपितु आदिवासियों के नेता कहे जानेवाले लोगों द्वारा भी हुआ है । इसका उल्लेख 'हस्तक्षेप' में किया है । आज राजनीति के लोग संस्कृति के शब्द को बनाये रखने की कोशिश में है । क्यों कि उन्हें किसी ने समझाया है कि जब तक भारतीय संस्कृति की तरक्की नहीं होती इस मुल्क की भी तरक्की नहीं होगी । आदिवासियों की संस्कृति को बनाये रखने के लिए प्रयत्न करने वाले डॉ. चौधरी हरसाल इसी

---

1. तेजिन्दर - कालापादरी - पृ. सं : 14

संस्कृति के नाम विदेश यात्रा कर रहा है और जो राजनीति के बाहर है वे लोग भी आदिवासियों के लिए कुछ करके राजनीति में शामिल होकर वोट बटोरना चाहते हैं । जिस संस्था के नाम के आगे आदिवासी शब्द लगा हो उस संस्था में किसी महत्वपूर्ण पद पर किसी आदिवासी को बैठा देते है । यह तो एक राजनीतिक गणित है । राजनीतिक गणित तो बहुत पुराना गणित है । हर युग में इसका प्रयोग होता रहा है। "राजनीति का क्षेत्र तो इनके लिए सुरक्षित होता है जो अवसरवादी और परिणामवादी होते हैं । सच्चे कर्मठ व्यक्ति राजनीति के क्षेत्र का चुनाव कभी नहीं करते । यहाँ तो ले और दे का गणित चलता है ।"[1]

'जंगल जहाँ शुरू होता है' में जनतन्त्र व विकास के लाभों से वंचित सामन्ती व सरकारी गठजोड़ व उत्पीड़न के शिकार हाशिए की लोगों की दर्दनाक दास्तान है । राजनीति सर्वथा डकैतों को बढ़ावा देती है । केन्द्रीय मंत्री दूबेजी डाकुओं की सहायता से चुनाव जीतते हैं ।

फिर वे डाकुओं को सहारा देते हैं । राजनीति और प्रशासन का अपराध की दुनिया से गठबन्धन का खुलासा केन्द्रीय मंत्रीजी के शब्दों में यूँ द्रष्टव्य है - "ऊ डाकू ठहरे और हम ठहरे मन्त्री उसी सरकार के मन्त्री, जो डाकू मरवाने पर ईनाम देगी - ऑपरेशन ब्लैक पाइथन ! और ऊ जो पुलीस के अपीसर लोग आए है, उन्हीं पर ये ज़िम्मेदारी है डाकू मारने की ।"[2] यहाँ राजनीति डकैत उन्मूलन का दिखावा करके उसे खाद डालती है । हर पार्टी का गुप्त रूप में जंगल पार्टी से

---

1. श्रवणकुमार गोस्वामी - हस्तक्षेप - पृ. सं : 232
2. संजीव - जंगल जहाँ शुरू होता है - पृ. सं :36

रिश्ता है । लेखक राजनीति के अपराधीकरण को गहराई से पेश करते हुए उसकी परतों को खोलने का संकल्प करते हैं । संजीव का यह उपन्यास समकालीन सफेद पोश मंत्रियों की पोल खोलता है । आज राजनीति में माफिया, तस्कर और डाकू आगए हैं । यकीनन ही राजनीतिक पतन एवं व्यवस्थागत विसंगतियों का विस्तृत चित्रण आलोच्य उपन्यास में हुआ है ।

विशेष धंधे को लेकर जीनेवाले गरीबों का रक्त चूसने वाला राजनीतिक शोषक भी हमारे समाज में है । इसका उदाहरण हमें डॉ. रामन नायर का 'सागर की गलियाँ' और अब्दुल बिस्मिल्लाह का 'झीनी झीनी बीनी चदरिया' उपन्यासों से मिलते हैं । 'सागर की गलियां' का नायक करुप्पन गांधिजी के आदर्श को लेकर चलनेवाले है । वह कांग्रेस के साथ रहकर अपनी बस्ती की भलाई करना चाहता है । तुरुत्त के लोगों को राजनीति का मतलब तक मालूम नहीं है। ऐसे लोगों का शोषण करना बाहर के राजनितिज्ञों के लिए आसान की बात है । चुनाव के समय नेता गण आकर तुरुत्त के मूप्पन को पैसा और तरह तरह की शराब देते हैं, बदले में वे लोग वोट माँगते हैं । वोट के दिन बूथ में जाकर नेता लोगों के कहने की मुताबिक किसी नेता को छापा देकर वापस आता है । उनका पार्टी से और राजनीतिक दाव पेंच से इससे बढ़कर कोई वास्ता नहीं है । चुनाब के बाद यह वास्ता भी समाप्त होता है । राजनीति में, प्रशासन में, अधिकारी गणों में भ्रष्टाचार फैल गया है । पुलिस मंत्रियों के नौकर चाकर बन रही है । "जिनके पास सौ गुंड़े हैं वह पंचायत चैयरमान बनेगा .....जिसके पास हज़ार गुंड़े है वह एम. पी. और जिसके पास सहस्रों गुंड़े है वह मंत्री।"[1] लेखक नेता की परिभाषा इसप्रकार देते हैं

---

1. डॉ. रामन नायर- सागर की गलियाँ - पृ. सं : 145

कि "आजकल नेता का अर्थ है पराये का कमाया हुआ खानेवाला, दूसरों पर जीनेवाला, परजीविगण"[1] काम न करके सुख से जीना आजकल की राजनीति की बहादुरी है । राजनीति में अपराधीकरण, मूल्यहीनता तथा नीति विहीनता की प्रचुरता मिलती है ।

राजनीति का अपराधीकरण 'झीनी झीनी बीनी चदरिया' उपन्यास की और एक समस्या है । इसमें बी. एच. यू के छात्र संघ चुनाव और विधान सभा चुनाव का चित्रण भी है । अमीरुल्लाह का कहना है कि सरकार में हमारे व्यक्ति होना चाहिए ताकि हमारे कार्य में कोई बाधा न आ सके । राजनीति से जुड़े लोगों के लिए कोई समस्या होती ही नहीं । राजनीति और खानदानी एक दूसरे से मिले जुले हैं । दुर्गा पूजा के अवसर पर जब गली में हिन्दू और मुसलमानों बीच सांप्रदायिक दंगे होते है, तब सरकार कर्फ्यू की घोषणा करते हैं, लोग बिना पानी और खाने से मुश्किल में पड़ जाते हैं । इस अवसर का फायदा उठाकर अल्ताफ और शरफुद्दीन घर घर जाकर खबर लेते हैं और सांत्वना देते हैं क्यों कि उन्हें इलेक्शन में अपनी मार्किट वैल्यू बढ़ाना है । शरफुद्दीन एम.एल.ए बन जाने के बाद उनके घर शोहदों, गुंड़ों, लफंगों, नव विदूषकों, नव चारणों, लफाफाज़ों और तरह तरह के अपराध कर्मियों की भीड़ लगने लगती है । अब शरफुद्दीन एम.एल.ए का काम है फॉन डायल करके किसी को थाने से छुडवाना, बन्द करवाना, ट्रांसफर करवाना, रुकवाना, नौकरी छुड़वाना, दिलाना आदि । इलेक्शन में जीत किसी के भी हो लेकिन शोषण हमेशा निम्न लोगों का ही होता है ।

---

1. डॉ. रामन नायर- सागर की गलियाँ - पृ. सं : 190

'शैलूष' में लेखक ने लोहिया के प्रति लगाव को इधर उधर प्रकट किया है । 'धरती धन न अपना' में बिशनदास एक ऐसा पात्र है वह अपने आप को बड़ा कम्यूनिस्ट मानता है, लेकिन उनके आदर्श सब मूँह में रहते हैं । उनकी राय में गरीबी दूर करने का रास्ता इन्किलाब है । आज के समाज में राजनीति की बड़ी पहूँच है । राजनैतिक खोखलेपन और शोषण नीति को लेखक ने व्यंग्यात्मकता के साथ इस उपन्यास में चित्रित किय है । लेखक को न किसी विशेष दल के प्रति लगाव है, न ही किन्हीं विशिष्ट नारों से । उन्होंने कॉमरेड टहलसिंह और बिशनदास के माध्यम से आज के राजनैतिक क नेताओं की वास्तविक मानसिकता को स्पष्ट किया है ।

समकालीन आंचलिक उपन्यासों के ज़रिए लेखक ने राजनीतिक गन्दगी को उपन्यास में नंगा करते हुए दिखाया है कि राजनीतिक दाव पेंच आज किस रूप में हाशिए पर पड़े लोगों के सामाजिक नींव को खोखला बना दिया है ।

नारी शोषण :

हम बड़े गर्व से कहते हैं कि यह नारी जगरण क युग है । नारी मुक्ति आन्दोलन चल रहा है । नारो को पुरुष से नहीं बल्कि शोषण से मुक्ति चाहिए । नारी का शोषण करने वाला सिर्फ पुरुष ही नहीं, समाज की हरेक इकाई उसका शोषण कर रही है । भारतीय गांव और शहरों में ही नहीं निम्न व जनजातीय महिलाओं का जीवन भी विषादपूर्ण है । ये महिलाएँ सभ्य कहनेवाले समाज के हाथों की कठपुतलियाँ है ।

मुस्लिम समुदाय में औरतों की स्थिति बहुत दयनीय है । आधिकांश अशिक्षित है। वे पर्दों के भीतर जीने के लिए अभिश्प्त है । 'झीनी झीनी बीनी चदरिया' में औरत के प्रति लत्तीफ का दृष्टिकोण यह है 'औरत का और इस्तेमाल ही क्या है ? कतान फेरे, हाड़ी चूली करे, साथ में सोये, बच्चे जने और पांव दबाएँ।"[1] स्त्री को केवल पुरुषों की सेवा के लिए बनाई गयी है । उन्हें कोई अधिकार नहीं है । तलाक बनारस के बुनकरों की बिरादरी में आम बात है । औरत जात को बुनकरों की बिरादरी में कोई हैसियत नहीं है । बिरादरी में महर नामक एक संप्रदाय है । यह रकम पुरुष पक्ष बहुत कम देते है क्यों कि वे आसानी से तलाक दे सके । जब रेहनवा के ऊपर हाजी साहब के बेटे शरफुद्दीन बलात्कार की कोशिश करता है तब सब लोग दोषी रहनवा को ठहराती हैं । इस घटना के बाद उसकी मानसिक संतुलन खो जाता है ।· उसे ववविश होकर पांच बच्चों के बाप लत्तीफ से विवाह करना पड़ता है । बनारस की औरतों की ज़िन्दगी कतान में बन्द है तो मऊ की औरतों की ज़िन्दगी करघे में । जिस बनारस साड़ी को बुनकर लोग खून पसीना एक करके अपने मेहनत और फन से तैयार करते हैं, वह सिर्फ देखने का मात्र आधिकार है बुनकरों की स्त्रियों को। बुनकरों की स्त्रियों को घर-गृहस्थी के साथ साथ बिनकारी की भी काम करना पड़ता हैं । दोनों ओर से उन्हें पिसना पड़ता है । कतान फेरते फेरते इन बुनकरों की स्त्रियाँ अधिकतर क्षय की शिकार हो जाती है ।

'शैलूष' में नटों के पुरुष अन्य गांवों में नाच गाने दिखाने के लिए जाते हैं तब ताड़ी पीकर मस्त रहते हैं और बेचारे नटों की स्त्रियों का यौन शेषण वहां

---

1. अब्दुल बिस्मिल्लाह - झीनी झीनी बीनी चदरिया - पृ. सं : 44

के नौजवान और अन्य लोग करते हैं । पहले नटों के बीच की स्त्रियाँ साफ सुथरे नहीं थी, उस वक्त कोई उनकी तरफ देखना भी पसन्द नहीं करते थे । सब्बो मौसी के प्रयत्न से कबीला के सारे नट्टिनें साफ सुथरे और सभ्य बन गयी हैं । रूपा इन नट कबीलों के बीच का एक ऐसा शक्स है जो मर्दों को छूरे के नोक पर नचाती है, उसके स्थान पर अन्य कोई लड़की होते मर्दों के उपद्रव से बचने के लिए झोंपड़ी में भूख से मर जाना अच्छा समझती थी। वह सिर्फ एक नट कन्या ही नहीं अत्याचार के खिलाफ जेहाद बोलनेवाली पलीता है । सब्बो मौसी इस वाक्य पर विश्वास करती है कि "हर औरत मर्द के बराबर की हकदार है।"[1] सब्बो मौसी एक ऐसा पात्र है जो नट जीवन के नियोजन का सफल संचालन करती है । उपन्यास की शुरूआत से लेकर अन्त तक इस जरायमपेशा और खानाबदोश ज़िन्दगी बितानेवाले कबीलों को सभ्य बनाकर समाज में एक स्थान दिलाने की कोशिशि सब्बो मौसी करती रहती है ।

'धरती धन न अपना' में नैतिक संकट और यौन विकृति को भी उभारा गया है । चौधरियों में सत्ता और संपत्ति का अहंकार है, इसलिए चमारिनों को भोगना उनका खेल है । चौधरी हरनामसिंह, हरदेव, दिलसुख आदि प्रीतो, लच्छो, पाशो आदि चमारिनों को बलात्कार करते हैं, यह चमार वर्ग की विवश नियति बन जाती है । पंड़ित संताराम चमारिनों को अपने कुँए से पानी भरने नहीं देता, पर अपनी कामवासना का शिकार बनाते हैं । ज्ञानो और काली एकदूसरे से प्रेम करते थे, लेकिन एक ही जाति के होने के कारण चमादड़ी गांव उनके प्रेम के खिलाफ

---

1. शिवप्रसाद सिंह - शैलूष - पृ. सं :46

थे। जब जस्सो को पता चलता है कि ज्ञानो गर्भवति है तब उसकी गर्भ गिराने की बहुत कोशिश करता है । कोशिश विफल हो जाने पर अन्त में उसे विष देकर मार देता है । गांव में हर प्रेम की मारी मटियार का गर्भवति होने के बाद यही हाल होता था । और ऐसी मुटियार की माँ की चीखें बहुत करुण भरी होती थी क्यों कि उनमें बेटी के पाप के साथ उसके अपने पाप का पछतावा भी शामिल होता था ।

'सागर की गलियां' में कालियम्मा, वेलुतम्मा, वल्ली आदि नारी पात्र पंरपरागत मछुए नारियों का प्रतिनिधित्व करती हैं। उनमें साहस, कर्तव्य परायणता और नैतिकता विद्यमान है । चात्तु की सहयोगी लक्ष्मी और बहन सरसू जैसे पात्रों को लेखक स्वेच्छाचारिता और यौन आसक्ति से युक्त चित्रण किया है । लेकिन लक्ष्मी में कुछ गुणों को भी लेखक दिखाया है, जब वह अकेले जानकर कुछ लोगों ने उस पर बलात्कार करने की कोशिश की तब वह अस्पताल जाकर अपनीं माँ बनने की क्षमता समाप्त कर देती है । क्यों कि मछुआरों की बिरादरी में अगर कोई विधवा गर्भवति हो जाए तो उसका सिर मुंड़न करके देश से निकाल दिया जाएगा। लक्ष्मी का बलात्कार करने वाला मुहम्मद को वह मार मारकर भगा देती है।

आदिवासियों की स्त्रियाँ पुरुष से कम नहीं है, वह अकेले जंगल में शिकार करती हैं । 'गगन घटा घहरानी' में चित्रित आदिवासी जन अपने स्त्रियों को गुलाम बनाकर नहीं रखते । वे सिन्दूर भी नहीं लगाती । वे मर्द के पीछे पीछे नहीं साथ साथ हाथ में हाथ डालकर चलती है। लेखक सिन्दूर को गुलामी लपलपाता चिन्ह मानते हैं। लेखक के अनुसार सिन्दूर का अर्थ ब्याहता है, किसी का एकाधिकार है उसपर, किसी से हंसने बोलने का अधिकार छिन जाता है उससे । आदिवासी औरतें इज़्ज़त के मामले में बड़े कठोर होती हैं, हीरामनी अपने ऊपर

बलत्कार करनेवाले मुच्चड़ सिपाही के हाथ को दांत से काटकर रख देती है । उतना साहस है उनमें ।

'जंगल जहाँ शुरू होता है' में थारू जनजाति औरतों पर डाकुओं की और पुलिसों की शेषण चित्रित किया गया है । वास्तव में नारी ही तमाम धार्मिक शेषण का शिकार बनती है। पुलिस, डाकू व ज़मीन्दार उसे प्रताड़ित एवं प्रवंचित करते हैं । अपनी पत्नी की सुन्दरता बिसराम को डराती है । क्यों कि डाकुओं को खाना बनाकर ले जाने का काम बिसराम बहु को विवशतावश करना पड़ता है । जानमारू डाकुओं की आवश्यकताएँ ये अभागे जनजाति मना नहीं कर सकते थे। पुलिस बिसराम बहू को ले जाकर पूरी रात उसे जेल में रखकर उसकी पिटाई और यौन शेषण करते हैं । पुलिसों का जंगल में काम करने का एक मात्र प्रेरणा भोले थारू औरतों का देह हैं । थारू औरतों का यह अभिशांप है कि उसे एक ओर पुलिस की हवालत व मारपीट झेलनी पड़ती है तो दूसरी ओर डाकू व सेठ साहूकारों के बलात्कार की शिकार । पुरुष ही नही स्त्री भी स्त्री का शेषण करती है । जोगी के साथ मिलकर सोखाईन नामक स्त्री भी औरतों की सौदे बाजी गाय भैंस की तरह करते हैं । 'ये आँख देखो, ये नाक, कान लिलार, गर्दन, कोई दाग नहीं, एकदम निर्दोष, ये पेट देखो, पुट्ठा देखो, ये थन, यहाँ किसोरी तनिक सिकुड़ गयी थी । गाय गोरू भी ऐसे में सिकुड़ जाते है।"[1] जोगी हमेशा बिकने के लिए ले जाने वाली लड़कियों को बेटी कहकर बिकते थे, अन्त में इसकी अपनी बेटी भी बिकी जाती है । सभी को औरत चाहिए, मौका मिलने पर भेड़िए की तरह

---

1. संजीव - जंगल जहाँ सुरू होता है - पृ. सं : 212

उसके ऊपर झपड़ पड़ते है "औरत किसे नहीं चाहिए? कोई बोलता, कोई नहीं। बस ऊपरी के लोकलाज का एक छिलका भर है, मौका मिलने पर कोई नहीं छोड़ता।"[1]

सांस्कृतिक कार्यक्रम का नाम बताकर आदिवासी लड़कियों का यौन शोषण करने वाले एक समाज का पर्दा फाश करता है 'हस्तक्षेप' उपन्यास। आदिवासी महिला छात्रावास में जो भी आती है वह सरकारी अधिकारियों को उपकृत करने के लिए और अनुचित लाभ उठाने के लिए ही आते हैं । देश में महुआ चक्रवर्ती जैसे दबंग युवतियों की आवश्यकता है । वह चाहती हैं कि "नारी केवल पुरुष के अत्याचार सहते रहने की आदत न डाले, बल्कि वह विरोध करना भी सीखे । यदि जरूरत हो तो उसे झांसी की रानी की तरह हथियार उठाने से भी नहीं चुकना चाहिए"[2] लोग आदिवासी महिलाओं के छात्रावास से लड़कियों को ले जाकर उच्चाधिकारियों और मंत्रियों के सामने पेश करते थे । आदिवासी लड़कियों को इन लोगों के सामने नाचना होते हैं । सब से दुःख की बात यह है कि इस घिनौने कार्य में केवल गैर आदिवासी ही शामिल नहीं है, बल्कि उस इलाके के अधिकांश आदिवासी युवक महिलाएँ और राजनीतिज्ञ भी शामिल हैं । आज की उपभोक्तावादी संस्कृति में आदिवासी और उसकी संस्कृति उपभोग्य बन गया है । आदिवासी स्त्रियों के नंगेपन को बेचकर डॉ.सक्सेना बड़ा आदमी बन गया था । डॉ. सक्सेना ने ओंगी जनजाति के आध्ययन करने हेतु उनके बीच रहकर उन जनजातियों के

---

1. संजीव - जंगल जहाँ शुरू होता है - पृ. सं :212
2. श्रवणकुमार गोस्वामी - हस्तक्षेप - पृ. सं : 56

नंगेपन के फिल्म बनाकर बेचा । इस काम के बाद वे करोड़पति बन गये। नेताज़ी और रहमअली भी यही काम लाभ समझकर शुरू किया हैं ।

आदिवासियों का शोषण करने वाले आदिवासी संस्कृति का अर्थ यहीं मानते हैं कि आदिवासी युवकों और युवतियों को सब के सामने नचाओ और गंवाओ । औरत भी औरत के ऊपर ज़ुल्म करती है । डॉ. सीमा जैसे रिपोर्टर झूठी खबरें अखबार में देती है । महुआ बलात्कार का शिकार होती है तब समाज के सामने सच कहने में कभी हिचकती नहीं है । मंत्री उसकी इज़्जत की कीमत दस हज़ार कहकर घोषित करते हैं । 'औरत का शरीर बेचने वाला यह समाज कभी चुप नहीं बैठ सकता । कभी यह औरत को बेचता है चित्र के रूप में, कभी वह बेचता है सौन्दर्य प्रतियोगिता के नाम पर, कभी वह बेचता है सहानुभूति प्रदर्शित करने के बहाने । और कभी वह बेचता है संस्कृति कर्म के हील से "[1] औरत को हर युग में बिकाऊ ही माना जाता रहा है । आज तो शायद कीमत की दृष्टि से बाज़ार में सबसे सस्ती और महंगी वस्तु औरत ही है । पुरुष प्रधान समाज की मानसिकता जहाँ दोषी है वहाँ नारी की मानसिकता भी उससे कही ज़यादा दोषी है, जो अपने शरीर और सौन्दर्य का व्यापार अधिक से अधिक कीमत प्राप्त करना चाहती है । नारी का सबसे बड़ा शत्रु यदि कोई है तो वह स्वयं नारी ही है। इस नारीघाती, शिशुघाती और बलात्कारी समाज से लड़ने के पहले नारी को स्वयं नारी से ही लड़ना होगा । अगर वह इस लड़ाई में जीतती, तभी वह इस समाज को भी बदला सकती है । अन्यथा कभी नहीं ।

---

1. श्रवणकुमार गोस्वामी - हस्तक्षेप - पृ. सं : 232

'अल्मा कबूतरी' उपन्यास का आरंभ ही कदम् के बलात्कार से शुरू होता है । कदम अपने पति जंगलिया के इंतज़ार में इतना डूबा था कि अपने पास यौन संबन्ध करने वाले व्यक्ति को न पहचाना । वास्तव में यह एक बलात्कार ही था । कदम ने तो मन में अपने पति समझकर ही मंसा के साथ मैथुन किया था। लेकिन मंसा ने जानबूझकर फायदा उठाकर कदम पर बलात्कार किया । पुलिस का व्यवहार इन महिलाओं के प्रति और भी अधिक शर्मनाक होता है । पुलिस के आदमी ही इनकी गरीबी व विवशता का फायदा उठाकर इनका शारीरिक शोषण करते हैं । इनकी बस्तियों में पुलिस का हमला होने पर कबूतरियों खेतों या जंगलों में भाग जाते हैं, क्यों कि पुलिस के हमले के बाद इन औरतों पर अपना तन छुपाने के लिए कपड़े भी नहीं होते वे तार-तार हो चुके होते हैं । स्त्री चाहें कबूतरी हो या कज्जिन शोषण उनका हर हाल में होता है । अन्तर सिर्फ इतना है कि कबूतरियों का शोषण खुलोआम होता है तो कज्जिनों का चार दीवारी के अन्दर। अल्मा अनेक प्रकार व अनेक लोगों द्वारा शोषित व पीड़ित होती है, किन्तु उसके सहन करने की शक्ति अभूतपूर्व है । जीवित रहने की जिजीविषा उसे लगातार संघर्ष करने की प्रेरणा प्रदान करती रहती है । जिसके बल पर वह श्रीराम शास्त्री की मृत्यू के बाद उसकी सीट की उम्मीदवार घोषित हो जाती है । भूरी भी एक शक्ति स्वरूप नारी का प्रतिरूप है । वह स्वयं अपने अपमान सहकर भी अपने बेटे राम सिंह को पढ़ाकर समाज में इज़्जत दिलाने की कोशिश करती है । विद्या के आगे वह अपने देह की भी परवाह नहीं करती है । कबूतर बस्ती की सबसे पहली माँ थी भूरी, जिसने बेटे को कुल्हाड़ी, डंडा न थमाकर पोथी पाटी पकड़ायी । इसी कारण से उसे बिरादरी ने बाहर कर दिया था । लेकिन वह अपनी प्रतिज्ञा पर अड़िग रहा।

'धार' उपन्यास के द्वारा संज़ीव मैना नामक एक सशक्त नारी पात्र से हमारा परिचय कराता है । जेल में जेलर साब ने मैना के साथ जबर्दस्ती की थी उसी खातिर मैना को एक बच्चा भी मिला। लेकिन मैना जेल से छूटते ही उस बच्चे को जेलर साहब के मूँह पे मार के बाहर आयी । उनके अनुसार जो पाप करता है उसका फल भी वही भोगे । ऐसा साहस हमें कहीं अन्य स्त्रियों में देखने को नहीं मिलेगा । संथालों के रीति-रिवाज़ों से भिन्न होकर अपनी जीविका चलाने वाला एक निड़र युवती थी मैना । शर्मा बाबू मज़ाक में मैना के बारे में कहती हैं कि 'न तुम्हारा रूप सौंतालों से मिलता है, न रंग, न भाषा, न आचरण, तुम किसी और ही नस्ल की हो, उस नई नस्ल की जो अपनी मिट्ठी - हवा पानी से उखड़कर देश के महानगरों और औद्योगिक कस्बों की तलचट बनी जीने को अभिशप्त है, जिनका न ठाँव है न ठिकाना।"[1] मैना और उसकी माँ दोनें ने ही तेजाब की फैक्टरी के खिलाफ लड़ाई लेकर सजाएँ भोगीं । जेल से छूटने के बाद भी मैना का संघर्ष खत्म नहीं होता । जनमोर्चा के अविनाश शर्मा और अन्य लोगों के साथ मिलकर वह फैक्ट्रीके विरुद्ध आंदोलन चलाए रखती है। भूखमरी और बदहाली के मारे आदिवासी न चाहते हुए भी महेंद्र बाबू, पंडित सीतरामा जैसे शोषकों के चंगूल में फंसते जाते है । पराजय और हताश के दौर में मैना बिलकुल अकेली रह जाती है।

समकालीन आंचलिक उपन्यास आदिम जनजातियों के महिलाओं, अनुसूचित जाति के महिलाओं और विशेष धंधे को लेकर जीनेवाले महिलाओं के शोषण का विभिन्न रूप हमारे सामने प्रस्तुत करते हैं । इससे एक बात स्पष्ट हो

---

1. संजीव - धार - पृ. सं : 110

जाती है कि स्त्री गांव की हो या शहर, जनजाति की हो या अनुसूचित जाति की शोषण हमेशा एक जैसा ही होता है । शोषकों के रूप में ही बदलाव आता है । आज स्त्री कामपिपासा का साधन मात्र है । नारी शोषण के विभिन्न रूप चित्रित करने के साथ साथ नारी की बदलती चेतना को भी लोखकों ने व्यक्त किया है ।

पारिस्थितिक शोषण :

भारत जैसे घनी आबादी और दूर दूर तक फैली गरीबी वाले देशों में पर्यावरण के हर अंग पर बहुत सारे लोगों और समूहों का अस्तित्व टिका हुआ है। जब भी कोई ऐसा अंग बर्बाद होता है समाज का एक शक्तिशाली वर्ग उस पर अपना आधिपत्य जमा लेते है तो उससे वंचित होनेवाला कमज़ोर वर्ग पहले से ज़्यादा कमज़ोर बेसहारा और गरीब बनता जाता है । पर्यावरण संकट से आर्थिक स्थिति ही नहीं बल्कि सामाजिक और सांसकृतिक मृत्यू की छाया भी मंडराती है।

जब हमारा देश आज़ाद हुआ तब देश की औसत चालीस प्रतिशत ज़मीन वनाच्छादित थी । आज हमारे देश के केवल ग्यारह प्रतिशत जंगल रह गये हैं । इसका प्रभाव हमारे वातावरण पर पड़ रहा है । हर वर्ष गर्मी बढ़ती जा रही है । देश का आधे से आधिक हिस्सा सूखे का प्रकोप झेल रहा है । 'गगन घटा घहरानी' में हमारे अप्रत्यक्ष होनेवाले जंगलों की ओर लेखक ने इशारा किया है । वन तेज़ी से अप्रत्यक्ष होने के साथ साथ वन प्राणियों की संख्या में भी ह्रास हुआ है । किसिम किसिंम के रासायनिक कारखानों, अणु आयुधों से विश्व का पर्यावरण असन्तुलित होता जा रहा है । सरकार ने वन विभाग में वन प्राणियों के संरक्षण के लिए, वन रोपण के लिए, लकड़ियों के व्यापार के लिए, लाह, सखुआ, बीज,

बीड़ी पत्ते, कत्थे आदि वन उद्पादकों की नीलामी पर रोक़ लगा दी गई है । लेकिन ठेकेदारी पर रोक नहीं लगायी है । वन विभाग के अफसर लोग अपनी देखरेख में ही जंगल की कटा ई करवाता है । सरकार लकड़ी काटनेवाले मज़दूरों का ज़िम्मा नहीं लेते ठेकेदार ठीक तरह से मज़दूरों को तनख्वा भी नहीं देते । जंगल में वास करने वाले लोगों के दावारा ही जंगल की कटायी करवाता है । जंगल में जब आग लग जाती है तब सारा दोष सरकार आस पास के गांवों में रहनेवाले आदिवासियों के सिर पर मढ़ा जाता है । ठेकेदार अपनी लाभ और कटाई की सुविधा केलिए जंगल का जंगल साफ कर देते हैं ।

सरकार ने वन प्राणियों के संरक्षण के लिए नियम बनाया है और वनप्राणियों को घर में पाल रखना कानून के विरुद्ध है । लेकिन राय बहादूर अपनी शान बढ़ाने के लिए जंगली जानवर चीते को अपने घर में पालं रखा है । चीतेवाले रायसाहब के नाम से वे जाने जाते है । वन्य जीवों का संरक्षण का कानून बनानेवाला, शिकार और जानवरों की धर पकड़कर रोक लगानेवाले मंत्री चीते के कारण राय बहादुर की इज़्जत करते हैं । जंगल की उरांव जनजातियों का एक ही दु:ख हैं कि जंगल, खेती, इज़्जत आबरू सब छिन रहे हैं । उरांवों का सारा खेत किसी दूसरे का हो गया । अब खेत ही नहीं जंगल, पहाड़ सब सरकारी ही है, इसलिए जंगल के पुत्र -पुत्रियों को गांव छोड़कर भागना पड़ेगा नहीं, भागना पड़ रहा है । प्रतिरोध की एक चिन्गारी लेकर सोनाराम उरांवों के बीच आता है । सारे उरांवों के मन में जंगल की मलिकाना पर अपने हक को और भी मज़बूत बना देता है । साक्षात्कार के लिए आए माध्यम पत्रकार से मानसुख कहता है कि 'यह जंगल हमारा है वैसे ही जैसे उस गाछ का है यहाँ के जानवरों का है । यहां की नदी, झरने,

पहाड़ और ये खेत भी हमारे हैं । इन्हें किसी को बेचा नही जा सकता।"[1] इन काटते हुई जंगल की ओर इशारा संजीव 'जंगल जहाँ शुरू होता है' में धांगड़ों की कथन से व्यक्त किया है । धाग़ड़ शिकदार पुर गांव का है अंग्रेज़ सरकार बरसों पहले इन धागड़ों को नागपुर से जंगल साफ करने के लिए ले आया । जंगल की जगह खेती हो गयी । लेकिन आज वहाँ जंगल भी नहीं खेती भी नहीं ।

'धार' उपन्यास के केन्द्र में संथालों का गांव बांसगड़ा है और मैना इसकी नायिका है । मैना के जेल वास से उपन्यास शुरू होता है । उनकी जेल में कैद होने का कारण बांसगड़ा क्षेत्र में स्थापित तेजाब फैक्ट्री का विरोध करने के कारण हुई जो उस क्षेत्र के लोगों के जीवन में ज़हर घोल रही हैं । तेजाब की फैक्ट्री ने न सिर्फ वहाँ के पर्यावरण को दूषित किया है बल्कि लोगों को परंपरागत कृषि कार्य से वंचित कर बरबादी के कगार पर ला पटका है। बांसगड़ा गांव में प्रवेश करने पर हमको गांव भर खाँसते और उबकाइयों की आवाज़ें ही सुनने देंगे। गांव के सब लोगों को मालूम हैं कि छावनीनुमा कारखाने में गन्धक का तेजाब बन रहा है। तेजाब के कारखाने से खेती-बाड़ी कुआँ, पोखरा सब खराब हो गये हैं। जब से फैक्ट्री खुले तब से खेतीबाड़ी से मुश्किल से तीन महीने का जो दान मिल जाता था अब एक तरिन भी नहीं मिलती थी। गांव से बाहर रांची, हज़ारबाग, से मज़दूरों को बुलाकर लाया लेकिन सब के सब खाँसते खाँसते बीमार हो के भाग गये । इन संथाल आदिवासियों को निरीह मानकर उसकी छाती पे बना है ज़हर का फैक्ट्री।

बांसगड़ा सचमुच बांस का गड़ा है । गांव हर समय मौत का इन्तज़ार करता रहता है । बांसगड़ा प्रायः उजाड़ हो चले थे । अभी ज़्यादातर अवैध

---

1. मनमोहन पाठक - गगन घटा घहरानी - पृ. सं : 250

कोयला खनन भी गड्ढो में पानी भर जाने से बन्द है । बांसगड़ा में सूखती हरियाली को ही देख सकता है । मैना कहती है "हमको याद आता जब हम बच्चा था खेती से चार छः महीने का काम चल जाता, अज एक दिन का भी नई । खेत-खतार, पेड़-रूख, कुआँ, तालाब हम और हमारा बाल बच्चा तक आज तेजाब में गल रआ है, भूख में जल रआ है ।"[1] गांव के किसी के पास पीने का पानी नहीं है । कुएँ, तालाब में से सब को पानी नहीं तेजाब मिलता है ।

आज प्राकृतिक पर्यावरण के प्रति मानव के दृष्टिकोण में अंतर आया है । इस समय प्रकृति के प्रति उपेक्षा बढ़ती जा रही है । प्राकृतिक पर्यावरण की उचित देख भाल किए बिना प्रकृति से आधिकाधिक सामग्री प्राप्त करने की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है । फलतः पर्यावरण में असंतुलन पैदा हो गया है । उपभोक्तावादी समाज की नयी नयी मांगों के कारण ही आज परिस्थिति विनाश की ओर बढ़ रही है । इस विनाश को संकेत करने का कार्य समकालीन उपन्यासकार ने अपने आंचलिक उपन्यासों के द्वारा किया है ।

हमारी सामाजिक व्यवस्था आदिवासियों को खदेड़कर विस्थापित की जाती रही है। और वे बंजारों की तरह इधर उधर भटकते फिरते रहते हैं । आज व्यवस्था बदल गयी है, शोषण के तरीके बदल गये हैं। आदिवासी का अपना प्रजातांत्रिक तरीका है जो जन और जड़ से जुड़ा था, जो खत्म कर दिया गया और अब बाकी रह गया है रिश्ता केवल शोषक और शोषित का। हाशिए पर रहनेवाले इन भोली जनजातियों के शोषण व दयनीय दुर्दशा के लिए मुख्य रूप से उत्तरदायी शिक्षा की कमी है। शिक्षा से ज्ञान का प्रसार होता है, ज्ञान आंतरिक बल देता है,

---

1. संजीव - धार - पृ . सं : 56

जो कि आदिवासियों को शोषण व गरीबी से मुक्ति पाने के लिए बहुत ही आवश्यक है। सरकारी विकास कार्यक्रमों का पूरा लाभ आदिवासियों को नहीं मिल पा रहा है। सरकारी गणों ने इनके अधिकारों की रक्षा करने की बजाए इनकी दुर्दशा का लाभ उठाया। इस प्रवृत्ति ने जनजातीय लोगों के आर्थिक आधार को तहस नहस कर दिया और उन्हें दरिद्र बना दिया। इससे न केवल उनके मन में अपने देशवासियों के प्रति कड़वाहट भर गयी बलकि समाज की मुख्य धारा से भी उन्हें अलग कर दिया।

आदिवासी मूलरूप में वनों के संरक्षक हैं । इन लोगों के अर्थ-व्यवस्था और संस्कृति के साथ वनों का संबन्ध भी बहुत गहरा है । लेकिन आज वन का मालिक सरकार हो गया हैं । आर्थिक और सामाजिक दृष्टि से पिछड़ी हुई जनजातियों के विकास में मुख्य बाधा अंधविश्वास और सामाजिक कुरीतियाँ आदि हैं । आदिवासी क्षेत्रों में आर्थिक संसाधनों के आभाव के साथ साथ चिकित्सा सुविधाएँ भी प्रयाप्त नहीं हैं । उनके सांस्कृतिक परिवेश और कला को साधारण जनों के समक्ष आश्चर्य व तमाशे के रूप में प्रस्तुत करते हैं, यह उस आदिम समाज को अपमान करने जैसा है । विशेष धंधे को लेकर जीनेवालों की भी अपनी संस्कृति, रीति-रिवाज़ और बोलचाल आदि होते हैं । इन लोगों के समाज दूसरों से बिलकुल भिन्न होते हैं । और उनका शोषण करने वाले विभिन्न लोग भी उन लोगों के चारों तरफ मौजूद हैं । इनकी संस्कृति, अभावग्रस्तता आदि के ओर भी प्रकाश डालने का कार्य समकालीन आंचलिक उपन्यासकार ने किया है ।

इसप्रकार समकालीन आंचलिक उपन्यासों के विविध आयामों में जितना गांव और शहर केन्द्रित आंचलिक उपन्यास महत्वपूर्ण है उतना जनजाति, धंधा, अनुसूचित जाति केन्द्रित आंचलिक उपन्यास भी महत्वपूर्ण है ।

❖❖❖

पाँचवाँ अध्याय
शिल्प पक्ष की आंचलिकता

भूमिका :

भाषा के द्वारा हम अपने विचार दूसरों तक पहूँचाते है। भाषा अभिव्यक्ति का माध्यम होने के साथ साथ जीने का तौर तरीका, आचार व्यवहार की पहचान भी होती है । 'उपन्यास न तो काव्य के समान श्रव्य है और न नाटक के समान दृश्य । इसलिए उपन्यास की भाषा का लिखित रूप ही सब कुछ होता है । इसलिए उपन्यास में भाषा की स्वाभाविकता की रक्षा का प्रयास अधिक करना पड़ता है।"[1] भाषा उपन्यासकार के हाथों में एक शक्तिशाली उपकरण है वह शब्दयोजना, वाक्य-रचना, वाक्य-विन्यास और ध्वनि पैटर्न के प्रयोग द्वारा अपनी बात को विशेष प्रभावशाली ढ़ंग से संप्रेषित करने में समर्थ होता है, पाठक पर विशेष प्रभाव डाल सकता है।"[2] शिल्प को अनेक विद्वानों ने परिभाषित किया है। शिल्पी का मामूली अर्थ है कारीगर, मकान बनाने वाला राज । हाथ से कोई चीज़ तैयार करने का काम भी शिल्प कहलाता है।य़ शिल्प विधि का शाब्दिक अर्थ है किसी चीज़ को बनाने या रचने का ढंग अथवा तरीका। 'शिल्प ही वह माध्यम है जिससे उपन्यासकार अपने विषय का अनुसंधान और विकास करता है, उसे मूर्त

---

1. संपादक. रामदरशमिश्र, ज्ञानचन्दगुप्त - हिन्दी के आंचलिक उपन्यास - पृ. सं : 105
2. शान्तिस्वरूप गुप्त - उपन्यास स्वरूप, संरचना तथा शिल्प - पृ. सं : 169

रूप देता है, अर्थबोध कराता है और अन्ततोगत्व उसका मूल्यांकन करता है। शिल्प के माध्यम से ही वह अनुभवों के सम्यक कलात्मक अभिव्यक्ति प्रदान करने में समर्थ होता है।"[1]

आंचलिक उपन्यास अपने प्रतिपाद्य से अधिक शिल्प के कारण विशिष्ट है। आंचलिक उपन्यासों के शिल्प के प्रमुख तत्व हैं - वस्तुयोजना, पात्र-परिकल्पना, थल-काल, भाषा शिल्प, शैली शिल्प आदि। शिल्प के इन प्रमुख तत्वों का सुन्दर संयोजन समकालीन उपन्यासकार भी अपने आंचलिक उपन्यास में किया है ।

वस्तुशिल्प :

आंचलिक उपन्यास की कथा-वस्तु औरअन्य उपन्यासों की कथावस्तु की तुलना में एक प्रमुख अंतर है । जहां अन्य उपन्यासों की कथावस्तु में विस्तार होता है तो आंचलिक उपन्यासों की कथावस्तु में बिखराव । अर्थात शुद्ध वस्तु की दृष्टि से कथा में एकसूत्रता अथवा सुसंबद्धता नहीं दिखाई देती । बिखराव के कारण पूरे अंचल उसकी समग्रता के साथ पाठकों के समक्ष प्रस्तुत होते है । यह बिखराव जीवनगत, कथागत और क्षेत्रगत होता है । कल्पना और यथार्थ का संयोजन भी वस्तुयोजना के अन्तर्गत आता है ।

मिथिलेस्वर का 'यह अन्त नहीं' उपन्यास की कथाभूमि बिहार के भोजपुर की विराट संस्कृति है । इसके द्वारा लेखक ने संपूर्ण बिहार के गांवों की त्रासद

---

1. शान्तिस्वरूप गुप्त - उपन्यास स्वरूप, संरचना तथा शिल्प - पृ. सं : 117

स्थिति को अंकित किया है । यह कहानी भोजपुर जनपद के तीन गांवों, खवासड़ीह, पहाड़पुर और रघुनाथपुर में घटती है । उपन्यास की कथा तेज बारिश में पुरवाहवा, फागुन की रात, धनहर खेतों का गांव, बदलते मौसम, चैती फसल जैसे सात अध्यायों में विभक्त है । प्रत्येक अध्यायों के नामकरण के साथ उस अध्याय का संबन्ध रहता है ।

प्रारंभ में ऐसा प्रतीत होता है कि यह उपन्यास एक क्षेत्र विशेष भोजपुर की किसी आम ग्रामीण स्त्री की जीवन कथा है, परन्तु ज्यों-ज्यों कथा का विस्तार होने पर व्यक्त होता है कि पूरे हिन्दुस्तान के ग्राम्य समाज का संघर्ष व्यक्त करना ही लेखक का उद्देश्य है । जब चुनिया नामक पात्र नन्हटोली में थे, तब नन्हटोली की कथा का प्रस्तुतीकरण होता है, वह शादी करके रघुनाथपुर जाती है तब रघुनाथपुर की कथा का प्रस्तुतीकरण होता है । वर्तमान बिहार का सच यह है कि सर्वत्र चाहे, गांव हो, कस्बा हो या बड़े बड़े शहर हत्या, बलात्कार, अपहरण, भय, उन्माद, गोली, बारूद, बंदूक, गरीबी, बेरोज़गारी, महंगाई, भ्रष्टाचार, घूसखोरी, अपराध आदि का तांडव नृत्य ज़ारी है । ऐसी ही परिस्थिति में भोजपुर के गांव खवासडीह, पहाड़पुर, रघुनाथपुर के ग्राम्य जीवन के अंतर्विरोधों को अपने उपन्यास में पहचानने की कोशिश की गई है । स्वतंत्रता प्राप्ति के पहले भारतवासियों का शोषण विदेशी शक्तियां करती थीं । भारतवासियों ने एकजुट होकर अंग्रेज़ों को तो भगाया लेकिन यहाँ का शोषण वैसा का वैसा रहा । भोजपुर जैसे गांवों के यथार्थ को दिखाने का जो प्रयास किया गया है वह अत्यन्त सराहनीय है ।

कृष्णासोबती का 'ज़िन्दगीनामा' पंजाबी जनजीवन का जीवन्त उपन्यास है । इसमें बीसवीं शताब्दी के आरंभिक दो दशकों की पंजाब की सामाजिक

स्थिति का चित्रण किया गया है। यह उपन्यास पूर्णतया पंजाब की भूमि से जुड़ा है । इस उपन्यास के दो खण्ड है, प्रथम खण्ड 'ज़िन्दारूख' और द्वितीय खण्ड 'इन्कलाब ज़िन्दाबाद' जो अभी तक अप्रकाशित है । इसमें नपातुला कोई कथानक नहीं । छोटी-बड़ी घटनाएँ मिलकर एक विशाल कैनवास का अंचल के व्यापक परिप्रेक्ष्य का रूप ले लेती हैं जो मिलकर उस अंचल की जीवन की व्यापक कहानी प्रस्तित कर देती है ।

पंजाब पांच नदियों का देश है । वेदों में इनका उल्लेख इसतरह है, शतद्रू(सतलज), पारुष्णी (राबी), अक्सिन (चनाब), विपाशा (ब्यासू), वितस्ता(झेलम) आदि है । विभाजन के बाद सतलज और ब्यास केवल दो नदियां भारत में रह गयी और राबी पाकिस्तान के साथ भारत की सीमा बनगयी । झेलम और चनाब नदियों के बीच का गुजरांवाला के ग्रामीण परिवेश का कच्चा जीवन इस उपन्यास का आधार है । लेखिका का बचपन यहाँ गुज़ारा गया था। इस उपन्यास में अनेक कथाओं को गूँथा है - चाची महराँ गणपत शाह, ताराशाह बरकती, फतेह सेरा, राबयाँ, बड़े शाह आदि के बीच की प्रेम कथा, कत्ल और अपहरण की कई कथाएँ, सौंतों से डाह या जलन की कई कहानियां आदि हैं । अलग अलग पात्र जो है मिलकर उस अंचल में बसे जनसमूह का रूप ले लेते हैं।

विवेकीराय के पास किसान जीवन से संबन्धित विपुल अनुभव संपदा है, इसका उत्तम उदाहरण है 'सोनामाटी' और 'समरशेष है' इन दोनों उपन्यासों में लेखक उस क्रूर और भयानक यथार्थ को सामने रखता है, जो गांव की नारकीयता का मुख्य हेतु है । लेखक ने 'सोनामाटी' में उत्तर प्रदेश के दो जिलों गाजीपुर और बलिया के मध्यवर्ती भाग करइल को उपन्यास की घटनाभूमि के रूप में लिया है

और यह करइल ही अपनी विशिष्ट भौगोलिक वास्तविकता की भीतर से आज के सामान्य गांव का दर्द बनता चला गया है । इस उपन्यास के केन्द्र में रामरूप है। कथासूत्र उसे एक ओर अपने ससुर साले के रूप में दब-दबेदार समृद्ध किसानों और उनके पिट्ठुओं के कुचक्रों, अत्याचारों एवं अन्याय से जोड़ते है तो दूसरी ओर दहेज को दैत्य की विकरालता से । हनुमान प्रसाद जैसे क्रूर व्यक्ति का गाँजे की तस्करी में पकड़ा जाना और जेल जाना, रात्रि के घोर सन्नाटे में कोइली की भेंट आदि अनेक कथासूत्र आकस्मिकता और रहस्य का पुट देकर प्रस्तुत उपन्यास को रोचक बनाने में सहायक हुए हैं ।

'सोनामाटी' में विवेकीराय ने थोड़ा मुखर होकर कुछ प्रसंगों की सृष्टि की है, हनुमान प्रसाद और कोईली का प्रेमप्रसंग, रामरूप और रूपिया का, नवीन और सुनरी का, भुवनेश्वर और मिस कान्ता का आदि । ग्रामीण का दोहन और शोषण करनेवाली एजेन्सियों की स्पष्ट शिनख्त विवेकीराय के स्पष्ट सोच की गवाही देती है।

'समरशेष है' एक बड़े ही विक्षुब्धकारी विज़न पर आधारित उपन्यास है। यह विज़न आज़ादी मिलने के बाद के भारतीय जीवन का है जो उत्तरभारत के गांवों में व्याप्त है । इस उपन्यास के केन्द्र में इस क्षेत्र के किसान मज़दूर है जो लंबे समय तक शोषण और अन्याय सहते रहने के बाद अब संघर्ष की मुद्रा में तनकर खड़े हो रहे है । सुराज, विराज, रामराज और जयन्ति की कथा शुरू से अंत तक चलती है । उत्तर भारत के गांवों के जीवन में सड़क का क्या स्थान और महत्व है, इस नंगे सत्य को दिखाना भी लेखक उद्देश्य है । कथा को आगे ले चलानेवाला पात्र संतोषी पंड़ित है । उसके जीवन नज़रिए से हम उत्तर भारत के गांवों को देखते है और समझते है । कथा का अधिकतम भाग संतोषी पंडित के जीवन से संबन्धित

समस्याओं को प्रकाश में लाता है । कथागत और जीवनगत बिखराव आंचलिकती की सिद्दि में सहायक होते हैं । इन दोनों उपन्यासों के विषय के साथ लेखक के अनुभव की प्रामाणिकता है ।

वर्तमान भारत के मुख्य मामलों में एक विकास का मामला है । 'डूब' और 'पार' उपन्यास विकास के बाढ़ में डूबते ग्रामीण यथार्थ को प्रस्तुत करता है। इसमें मध्यप्रदेश के लड़ैई गांव को आधारर बनाया गया है । देश विकास के पीछे पड़गया है, और वह विकास कार्य लगभग बीस प्रतिशत लोगों के उपलक्ष्य में किया जाता है । गांव के पर्यावरण, और वहाँ के लोगों को तबाही करके ही बाँध बनाती है । वीरेन्द्र जैन माते को प्रतिनिधि बनाकर इस यथार्त की पहचान कराता है । एक अंचल विशेष पर केन्द्रित होते हुए भी ये दोनों उपन्यास पूरे भारत राज्य- राष्ट्र के सच और वर्तमान को हमारे सामने उजागर करते हैं ।

मध्यप्रदेश और उत्तरप्रदेश के बुंदेलखंड़ की सीमा पर स्थित बेतवा नदी के राजघाट पर बाँध बनाने की एक योजना शुरू हुई थी दशकों पहले । इसके तहत एक बृहद क्षेत्र डूब क्षेत्र घोषित कर दिया गया था । इस कथा को दो उपन्यासों के ज़रिए पाठक के समक्ष प्रस्तुत करते हैं वीरेन्द्रजैन । 'पार' आदिवासी जीवन के व्यथा संसार पर केन्द्रित एक स्वतंत्र उपन्यास तो है ही, परिवेश और प्रस्थान बिंदू की समानता के चलते 'डूब' का पूरक भी है और उससे आगे का इतिवृत्त भी।

राकेशकुमार सिंह का 'जहाँ खिले है रक्त पलाश' उपन्यास का क्षेत्र झारखंड़ का एक उपेक्षित जिला पलामू है । यह प्रदेश अखबारी पलामू नहीं यह

दिखाना लेखक का मकसद है। इसमें दो घटनाएँ साथ साथ चलती हैं, एक है सत्यवती पाठक और नंदू घटवार के बीच की प्रेम और त्रासद घटना तथा दूसरी जंगल दस्ते की छत्र छाया में पल और बड़े हो रहे नव सामंती गिरोह की कथा । दोनों घटनाएँ अलग अलग हैं, लेकिन दोनों के सूत्र एक है । भयावह कृषि समस्याएँ, लाचार कानून व्यवस्था, अपराध का राजनीतिकरण और भूमिगत संघर्षों को उजागर करके लेखक पलामू प्रदेश की एक लंबी कथा का पर्दाफाश करता है।

हिन्दी के सुपरिचित उपन्यासकार द्रोणवीर कोहली ने अपने प्रस्तुत उपन्यास 'तकसीम' में विभाजन पूर्व के पश्चिमोत्तर भारत के गांवों, कस्बों और शहरों की पृष्ठभूमि को अंकित किया है । यह उपन्यास पारिवारिक तकसीम की गाथा कहते हुए थोहा मार्हम खाँ गांव के चहुँमुखी शोषणों का पक्का और सच्चा बयान पाठक के सम्मुख प्रस्तुत करता हैं । '"तकसीम' का विस्तृत फलक और कथापात्रों तथा घटनाओं आदि के स्वाभाविक निर्वाह को देखकर यह अंदाज़ा लगाया जा सकना सहज है कि लेखक का इस कथाभूमि से निश्चय ही रक्त संबन्ध है"[1] अध्यायों को शेषफल, धोती निचोड़ना, आदि नाम देकर विभाजित किया गया है । तलागंगा, थोहा मार्हम खाँ, रावलपिंड़ी, कोहमरी प्रदेश का वर्णन करते हुए उस समय प्रचलित सांस्कृतिक, धार्मिक, राजनीतिक रूढ़ियों पर लेखक ने प्रकाश डाला है । चार प्रदेशों की कथा साथ साथ चलती है ।

उपन्यास में जैसी कथा प्रायः होती है वैसी कथा रामदरश मिश्र का 'बीसबरस' उपन्यास में नहीं है । इस उपन्यास का कथानक दामोदर के ईर्द-गिर्द

---

1. द्रोणवीर कोहली - तकसीम पहले पृष्ठ से

है । बीस वर्षों के बाद गांव में आए बदलाव को हम दामोदर की आंखों से देखते हैं । दामोदर के नये अनुभवों और स्मृतियों के तनाव से एक गहरी पीड़ा तथा मूल्य चेतना का सृजन करता है । इस गहरी पीड़ा तथा मूल्य चेतना के मूल में दामोदर का गांव है । गांव नरक हो चला है, इसी बदले रूप को दिखाना लेखक का उद्देश्य है।

उत्तरप्रदेश में आगरा के पास एक गांव अतरपुर को केन्द्र बनाकर लिखागया उपन्यास है मैत्रेयी पुष्पा का 'चाक'। प्रस्तुत उपन्यास रेशम की कथा से शुरू होकर अन्य स्त्रियों की छोटी छोटी कथाओं से उपन्यास आगे बढ़ता है, और लेखिका इन सारी कथाओं के माद्यम से अतरपुर का एक विस्तृत फलक पाठक के समक्ष खुलकर रखती हैं । इस उपन्यास को कथ्य का निर्धारण करना एक मुश्किल बात है क्यों कि एक साथ कई विषय इसमें गड्ड़मड्ड़ है । अतरपुर जाट किसानों का गांव है, यंह गांव परिवर्तन के मुख्य धारा के प्रवाह से अछूते नहीं हैं, अपने रीति-रिवाज़ों, जाति-संघर्षों, गीतों-उत्सवों, ईर्ष्या-द्वेष आदि से भरपूर है । लेखिका सत्रह अध्यायों में अतरपुर की कथा कहता है । मैत्रेयी पुष्पा का गांव केन्द्रित आंचलिक उपन्यास है 'इदन्नमम' । यह श्यामली और सोनपुरा नामक उत्तरभारत के दो पिछड़े गांव के साधारण लोगों के भोगो हुए जीवन की कथा है । 'इदन्नमम' में बऊ, प्रैम और मन्दा के द्वारा तीन पीड़ियों के आत्मसंघर्ष एवं बाह्य संघर्ष को वाणी मिली है । उपन्यास का शीर्षक 'इदन्नमम' का अर्थ है 'यह मेरा नहीं, मेरे लिए नहीं' सार्थक हुआ है । मंदा की ज़िन्दगी उनके लिए नहीं बल्कि दूसरों के लिए है । सशक्त, आत्मनिर्भर, विकसित, शिक्षित सोनपुरा ही उसका लक्ष्य है । जिसके लिए समर्पित है मन्दा की ज़िन्दगी । यहाँ कथा को शीर्षक से जोड़ने में कथाकार की प्रतिभा प्रकट है।

गोविन्द मिश्र का 'लाल पीली ज़मीन' चार भागों - फालतू, घर, चौपड़ और मात में विभक्त हुआ है । कथानक में आदमी की हिंसा, उसके विविध आयाम, तंत्र, और रूपों का वहाँ की जनभाषा में लेखक ने चित्रित किया है । उपन्यास का नाम 'लाल पीली ज़मीन' पूर्णतः सार्थक है । केवल ज़मीन के लाल पीले होने का प्रतीक ही नहीं है वरन् परिवेश और अंचल की सामाजिक-सांस्कृतिक गतिशीलता एवं पात्रों के चारित्रिक विकास का भी द्योतक है । बुंदेलखंड़ी उपनगर को उपन्यास का आधार बनाया गया है । मिश्रजी के लेखन में रचनात्मक ईमान्दारी के दर्शन होते हैं । इसलिए कथ्य और शिल्प के गठन में एक अनुपम सौन्दर्य है । उपन्यास की कथा का केन्द्र केशव नामक एक बालक है । इसमें जीवन का वह सब यथार्थ है जो उसके अनुभव वृत्त में आता है ।

जगदम्बा प्रसाद दीक्षित का 'मुर्दाघर' में चित्रित जिस्मफरोशी जैसे कोड़ के शिकार चंद व्यक्ति न होकर समाज क एक पूरा वर्ग है । इसमें बंबई की झोपट पट्टियों में रहनेवाली अनेक छोटी वेश्याओं की गालिज ज़िन्दगी की कहानी है, जिसमें वेश्याओं से जुड़े कूली, मज़दूर, टैक्सी, ड्राइवर , कोढ़ी, गंदे छोकरे, भिखरी, उचक्के गुंड़े-बदमाश, स्मगलेर्स और पुलिस सिपाहियों की एक पूरी दुनिया है । इसमें कथानक की अपेक्षा स्थितियों का चित्रण है । बंबई महानगरी के नारकीय जीवन को उपन्यास का क्षेत्र बनाकर लेखक ने जीवन के कटु, गंदे और घोर रूप में बीभत्स यथार्थ को कलात्मक स्पर्श देते हुए जीवित किया है ।

मैत्रेयी पुष्पा का 'अल्मा कबूतरी' अठारह अध्यायों में विभक्त किया गया है । इसमें दो समाजों को चित्रित किया गया है । पहला कबूतरा समाज और दूसरा सभ्य समाज । उपन्यास का प्रारंभ मंसाराम और कदमबाई की कथा से शुरू

होकर बेटे राणा और अल्मा की कथा से समाप्त होता है । इसके बीच कबूतरा जनजाति और सभ्य समाज के आपसी टकराहट और द्वन्द्व परिलक्षित होते हैं । स्वतंत्र भारत में समाज की मुख्यधारा से धकेल दी गई इन जनजातियों की लड़ाई आज भी बरकरार है । इस कथा में कबूतरा समाज का लगभग संपूर्ण ताना बाना उपस्थित है, इन लोगों के प्रेम - प्यार, लुगाईयाँ, झगड़े और शौर्य ने इस क्षेत्र को गुंजान किया है । "अल्मा कबूतरी उस वास्तविक यथार्थ की जटिल नाटकीय कहानी है जो हमारे अनजाने ही आसपास घटित हो रही है । अपनी उपस्थिति से हमें बेचैन करती है ....."[1]

'धरती धन न अपना' में जगदीशचन्द्र ने पंजाब के जिस गांव को उसकी विविध स्थितियों के यथार्थ संदर्भों में अत्यंत ही हृदय विदारक एवं संवेदनात्मक धरातल पर प्रस्तुत किया है उसका नाम है घोड़ेवाहा । होशियारपुर जिले में स्थित यह गांव आज के भारतीय गांवों की एक जीती जागती तस्वीर है । इसका कथाफलक अत्यन्त संक्षिप्त एवं सपाट है । कथा सीधे सपाट ढंग से काली और ज्ञानों दोनों के बीच तेज़ी से बहती है । इसका प्रारंभ और अन्त काली है । लेखक ने चमारों-चौधरियों के आपसी संघर्ष और द्वन्द्व के बीच ग्रामीण मज़दूरों की दुखद गाथा को उभारा है । घोड़ेवाहा गांव में एक मोहल्ला है चमादड़ी, जहाँ प्रमुख रूप से चमारों का निवास है जो मेहनत मज़दूरी करके अपना पेट पालते हैं । कथा की अधिकांश घटनाओं का केन्द्र यही चमादड़ी नामक मोहल्ला है । इस मोहल्ले की एक एक गली, एक एक झोंपड़े और उसमें रहनेवाले नर नारियों की संघर्ष गाथा से लेखक पूर्णतः परिचित है ।

---

1. मैत्रेयी पुष्पा - अल्मा कबूतरी - पृष्ठ भाग से

अब्दुल बिस्मिल्लाह का 'झीनी झीनी बीनी चदरिया' नामक उपन्यास ताना, बाना और क्षेपक तीन अध्यायों में विभाजित है। तीनों खण्ड़ों में लेखक ने बड़ी निर्भीकता से मुसलमानों की सामाजिक बुराइयों का भी उल्लेख किया है । इसमें बनारस और इसके आसपास फैले हुए मुस्लिम समुदाय के जीवन का विस्तृत चित्रण है । इसमें कबीरदास के दर्शन का प्रभाव है । उपन्यास का नाम भी उनके दोहे से लिया गया है । बुनकरों के मुक्ति संघर्ष की कहानी पेश करनेवाला यह उपन्यास तमाम भारत के शोषित लोगों के मुक्ति संघर्ष की गाथा साबित होता है । लेखक ने इस उपन्यास के कथानक के रूप में जनता सरकार के शासनकाल की एक वास्तविक घटना को आधार बनाया है । बहुत दिनों तक बुनकरों के बीच रहकर डॉ. बिस्मिल्लाह ने यह उपन्यास लिखा है। इसलिए उनका वर्णन प्रामाणिक है ।

'शैलूष' नटों के कबीलाई जीवन पर लिखा गया उपन्यास है, जिसका भौगोलिक क्षेत्र मिर्जापुर और विंध्याचल के आसपास का पूर्वांचल है । लेखक बचपन से ही नटों के संघर्ष क देखते रहे हैं । नट-कबीलों के जीवन, विचार, क्रिया और परिवेश का बड़ा ही सच्चा चित्र शैलूष में खींचा है । इसमें नट-कबीलों के जीवन के अन्तर्विरोध, आर्थिक विपन्नता, वैचारिक रुग्णता, शारिरिक संबन्धों की जड़ता, प्रगतिवादी विचारों और कार्यक्रमों के स्वीकार और अस्वीकार की अनेक तस्वीरें है । प्रस्तुत उपन्यास सब्बोमौसी की प्रेम कथा, सलमा की कथा ताहिरा की कथा आदि अनेक कथाओं से गूँथा है । शिवप्रसादजी लोहिया के सामाजिक विचार चिंतन से अभिभूत है ।

हिन्दी के मशहूर कथाकार संजीव ने अक्सर उपेक्षित तकलीफ एवं अछूती जनजातियों की अन्दरूनी तकलीफ को वाणी देने की सराहनीय कोशिश की है । 'जंगल जहाँ शूरू होता है' और 'धार' इस बात को और भी पुष्ट बनाता है । 'जंगल जहाँ शुरू होता है' उपन्यास के केन्द्र में बिहार के पश्चिमी चंपारण की थारू जनजाति की कथा है । प्रस्तुत अंचल विशेष के ऐतिहासिक, भौगोलिक एवं सांस्कृतिक जीवन को बहुत ही निकट से देखने परखने का प्रयास लेखक द्वारा हुआ है । कथा एक ओर मंत्रियों और धनाढ़यों की धूर्तता भरी चालें हैं और दूसरी ओर पुलिस अफसरों के हथकंड़े है । संजीव का 'धार' 1990 में प्रकाशित हुआ । बिहार और बंगाल के कोयला क्षेत्र में रहनेवाले आदिवासियों के जीवन पर आधारित इस उपन्यास में कथा उन्हीं के ईर्द-गिर्द घूमती है । बिहार के कोयला क्षेत्र में अवैध खनन और माफिया गिरोहों का आंतक कोई ऐसी सच्चाई नहीं है । जिससे हम अपरिचित है । उस क्षेत्र के रहनेवाले संथाल आदिवासी इनके शोषण और हिंसा के सबसे पहले शिकार होते हैं । बांसगड़ा गांव इसके केन्द्र में है । शोषण की प्रक्रिया कई स्तरों पर चलती है । आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक स्तर पर संथालों को अत्याचार, गैर बराबरी और दमन का सामना करना पड़ता है । 'धार' में इसी यथार्थ को कथा का आधार बनाया गया।

डॉ. रामननायर का 'सागर की गलियां' में केरल के दक्खिनी छोर पर कन्याकुमारी से साठ सत्तर मील दूरी पर अरब सागर के तट पर बसा तुरुत्त अंचल केन्द्र में है । सागर पर निर्भर जीवनयापन करनेवाले मछुआरों की कथा इसमें चित्रित हुई है । नई मानसिकता के तहत मूल्यों में हो रहा परिवर्तन, बदलते संबन्ध, व्यावहारिकता, अंध-आधुनिकता और अर्थ-लोलुपता का लेखक ने यथार्थ

अंकन किया है । उपन्यास के पूर्वार्ध में मछुआरों की परंपरा प्रियता, भाग्यवादी और संघर्षमय जीवन सामने आता है । उत्तरार्ध में करुप्पन के कुशल नेतृत्व से कथा नई अंगड़ाई लेती है। उपन्यास की यह कथा मछुआरों की कर्तव्यप्रियता, स्वच्छंद जीवन और संघर्ष शीलता को प्रस्तुत करती है ।

'कालापादरी' उपन्यास के केन्द्र में अंबिकापुर का आदिवासी बहुल क्षेत्र है । आदिवासियों की आर्थिक औप सामाजिक स्थितियों में धर्म के हसत्क्षेप और उसकी सार्थकता को जाँचने का सफल और मानवीय प्रयास है । इस उपन्यास को मार्मिक बनाने वाला एक और तथ्य है पादरी जैम्स ख़ाखा ओर नन सोज़ेलिन मिंज का प्रेम । आकार में छोटी उपन्यास है लेकिन अभिप्रेत में बड़ किताब है।

श्रवणकुमार गोस्वामी का 'हस्तक्षेप' में हरप्रकार की प्रतिकूलताओं को झेलते हुए प्राकृतिक परिवेश से तादात्म्य स्थापित करके निश्छल जीवन जीनेवाले आदिवासी विशेषण से संबोधित किये जाने वाले लोगों के जीवन को आधार बनाया गया है । सतपुड़ा, बुन्देलखण्ड, बघेलखंढ़ एवं महादेव की पहाड़ियों को अपना आश्रयस्थल एवं जीवन-यापन करनेवाले ये लोग तथा कथित आधिनिकता से दूर आपनी संस्कृति को सुरक्षित रख सके है । इस उपन्यास का मुख्य प्रतिपाद्य आदिवासी कही जाने वाली जाति के विकास के नाम पर किये जानेवाले व्यापार या एक्सपोज़र है । महुआ चक्रवर्ती को केन्द्र में रखकर बुनी गयी कथा के समानातंर उसके साथ चलनेवाली कथा का ताना-बना करम भगत के ईर्द-गिर्द बुना गया है । 'गगन घटा घहरानी' में मनमोहन पाठक ने उरांव जनजाति को आधार बनाकर जनतन्त्र विकास और सभ्यता की पदावली को अस्थिर करते हुए उरांव जनजाति की संघर्ष गाथा को प्रस्तुत किया है ।

इन समकालीन् आंचलिक उपन्यासों में क्षेत्र विस्तार, जीवनगत, कथागत बिखराव का वर्णन इतना व्यापक है कि कल्पना से ज्यादा यथार्थ ही काम करता है । इसलिए एक विश्वसनीय वातावरण की सृष्टि करने में समकालीन उपन्यासकार सफल हुए हैं ।

पात्र - परिकल्पना :

उपन्यास का महत्वपूर्ण तत्व है पात्र या चरित्र चित्रण। कथावस्तु में कथा रहती है तो चरित्र में मनुष्य रहता है । कथावस्तु को गतिशील करना चरित्र का काम होता है । उपन्यास शिल्प का एक विशेष भाग चरित्र के द्वारा नियंत्रित होता है । आंचलिक उपन्यासों में पात्रों की सृष्टि, परंपरा प्रधान उपन्यासों से भिन्न होती है, उनकी भिन्नता का बिंदु परिवेश है । पात्रों के सृजन का मुख्य लक्ष्य आंचलिकता को बाहर दिखाना है । 'अंचल की विविधता को रूप देने के लिए लेखक कभी इस कोण पर खड़ा होता है, कभी उस कोण पर, कभी ऊँचाई पर कभी नीचाई पर। इसमें अनेक पात्रों की आवश्यकता रहती है । हर पात्र की सत्ता महत्व की है । इसमें कोई पात्र एक दूसरे के निमित्त नहीं होता, वे सब अंचल के निमित्त होते है।"[1] आंचलिक उपन्यासों में न कोई नायक होता है और न कोई खलनायक। परिवेश मात्र के लिए बने हुए लेखक के इच्छानुसार आकर चले जाते हैं । अनेक प्रकार के पात्र है - जैसे प्रतिनिधि पात्र, व्यक्ति पात्र, मिश्र पात्र, स्थिर पात्र, समतल(फ्लैट), विकसनशील पात्र आदि ।

---

1. डॉ. रामदरश मिश्र - हिन्दी उपन्यास एक अन्तर्यात्रा - पृ. सं : 189

आंचलिक उपन्यासों में नायक पात्र के लिए कोई स्थान नहीं है, नायक हमेशा अंचल होता है । अंचल, विशेष क्षेत्र या विशेष जनपद होता है । लेकिन लेखक अंचल की कथा कहने के लिए उपन्यास में अनेक पात्रों की सृष्टि करता है, उसमें कुछ पात्र ऐसे होते हैं जो पाठक के मन में अमिट छाप छोड़ देते हैं तो कुछ पात्र हमें चिंतित करने के लिए बाध्य करते हैं । पात्रों को माध्यम बनाकर अंचल की संपूर्ण कथा पाठक के सामने खुलकर रख दिया जाता है ।

वीरेन्द्रजैन के 'डूब' और 'पार' में लड़ैई गांव ही नायक है। इस उपन्यास के चार केन्द्रीय पात्र हैं - किसान मुखिया अमृतसिंह यानी माते, तेजस्विनी पवित्र एवं सुन्दरी चमेली उर्फ गोराबाई, मंझले साव के ईमान्दार, अध्ययनशील, चिकित्सक ज्येष्ठ पुत्र डॉक्टर अट्टूसाव, कैलाश महाराज आदि । इसके अलावा मोतिसाव, घूमा, ठाकूर देवीसिंह, मास्साव आदि अनेक पात्र हैं , लेकिन माते के सामने सभी पात्र बौने नज़र आते हैं । 'डूब' और 'पार' में सबसे अहम पात्र है माते । 'पार' में जीरोन खेरे और मूसर खेरे के राउत जनजाति के अनेक पात्र जैसे मुखिया, गुनिया, पुनिया, चुनिया आदि से पाठकों का परिचय दिया जाता है । लेकिन केन्द्र पात्र 'पा'र में मातो ही है । माते के चरित्र पर गांधी दर्शन का प्रभाव हम पूरे उपन्यास में देख सकते हैं । वे गांव से प्यार करके गांव केलिए जीनेवाला एक जीवन्त पात्र हैं ।

'समरशेष है' का मुख्य पात्र है संतोषी पंड़ित । पूरे गांव को हम संतोषी पंडित की आँखों से देखता है । मानव सहज दुर्बलताएँ हम इस पात्र में भी देख सकते हैं । बड़े बड़े आदर्श को लेकर चलनेवाले पंडितजी कभी अपनी जीवन व्यथाओं के कारण समझौते के लिए भी तैयार होते हैं । एक एक पात्र का नाम

तक लेखक ने सोच समझकर रखा है । विराज सुविधाभोगी संपन्न वर्ग का प्रतीक है और रामराज कल के भविष्य का प्रतीक है और जयन्ति जनता का प्रतीक है। इन प्रमुख पात्रों के चारों ओर सजीव पात्रों की एक बड़ी भारी मेला है और सबके केन्द्र में उपस्थित है सड़क, एक सजीव पात्र के रूप में । इसलिए उपन्यास में सड़क सर्वत्र छायी हुई है, क्यों कि जनता, सुराज, रामराज, किसान-मज़दूर और ग्रामीण मध्यवर्गीय बुद्धिजीवीयों से उसका अटूट रिश्ता है । उपन्यास में गांव की सड़क की इतनी यथार्थ, सजीव और बिंबात्मक प्रस्तुति हुई है कि वह सचमुच ही एक पात्र जैसी प्रतीत होती है । सड़क को एक पात्र बनाकर पूरी अंचल की कथा कहने का साहस सिर्फ विवेकी राय को है ।

संतोषी पंड़ित से मिलता जुलता पात्र है 'सोनामाटी' का रामरूप । दोनों गांव के अध्यापक हैं, अपनी बेटियों के विवाह से दोनों चिंतित हैं । दोनों सामान्य वित्त का एक आदर्शवादी शिक्षक है और अपने आर्थिक अभावों और अपने आदर्शों के बीच पिसता रहता है । लेकिन 'सोनामाटी' का रामरूप की दशा 'समरशेष है' के संतोषी पंड़ित से ज़्यादा दयनीय है क्यों कि रामरूप को अपने श्वसुर हनुमान प्रसाद के अत्याचारों को भी सहना पड़ता है । करइल अंचल ही प्रधान पात्र है । हनुमान प्रसाद आज के गांव की उस अपशक्ति का प्रतीक है जो अपने स्वार्थ की सिद्धि और अहंकार की तृप्ति के लिए कोई भी कुकृत्य कर सकती है । जो अकेली नहीं होती वरन् जिसका एक चक्र होता है । करइल गांव से सफर करते पाठकों की मुलाकात अनेक पात्रों से होता है ।

'तकसीम' उपन्यास में चित्रित अधिकांश पात्र वास्तविक हैं, लेखक के मुताबिक जिनमें से अनेक आज भी जीवित बताए गए हैं । चरित्र चित्रण की दृष्टि

से इसमें अनेक पात्र हैं, जीवणमल, रामरक्खी, हकूमत, कस्तूरी, सतभिराई, धनदई, गोपाल, गणपत आदि। सभी पात्रों के माध्यम से लेखक एक ओर देश की सांस्कृतिक स्थिति को उजागर करते हैं तो दूसरी ओर उस अंचल की और हमारा ध्यान आकर्षित कर लेते हैं । तलागंगा, थोहा मार्हम खाँ, रावलपिंड़ी, कोहमरी आदि जगहों की यथार्थ तस्वीर उभारना ही लेखक का मकसद है । देश विभाजन के पहले का भारत कैसा था? यह हम इन पात्रों से समझ सकते हैं । देश की आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक आदि सभी प्रकार के चित्रणों से उपन्यास युग का दर्पण बन गया है ।

'ज़िन्दगीनामा' के पात्र प्रतीकात्मक हैं । इन प्रतीकात्मक पात्रों में प्रमुख है शाहनी, शाह और राबयाँ। अपने अपने वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हुए ये आदर्श की प्रस्तुति के निमित्त सर्जित किए गए हैं । शाह प्रजावत्सल उदार हृदय है । शाहजी जितने व्यावहारिक, दुनियादार और नीति गुण है, काशीशाह उतने ही वैरागी, निर्लोभी और सरल है । शाहनी, शाहजी के चरित्र का नारी संस्करण है। पर दुःख कातर, ममतामयी, शाहनी जितनी गहराई से स्त्री धर्म, परिवार की मर्यादा एवं गार्हस्थिक दायित्वों से जुड़ी है, उतनी ही वह गांव के सुख - दुःख से बंधी है। राबयां के चरित्र की बुनावट शाह दम्पति से भिन्न है । वह अपने आप में पूर्ण एवं जीवन्त चरित्र है । जहां तक प्रतीकात्मक पात्रों का सवाल है, ये पात्र वर्ग के प्रतिनिधि रूप में उपन्यास में उभरे हैं । प्रतीक पात्रों में उल्लेखनीय है फरमान अली। पुरानी पीढ़ी का प्रतिनिधि जो भाग्यवाद में आस्था रखते हुए यथास्थितिवादी शक्तियों को प्रतीकित करता है । इसके ठीक विपरीत है फरमान अली का पुत्र मनोहर अली ।

'डूब' का गोराबाई, 'यह अन्त नहीं' का चुनिया, 'चाक' का सारंग, 'इदन्नमम' का मंदाकिनी, 'अल्मा कबूतरी' का अल्मा, 'धार' का मैना, 'हस्तक्षेप' का महुआ चक्रवर्ती, 'गगन घटा घहरानी' का हीरामणि, 'शैलूष' का सब्बो मौसी, 'बीसबरस' का वन्दना आदि भिन्न उपन्यासों के भिन्न पात्र है, लेकिन चारित्रिक विशेषताओं के तौर पर सब एक जैसे हैं । सारंग तीव्र गति से होते सामाजिक परिवर्तन का प्रतीक है । सारंग हमेशा प्रतिक्रियावादी नारी है । स्त्री पर होनेवाले दबावों पर वह सर उठाती है । जब डोरिया उस पर आक्रमण करता है तब वह आव देखा न ताव, उसकी जाँघों के नीचे एक लात मार देती है । लेखिका ने कहीं भी अतिशय भावना से पात्रों की सृष्टि नहीं की है । यही बात वीरेन्द्रजैन ने गोराबाई की सृष्टि में भी किया है । गोराबाई 'डूब' का एक विराट सच है । गोराबाई जो डूबकर भी अडूबी है । 'इदन्नमम' में मन्दाकिनी के माध्यम से मैत्रेयी पुष्पा सोनापुरा और श्यामली गांव की सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक और आर्थिक स्थिति का पर्दाफाश करती हैं । बऊ, प्रैम और मन्दा इन तीन स्त्री पात्रों से तीन पीढ़ियों का परिचय होता हैं । उपन्यासकार ने स्वयं 'इदन्नमम' के पात्रों को काल्पनिक बताया है पर लगता है कि हर एक पात्र बुन्देलखंड़ का ही नहीं, समस्त भारत की विवश, अभावग्रस्त ग्रामीण जनता के प्रतीक है ।

'अल्मा कबूतरी' में कदमबाई के चरित्र को केन्द्र में रखकर मैत्रेयीजी ने पूरी कबूतरी जनजाति का जीवन प्रस्तुत किया है । भूरी समाज से लड़कर जीना चाहती है, अपने बेटे को सभ्य बनाने की कोशिश में वे स्वयं अपने आपको दूसरों के हाथ का खिलौना बना देता है । अल्मा सुन्दर है, शिक्षित है लेकिन कबूतरी है। उसकी कोई इज़्जत आबरू नहीं उसे गिरवी रखा जा सकता है, बेचा जा सकता

है, खरीदा जा सकता है, बंधक बनाकर रखा जा सकता है, उसके साथ कुछ भी किया जा सकता है । लेकिन उपन्यास के अन्त में वह विधान सभा की सीट केलिए उम्मीदवार हो जाती है । उसीप्रकार अपनी अस्मिता के लिए लड़ने वाली एक पात्र है 'चाक' का सारंग ।

'धार' की मैना संघर्ष की आंच में तपकर निर्मित हुआ पात्र है । उसकी फौलादीपन को दर्शानेवाली अनेक घटनाएँ उपन्यास में हैं "जेल में जेलर हमरा साथ जबर्दस्ती किया, उसी खातिर बच्चा उसका मूँह पे मार के हम चला आया, लेकिन आप हमरा सार खेल गड़बड़ कर दिया।"[1] मैना ने अपने पति को छोड़ दिया था। उनके अनुसार "काहे मरद औरत को छोड़ सकता और औरत मरद को नई छोड़ सकता?"[2] ऐसे एक ज्वलन्त पात्र की सृष्टि लेखक ने संथालों के लिए ही नहीं बल्कि हाशिए पर खड़े अनेक लोगों के प्रतिनिधि कें रूप में की है । सारंग, अल्मा और मैना तीनों पात्र कभी कभी परंपरा को लांघते हुए भी पाठक के मन में एक स्थान पा लेती हैं । 'हस्तक्षेप' का केन्द्र पात्र महुआ चक्रवर्ती है । वह शोषण से पीड़ित उरांव जनजातियों को मुक्ति दिलाने, उनके भीतर आत्मसम्मान की भावना जागृत करने के लिए संघर्ष हेतु आगे आती है । लेकिन उसे बहुत कठिनाईयों का सामना करना पड़ता है और अंततः उसे नैतिकता, ईमान्दारी का जीवन जीने एवं भ्रष्टाचार विरुद्ध संघर्ष करने की बड़ी कीमत चुकानी पड़ती है । सिर्फ एक पात्र को केन्द्र में रखकर आदिवासियों की जीवन गाथा कहने में श्रवणकुमार गोस्वामी सफल हुए हैं । मिथिलेश्वर का 'यह अन्त नहीं' में चुनिया नामक एक सशक्त नारी

---

1. संजीव -धार - पृ. सं :12
2. संजीव - धार - संजीव - पृ. सं :14

पात्र को प्रस्तुत किया गया है । जो अपने पिता के साथ खेत खलिहानों के संघर्षों को देखते देखते ही बढ़ा हुआ था। अनपढ़ चुनिया पुरुष वर्चस्व के मिथक को उसके समस्त पौरुष और प्रज्ञा को ध्वस्त कर देती है । इसमें निम्न वर्ग के सामने अन्तहीन समस्याएँ हैं, उसके प्रति विद्रोह करने के लिए समाज को एक जुट करने वाले दो चरित्र हैं - चुनिया और जोखन । चुनिया के संघर्ष, धीरज, जीवट और अपराजेय जिजीविषा की अनोखी दास्तान है यह उपन्यास।

'शैलूष' में सावित्री नामक पात्र आग और पानी से प्रभावित व्यक्तित्व लोहिया के प्रभाव का मुखर प्रमाण है । उपन्यास में सावित्री का चरित्र ही सर्वाधिक आकर्षक है । सावित्री नट न होते हुए भी नटों की ज़िन्दगी में बदलाव लाकर सभ्य बनाने की कोशिश करता है। यह चरित्र वास्तव में सामान्य से हटकर विशिष्ट कोटि में शामिल हो गया है । ये सब पात्र अपने ऊपर होने वाले शोषण के खिलाफ आवाज़ उठानेवाला सशक्त पात्र है तो शोषण से त्रस्त और पीड़ित नारियों की कथा कहता है 'मुर्दाघर' । इसमें जगदम्बा प्रसाद दीक्षित ने मैना, रोज़ी, हसीना, मरियम, चमेली, सुभद्रा आदि पात्रों से हमारा परिचय कराकर हमारे मन को छू लिया है । मैना को छोड़कर ये सारे के सारे पात्र गौण हैं । बंबई महानगरी क्या है ? यह हम इन पात्रों से जान सकते हैं । बंबई शब्द सुनने पर ये पात्र ही सबसे पहले स्मृतियों में आते हैं । उपन्यास का हर पात्र अपने दायरे के अन्दर अपनी परिस्थितियों से भरपूर जूझता है । ये सभी पात्र उस दुनिया से उकसाए हुए हैं । जो तेज़ बदबू, कोढ़ी, गली अंगुलियोंवाले, कचरों का ढ़ेर से सजे है । उपन्यास के अनेक पात्रों में कुछ पात्र जैसे पोपट, मैना, रोज़ी, जब्बार, मरियम, हसीना आदि विकृत से विकृत स्थितियों से गुज़रते हुए भी नितांत मानवीय और संवेदनशील हैं ।

'सोनामाटी' का वर्मा, 'समरशेष है' का रामराज, 'झीनी झीनी बीनी चदरिया' का इकबाल, 'गगन घटा घहरानी' का सोनाराम, 'धरती धन न अपना' का काली, 'अल्मा कबूतरी' का राणा, 'लाल पीली ज़मीन' का केशव, 'डूब' और 'पार' के रामदुलारे, 'जंगल जहाँ शुरू होता है' का काली 'चाक' का रंजीत और भंवर, 'सागर की गलियाँ' का करुप्पन, 'कालापादरी' का जेम्स खाखा आदि पात्रों की सृष्टि उपन्यास में लेखक ने अपने उद्देश्य पूर्ति के लिए किया हैं । कुछ पात्र सामजिक संघर्षों से लड़ते लड़ते जीत जाते है, तो कुछ पात्र सामाजिक नीतियों के विरुद्ध खड़े होकर अनैतिक व्यवहार करने के लिए मज़बूर हो जाते है, कुछ परिस्थिति के साथ समझौते कर देते हैं ।

'लाल पीली ज़मीन' का कथानक केशव के ईर्द-गिर्द रचा गया है । लेकिन ढेरों ऐसे चरित्र है जो पाठक पर अपना जबर्दस्त प्रभाव छोड़ते हैं । जैसे बड़े, शान्ती, शिवमंगल, शन्नो मौसी आदि । दरअसल चरित्र की दृष्टि से इस उपन्यास की एक विशेषता यह है कि यहाँ व्यक्ति और प्रतिनिधि दोनों ही इतने प्रभावशाली हैं कि यह मानना पड़ता है कि प्रभावशाली चरित्र चित्रण सिर्फ व्यक्ति का ही नहीं, प्रतिनिधि का भी हो सकता है । 'धरती धन न अपना' का मुख्य पात्र है काली । उपन्यास का प्रारंभ और अन्त काली है, चमार जाति की व्यथाओं, शोषणों का खुलापन लेखक काली के माध्यम से करते हैं । लेखक ने उसे पराजित मनोवृत्ति का नायकत्व ही प्रदान किया है । शोषण के विभिन्न रूपों को हमारे सामने प्रस्तुत करने के लिए लेखक ने छज्जुशाह, बड़े मुंशी, महाशय तीरथराम, पंड़ित सोनाराम जैसे पात्रों की सृष्टि की है ।

'गगन घटा घहरानी' का सोनाराम पात्र की सृष्टि में उपन्यासकार ने कहीं भी कल्पना का स्पर्श नहीं किया है । उसकी सृष्टि वास्तव में पूरे उपन्यास के उरांवों की आवाज़ है । सोनाराम उरांव जनजाति के अन्दर के प्रतिरोध की भावना को फूँककर आग के रूप देने केलिए आया हुआ पात्र है । "उसे मार डाला होगा तो हम भी उन्हें मार डालेंगे - यह छोटा सा वाक्य सब के लिए नया था, जिसने कहा था उसके लिए भी, जिन्होंने सुना था उनके लिए भी । यह वाक्य स्वयं में एक फैसला था । किसी सुझाव और तर्क की अपेक्षा नहीं थी इसे"[1] 'सागर की गलियाँ' का प्रधान पात्र है करुप्पन । मछुआरों की ज़िन्दगी का पोल खोल देता है करुप्पन और उनकी समस्याओं का निवारण भी वह करता है। उसकी निर्मिति में आदर्शवाद है । गाँधीवाद और मार्कसवादी चिंतन से प्रभावित करुप्पन में साहस, समर्पण, सेवाभाव, चेतना और कुशल नेतृत्व की क्षमता होती हैं ।

'कालापादरी' का जेम्स खाखा संघर्ष का प्रतीक है । वह धार्मिक व्यक्ति होते हुए भी धार्मिक संकीर्णता से ऊपर है, उसकी प्राथमिकता धर्म नहीं मनुष्य है। सरगुजा जिले को आधार बनाकर उरांवों की दीन हीन स्थिति और उन लोगों के रक्त चूसनेवाले जोंकों के खिलाफ आवाज़ उठाते है । जैम्स खाका स्वयं अनेक प्रश्नों को पाठक पर छोड़ देते है । व्यवस्था के खिलाफ आवाज़ उठाने की ताकत इस पात्र में इतना है कि वह पादरी के सारे बंधनों को तोड़कर स्वच्छन्द विहरण करते है । 'जंगल जहाँ शुरू होता है' का सशक्त पात्र है काली, जो बचपन में अत्यन्त शर्मीला था और स्कूल मास्टर उसे मर्द बनने के लिए ललकारते थे । उनके चरित्र

---

1. मनमोहन पाठक - गगन घटा घहरानी - पृ. सं : 88

में वास्तविक दुनिया के लोगों की झलक मिलती है, वे या तो कुछ लोगों के व्यक्तित्व के घोल मेल से बनाये गये हो सकते हैं या फिर यह भी हो सकता है कि एक व्यक्ति में से दो या तीन चरित्र गढ लिए गए हो। उपन्यास की केन्द्रीय समस्या को समझने के लिए काली का चरित्र पाठक की सबसे ज़्यादा मदद कर सकता है । एक भोले भाले ग्रामीण से एक दुर्दान्त डाकू के रूप में उसके बदलने की प्रक्रिया को संजीव ने पूरे विस्तार और बारिकियों के साथ दिखाया है । कुमार एकतरह से उपन्यास का पात्र होने के साथ साथ नरेटर भी है। एक चरित्र मुरलीपांड़े का भी है जो पेशे से अध्यापक है, लेकिन अपनी सामाजिक ज़िम्मेदारी समझते हुए डाकुओं के विरुद्ध अपनी एक अलग मुहिम छोड़ देता है । दरअसल पांड़े इस पूरे तन्त्र के बीच में एक सशक्त पात्र ही है, जिसके माध्यम से भी लेखक अपनी बात कहते है ।

'बीसबरस' में नायक दामोदर दिल्ली में एक प्रतिष्ठित लेखक और पत्रकार है, जिसपर गांववालों को गर्व है, उसके प्रति सबके मन में आदर - सम्मान और अपनेपन की भावना है । अंगद उपन्यास का एक शक्तिसाली पात्र है जो अशिक्षित, दबंग, शातिरचोर और उजड्ड गंवार कहा जा सकता है । किन्तु उसके माध्यम से लेखक ने यह बताने का प्रयास किया है कि केवल शिक्षा ही नहीं अनुभव और व्यवहार भी व्यक्तित्व को ज्ञानी बना सकता है । इसके अलावा मंगल साहू, केदारनाथ, शिवनाथ, जगदीश, ब्रजैश, बलबीर, डॉक्टर साहब, भुजराम, हनुमान ठाकूर, पंड़ित नंदलाल, लच्छूलाला आदि विभिन्न पात्रों के माध्यम से युवा-बूढ़े, अमीर-गरीब, शिक्षित-अशिक्षित, ब्राह्मण, दलित, किसान, नेता, प्रधान ग्रामसेवक सभी तरह के लोगों की स्वाभावगत और चरित्र गत विशेषताओं के सूक्ष्म और पैनी

दृष्टि से इसप्रकार चित्रित किया गया है कि उनकी भीतरी और बाहरी परतें स्वयं ही पाठक के सम्मुख खुलती चली जाती है।

'झीनी झीनी बीनी चदरिया' में मतीन उपन्यास का मुख्य पात्र है । बुनकर समाज का पर्दाफाश करना ही लेखक का उद्देश्य है । एक आम बुनकर जो एक ओर गिरस्त और कोटिवालों के शोषण का शिकार है तो दूसरी ओर आर्थिक अभाव से ग्रस्त है । साफ सुथरी ज़िन्दगी जीने की एक मात्र इच्छा रखनेवाले राउफ चाचा साड़ी बिनते हुए बिलकुल कबीर लगते है। मतीन का पुत्र इकबाल नवयुग के क्रान्तिकारी का उज्ज्वल रूप है । टी.बी. से बेहाल पति, पुत्र और गृहस्थि को समर्पित अलीमुन का बलिदान अपूर्व पर भारतीय स्त्रियों का परम्परित स्वभाव है । दूसरी ओर सेठ गजाधर प्रसाद, हाजी अमीरुल्ला, हाजी मिनिस्टर, हाजी वलीउल्ला, कामता प्रसाद, रामभजन दलाल आदि आदमखोर भेड़िये हैं ।

आंचलिक उपन्यासों में पात्र समग्र रूप में जिस जीवन को प्रस्तुत करते हैं वह पराजय, असन्तोष एवं पीड़न के बीच भी आशा और उत्साह, का दीप प्रज्वलित किये रहता है । इस रूप में आंतरिक उपन्यास उन सभी यथार्थवादी उपन्यासों से स्वर में भिन्न हो जाते हैं जो कुंठा, पीड़ा और निराशा का प्रचार करते हुए जीवन की असफलता का अहसास कराते है । इसप्रकार आंचलिक उपन्यासों की संपूर्ण सफलता उनकी चरित्र योजना से उद्‌भूत होती है जो विभिन्न प्रकार के पात्रों को संबन्ध सूत्र से जोड़ देती है ।

थल - काल :

औपन्यासिक तत्वों के अन्तर्गत देशकाल एवं वातावरण का अत्यधिक महत्व है । देशकाल का अर्थ है स्थान । यह स्थान अपने परिवेश की विशिष्टता का द्योतक है । जिस युग में लेखक रहता है, उसकी अपनी सामाजिक समस्याएँ एवं सांस्कृतिक विश्वास हुआ करता है, जो मिलकर परिवेश का निर्माण करते है। देशकाल के वर्णन को स्वाभाविक बनाने के लिए स्थानीयता का ज्ञान अपेक्षित होता है । देशकाल के अन्तर्गत किसी भी देश की या समाज की सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक, आर्थिक, परिस्थितियों, आचार-विचार, रहन-सहन, रीति-रिवाज़ तथा समाज की कुरीतियों एवं अन्धविश्वास आदि समझी जा सकती है । डॉ. रामदरश मिश्र के अनुसार 'आंचलिक उपन्यासकार एक दिशा में बहने की अपेक्षा पूरे अंचल की चतुर्मुख यात्रा करता है और उन उपादानों को यहाँ से वहाँ चुनता हो जो मिलकर अंचल की समग्रता का निर्माण करते है।"[1] आंचलिक उपन्यासकार गांव और शहरीय अंचल के विशेष जाति, जनजाति तथा धंधे को लेकर जीनेवालों के जन-जीवन को रूपायित करने के लिए वातावरण का सर्वाधिक सहयोग लेता है । आंचलिक उपन्यासों के यथार्थ परिवेश से पाठक उस प्रदेश की जनजाति से, जाति से गांव और शहरीय अंचल से, विशेष धंधे से परिचित होकर उनके जीवन संघर्ष को जान लेता है ।

विभिन्न भौगोलिक परिवेश में रहनेवाले मनुष्यों के क्रिया- कलापों एवं जीवन पद्धति में पर्याप्त अंतर देखने में आता है । समुद्र तटीय प्रदेश अथवा

---

1. डॉ. रामदरशमिश्र - हिन्दी उपन्यास एक अन्तर्यात्रा - पृ. सं : 190

नदियों के किनारों पर निवास करनेवाले लोगों के जीवन पर जल का व्यापक प्रभाव दिखाई देता है । जल इनकी खाद्य संबन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति का महत्वपूर्ण साधन ही नहीं होता उनकी अर्थ व्यवस्था का मेरुदण्ड भी होता है । यही कारण है कि समुद्र तटीय प्रदेशों में अथवा गहरी नदियों के किनारे मछुओं का जीवन फलता-फूलता रहता है । इसका सुन्दर उदाहरण है डॉ. रामननायर का 'सागर की गलियाँ' । इसमें दक्षिण भारत के केरल प्रदेश के समुद्री मछुओं का पहिनावा, उनका भोजन और उनकी समस्याएँ सभी समुद्र पर केन्द्रित है । समुद्र सरिताँए एवं सरोवर उनके जीवन के आवश्यक अंग बनकर उनकी सामाजिक मान्यताओं और विश्वासों पर छा जाते हैं । विषुव केरल के लोगों का त्योहार है। समुद्र ही उनके लिए देवता है । अपने प्रदेश के सामाजिक, सांस्कृति वातावरण के अनुकूल उनका स्वभाव भी गठता है ।

जंगल में निवास करनेवाली जातियों पर जंगल का स्पष्ट प्रभाव दिखाई देता है। 'गगन घटा घहरानी', 'जंगल जहाँ शुरू होता है', 'कालापादरी', 'हस्तक्षेप', 'अल्मा कबूतरी' आदि जनजातियों पर केन्द्रित आंचलिक उपन्यास है। इनका मूल निवास स्थान जंगल है । उपजाऊ मैदान में रहनेवालों के जीवन में यदि एक सरलता एवं धार्मिकता होती है तो पहाड़ों पर रहनेवालों के जीवन में एक उतार-चढ़ाव होते है । एक परिवेश जनजातियाँ बना देता है और दूसरा ग्राम समाज । भिन्न भौगोलिक परिवेश में निवास करनेवाले लोगों के खान-पान, रहन-सहन, वेश-भूषा, रीति-रिवाज़ तथा धार्मिक, सामाजिक, मान्यताओं में गंभीर अंतर देखने में आता है ।

वीरेन्द्रजैन के 'डूब' और 'पार' देश, काल और वातावरण के अनुकूल रचा गया उपन्यास है। 'पार' आदिवासी जीवन की व्यथाओं पर केन्द्रित एक स्वतन्त्र उपन्यास तो है ही, परिवेश और प्रस्थान बिन्दु की समानता के चलते वीरेन्द्रजैन के पूर्व उपन्यास 'डूब' का पूरक भी है और इससे आगे का इतिवृत्त भी। 'डूब' में वीरेन्द्रजैन लड़ैया गांव की भौगोलिक परिवेश इसप्रकार देते हैं कि "तीन तरफ से पहाड़ों से घिरे एकतरफ बेतवा नदी से छिके इस लड़ैई गांव से जिला शहर जाना है तो दो रास्ते है अक तो नदीवाला रास्ता जिसमें नदी पार करके जाना होता है तब पहूँचते है राजघाट"[1] प्रकृति के साथ गांववालों का अटूट रिश्ता है । "एक रोज़ गांववालों ने देखा कि पहाड़ से थोड़ा हटकर जो बरगद का पुराना पेड़ है, उसके नीचे पत्थर काला नहीं गेरुआ सा है, उसके पास ही अगरबत्ति जल रही है । फिर जाने किसने, किसे, कब जागते में बताया या कि सपने में बताया कि वह पत्थर नहीं साक्षात पथरा बब्बा है ।"[2] बेतवा नदी की तुलना साँप से करके लेखक बताते हैं कि "सांप सी लेटी रही बेतवा भोपाल के बैताल से जब शुरू होती है तो सीधी। फिर जो बल खाती है तो पार नहीं कि कितनी सलवटें लीं इसने"[3]

'पार' में वीरेन्द्रजैन मनुष्य के करतूतों के कारण प्रकृति में आए बदलाव का चित्रण कर कहते हैं कि 'कितना कठिन होता था गांव जाना, मोटर तो बंद हुई थी, चंदेरी से तेंदू पत्ता लेने जो ट्रक जाता था, सड़क मिट जाने के बाद उसका जाना भी बंद हो गया था। बाँधवालों का राजघाट से लड़ैई तक जाना भी बंद हो गया

---

1. वीरेन्द्रजैन - डूब - पृ. सं : 27
2. वीरेन्द्रजैन - डूब - पृ. सं :16
3. वीरेन्द्रजैन - डूब - पृ. सं :32

था । बाँधवालों नें राजघाट से लड़ैई तक जगह जगह से पेड़ उखाड़ दिए थे, रास्ते से मिट्टी निकाल ले गए थे।"[1] उत्तरप्रदेश में बननेवाले टिहरी डैम प्रोजेक्ट और उससे प्रभावित होनेवाला एक व्यापक जनजीवन से उद्‌भूत है उपन्यास 'डूब' और 'पार' की मूलकथा। इस प्रोजेक्ट के विरोध के स्वर पूरे 90 के वर्ष और 91 के मध्य तक को उद्वेलित करते रहे । इससे प्रभावित होकर वीरेन्द्रजैन ने इन दोनों उपन्यास को लिखा । सामाजिक परिवेश के साथ साथ इसमें गांव के तीज-त्योहारों तथा रीति-रिवाज़ों का भी अच्छा चित्रण मिलता है । 'पार' में राउत जनजाति के जीवन संघर्ष और विस्थापन से जुड़ी उनकी समस्याओं को भी समेटा गया है।

प्राकृतिक वतावरण, प्राकृतिक दृश्यों, प्रातः संध्या, रात्री, ऋतुओं, खेतों, खलिहानों आदि संबन्धित होता है । प्राकृतिक वातावरण आंचलिक उपन्यास की सबसे बड़ी विशेषता है । 'यह अन्त नहीं' उपन्यास की कथाभूमि बिहार के भोजपुर की विराट संस्कृति है । उपन्यास की शुरूआत तेज बारिश के वर्णन से होती है और अध्यायों का नाम भी प्रकृति से जोड़कर दिया गया है जैसे तेज बारिश में, फागुन की रात, जेठ की दुपहरी, चैती फसल आदि । पंछिया और पुरवा हवा के अंतर स्पष्ट करते हुए लेखक कहते हैं कि 'पुरवा हवा के कारण खवासडीह के ग्रामवासी परेशान थे । यह पुरवा हवा ऊपर से जितनी ठंडी और मधुर जान पड़ती है अंदर से उतनी ही उमस भरी और तिक्त होती है । इसके विपरीत पछिया हवा ऊपर से ग्रम और रूक्ष लगती है, पर अंदर से एकदम शीतल और सुकून दायक होती है।"[2] सारे गांवों में पंचायत लगाने के लिए एक खास जगह होते है - "गांव

---

1. वीरेन्द्रजैन - पार - पृ. सं :106
2. मिथिलेश्वर - यह अन्त नहीं -पृ. सं :40

का बरगद बड़टोली की पछेआरी पट्टी में था पछेआरी पट्टी के बीचों बीच खड़ा यह बरगद बड़टोली के लोगों का जमावड़ा था । गांव की पंचायत यहीं लगती थीं, गांव में बंदर-भालू नाचनेवाले यहीं तमाशे दिखाते थे, रामलीला और रासलीला का तंबू भी यहीं तनता था तथा श्रीमन नारायणजी का रामायण पाठ भी यहीं होता था।"[3] गांव की अनेक समस्याओं में प्रमुख हे सड़क योजना । प्रस्तुत उपन्यास में लेखक गांव के परिवेश का चित्रण करके सड़क की ओर भी नज़र डाली गयी है । "गांव से कस्बे के बस पड़ाव तक एकदम कच्ची धूल भरी और ऊभड़ खाभड़ थी । कहीं गड़ढे की तरह गहरी हो गई थी , तो कहीं पर्वत की तरह ऊँची। तो कहीं साँप की तरह टेढ़ी।"[2]

इस उपन्यास के द्वारा लेखक ने संपूर्ण बिहार के गांवों की त्रासद स्थिति को अंकित किया है । समकालीन परिवेश में गांव काफी क्रूर होता हुआ दिखाई देता है । गांव की मानवीयता उत्तरोत्तर कम पड़ने लगी है । भारतीय समाज में प्राचीन काल से ही जाति एक सच्चाई बनकर खड़ी है । इस उपन्यास में चित्रित तीनों गांवों में जाति एक प्रमुख कड़ी है । सन् 1993 में बिहार की तीन जातियों कोइरी, कुर्मी एवं यादव ने भोजपुर के एक गांव में 'त्रिवेणी संघ' का गठन कर सवर्ण सामन्ती वर्चस्व के खिलाफ आन्दोलन किया था। लेकिन बाद में आन्दोलन कई धड़ों में बिखरता चला गया । आज भी भोजपुर के खेत खलिहान धधकते हैं । पुलिस प्रशासन को बिहार में पनपने वाले उग्रवाद विवाद में कोई दिलचस्प

---

1. मिथिलेश्वर - यह अन्त नहीं - पृ. सं :40
2. मिथिलेश्वर - यह अन्त नहीं - पृ. सं :42

नहीं है । वे घटना स्थल से कुछ लोगों को गिरफ्तार कर कर्तव्यों की खाना पूरी कर ली जाती है । यही है आज के बिहार की सच।

बिहार और झारखंड के जातिवाद का ज़िक्र करनेवाला दूसरा उपन्यास है राकेशकुमार सिंह का 'जहाँ खिले है रक्त पलाश'। वातावरण सृष्टि द्वारा हत्या का वर्णन करते हुए लेखक कहते हैं कि 'वर्ष अब बंद हो चुकी है । पर रात भर तड़कते मोह से छलनी छलनी हो होगया है आकाश । बची खुची बूँदें कभी कभार टिप्प टिप्प पड़ रही है । टपकती बूँदों से गढैयों के पानी में छोटे बड़े बुलबुले बन बिगड़ रहे है । रक्तिम बुलबुले । पण्डित विजयभान का रक्तमिला पन छोछर पानी"[1] प्रकृति का वर्णन लेखक ने उसी हालत के अनुरूप करके दिखाया है । जिस पलामू पर केन्द्रित यह उपन्यास है वह आज़ादी के सत्तावन वर्ष बाद भी वैसा ही है । बिना बिजली, और सड़क के । रक्त पलाशों की घनी छाया में आज़ादी के बाद पुलीस और पैसेवालों के सहयोग से जंगल दस्ता याने डकैतों लुटेरों का नया सामंतवाद तैयार हुआ है । वह पुराने सामंतवादों से भी बुरे और अमानवीय है। उपन्यास में चित्रित पलामू एक जगह का नाम है । जिसके समकालीन यथार्थ को बताना उपन्यासकार का उद्देश्य है ।

'बीसबरस' में रामदरश मिश्र पाठकों के सामने एक ऐसा आंचलिक परिवेश प्रस्तुत करते हैं जो बिलकुल दूसरे आंचलिक उपन्यासों से भिन्न है । एक बदले हुए गांव का चित्रण ही उनका लक्ष्य है । "शक्ल-सूरत में निश्चय ही कुछ बदलाव आया है । सड़क खड़जा ही सही, सड़क तो है और यह सड़क गांवों के

---

1. राकेशकुमार सिंह - जहाँ खिले है रक्त पलाश - पृ.सं : 6

बीच से जा रही थी । छोटे मोटे वाहन सड़क पर आ जा रहे थे । किसी-किसी गांव के पास हाईस्कूल बनगये थे, जिससे सड़क पर तमाम दूकाने खुल गयी थीं । चाय की दूकानें तो जगह जगह दिखाई दे रही थीं । गांवों के खपरैल के मकान धीरे धीरे पक्के मकान में बदल रहे थे।"[1] वास्तव में गांव से ज़्यादा बदलाव मनुष्य में आ गया है । किसी के मन में तीज-त्योहारों और परंपराओं के प्रति भी कोई आदर भाव नहीं है । आधुनिकता की लहर ने गांव के संपूर्ण रूप को ही बदलकर एक नवीन रूप दे दिया है, जिससे गांव गाव न रहकर छोटे से शहर का बेजान प्रतिरूप बनगया है । ग्रामवासियों में अब पहले जैसा अपनापन और एकता की भावना नहीं है । सभी स्वकेन्द्रित और स्वार्थी हो गए हैं । इसलिए अधिक से अधिक सुविधाएँ प्राप्त करने के लिए गंदी राजनीति को मोहरा बनाया गया हैं । गांव में बदलाव की प्रक्रिया आज़ादी के बाद शुरू हो गयी थी, जिसे अन्य आंचलिक उपन्यासकारों के साथ रामदरश मिश्र ने भी अपने आंचलिक उपन्यासों में पहचाना था । 'बीसबरस' के केन्द्र में हालाँकि छुट्टियों में देखा हुआ गांव है, लेकिन अनेक चरित्रों के भोगे हुए जीवन-सत्य के जुड़ावन से इसमें परिवेश की प्रामाणिकता निर्विवाद और असंदिग्ध रूप में विद्यमान है ।

'तकसीम' में विभाजन पूर्व के पश्चिमोत्तर भारत के गांवों-कस्बों और शहरों की पृष्ठभूमि को अंकित किया गया है । यह कथा द्रोणवीर कोहली ने 1984 -85 में लिखना शुरू किया था । जो 1992 में आकर समाप्त हुई । देश विभाजन के पहले हुए हैदराबाद आन्दोलन का सविस्तार वर्णन इसमें है, उस समय

---

1. रामदरशमिश्र - बीसबरस - पृ. सं : 8

देश में आर्य समाजी स्थापक अपनी जड़ें मज़बूत बनाने की कोशिश में थे और धार्मिक क्षेत्र में कोई सांप्रदायिक दंगे नहीं होते थे । लेकिन रूढ़िगत संस्कारों एवं अन्धविश्वासों से भरे थे थोहा गांव के लोगों का जीवन । लेखक ने एक साथ थोहा, रावलपिंड़ी, कोहमरी, तलागंगा आदि जगहों की धार्मिक, सामाजिक, सांसकृतिक वातावरण को बड़ी रोचकता से चित्रित करके अपनी क्षमता को दिखाया है ।

प्राकृतिक परिवेश प्रकृति के नाना उपनादानों की सहायता से मुखर हो उठता है । वास्तव में प्रकृति के तत्व ही परिवेश का निर्माण करते हैं । इन्हीं तत्वों में से अपनी कथा के लिए उपयुक्त तत्व चुनकर तथा उनको प्रभावशाली ढंग से समाविष्ट करके उपन्यासकार अपनी कथा कहता है । इसका सुन्दर उदाहरण है डॉ. रामन नायर का 'सागर की गलियाँ' । समुद्रीय जीवन से संबन्धित यह कथा पाठकों को बार बार समुद्र के उसतरफ ले जाता है तो कभी कभी समुद्र के इसतरफ भी खड़कर देता है । कभी कभी उपन्यास के कुछ भागों में लेखक का कवि मन भी प्रकट होता है "सागर की अनंत नीलिमा से उदयकिरणों की लालिमा दिखाई दी । किरणें थी शांत, शीतल, आकाश की नीलिमा संतरे के थिलके का रंग दिलानेवाली । उस दिन पूर्व दिशा में बादल नहीं थे । इसलिए किरणें साफ थीं । स्वर्ण रेखा के ऊपर रजत वर्तुल बाल रवि का सिर दिखाई दिया। चंद ही मिनटों में वह ऊपर आ गया। हंसता सा चेहरा, शीतल-प्रकाश, वह स्मित रेखा आकाश की सीमा को तोड़कर सागर की कल्लोलिनियों में छा गई, धरती पर अभिषेक करने लगी"[1] आंचलिक उपन्यासकारों पर आरोप हैं कि वे प्रकृति का

---

1. डॉ. रामन नायर - सागर की गलियाँ - पृ.सं : 9

वर्णन करके उसमें लीन हो जाते हैं, लेकिन इसका अपवाद सा लगता है 'साग़र की गलियाँ' इसमें नायरजी युगीन मछुआरों की संस्कृति प्रस्तुत करते हैं, और उनका मुख्य लक्ष्य युगीन परिवेश के परिणामस्वरूप नैतिकता और मूल्यों में हो रहे परिवर्तन की ओर संकेत करना है । हर जाति, वर्ग विशेष का अपना रहन-सहन, रीति-रिवाज़ तथा मान्यताएँ और विश्वास होते हैं । वैसे ही केरल के समुद्रतटीय मछुआरों के भी है । मछुआरे आज भी भारतीय समाज के लगभग उपेक्षित जन हैं । इन मछुआरों का यह अभिशप्त जीवन स्तर कैसे अभिनंदित हो सकता है, लेखक ने प्रकारान्तर से इस ओर भी संकेत दिया है। केरल के लोगें की सांस्कृतिक परिवेश की ओर प्रकाश डालने को भी वे नहीं भूले हैं ।

मध्यप्रदेश के गहन आदिवासी क्षेत्रों में घटित होती घटनाओं और जंगलों के पार सांस लेते जीवन का यथार्थ चित्रण तेजिन्दर ने 'कालापादरी' में किया है । उपन्यास के शुरूआत से ही लेखक ने एक ऐसा परिवेश खड़ा कर दिया है जो चलचित्र जैसा लगता है, रेलवे प्लाट्फॉम, कूलियों का भागना, फिर उच्च श्रेणी विश्राम गृह का वर्णन, रेलवे स्टेशन की गंदगी का वर्णन आदि । हमें लगता हैं कि आदित्य नामक पात्र अपने आसपास के दृश्यों को नहीं बल्कि चित्रों को देख रहे थे । "कुत्ता बाहर गया तो दो पागल कमरे में दाखिल हो गये । उनके पीछे पीछे तेरह चौदह साल की एक लड़की भी थी। वह भी शायद पगली थी । उसके सिर के बाल खुले थे, मुंह गंदा था, जिसमें सोलाट बाहर टपक रही थी । उसने हरे रंग का स्कर्ट पहन रखा था और ऊपर फटा ब्लाऊज़"[1] कुछ वर्णन पाठकों के

---

1. तेजिन्दर - कालापादरी - पृ. सं : 3

मन में स्मृति छाप छोड़ देते हैं । आज़ादी के इतने वर्षों बाद भी यहाँ दस करोड़ से ज़्यादा ऐसे लोग हैं, जिन्हें संवैधानिक अधिकार भी प्राप्त नहीं हुए हैं, यहाँ अभी भी बावन करोड़ लोग निरक्षर हैं । तीस करोड़ से अधिक लोग गरीबी की रेखा के नीचे रहते हैं । तेजिन्दर ने मध्यप्रदेश के सरगुजा जिले के उरांव में आदिवासियों के विसंगत जीवन धार्मिक-सत्ता केन्द्रों द्वारा शोषण, धर्मान्तरण, राजनीति एवं ज़मीन्दारी के मुद्दों को एक साथ उठाया है । 'कालापादरी' के द्वारा एक हाशिये का समाज का खुलापन होता है ।

उरांवों की कथा कहनेवाला दूसरी उपन्यास है मनमोहन पाठक का 'गगन घटा घहरानी'। उपन्यासकार के शब्दों में - "इसतरह खिल खिलाती हुई चाँदनी को होश कहाँ है । उसे यह ज्ञान कहाँ है कि कौन है पेड़-कौन चट्टान और नदी या पहाड़। उसे इन सोते हुए स्त्री-पुरुषों, बच्चों-बूढ़ों का भी ज्ञान कहाँ है । वह तो सब के उघाड़े जा रही है । पर्दे - पर्दे उड़ाए जा रही है।"[1] लेखक अपने इस कथा वृत्तान्त में प्रकृति के मानवीकरण द्वारा सरस जीवन स्थितियाँ गढ़ने की बजाय दैनदिन जीवन की कुरूपता हो व दारिद्र्य को प्राकृतिक रूपकों में ढालते हैं । जैसे - "तार तार फटी धोती सी आसमान की दरिद्रता में हवा उड़ रही है।"[2]

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद संविधान में आदिवासी को संरक्षण मिला और सरकार की ओर से विकास की मुख्य धारा में लाने के लिए विशेष प्रयास हुआ । पर विकास के नाम पर जो लूट मची और उससे बिचौलियों की जो बाढ़ बन आयी

---

1. मनमोहन पाठक -गगन घटा घहरानी - पृ. सं : 78
2. मनमोहन पाठक - गगन घटा घहरानी - मनमोहन पाठक - पृ. सं : 108

है वह स्वतंत्र भारत के सामाजिक जीवन की बड़ी त्रासदी है । उसका मार्मिक चित्रण श्रवणकुमार गोस्वामी का उपन्यास 'हस्तक्षेप' में किया गया है । भारतीय राजनीति के अपराधीकरण के उदाहरण बिहार और झारखंड़ में कुछ अधिक ही मिलते हैं । इसकी ओर इशारा करना भी लेखक का उद्देश्य रहा है ।

संथाल जनजाति के जीवन गाथा का वर्णन संजीव ने 'धार' में किया है। कोयला क्षेत्र में काम करनेवाले आदिवासी मज़दूरों की यह कथा संजीव ने सहानुभूति और सहृदयता के साथ कही है । बांसगड़ा के संथालों के रहन-सहन का बड़ा यथार्थ चित्रण करके लेखक पाठकों को आश्चर्य में डालते हैं । "एक मालगाड़ी की चींटी की चाल से प्लेटफॉम में प्रवेश कर रही थी, हर वैगन की मूँर से चीनी झरने सी झर रही थी, और टिपका, लत्ती, शाम तथा दूसरे बच्चे और भिखारी सिपाही के डण्डों के बावजूद एक दूसरे से जूझते हुए चीनी झेलियों में भर रहे थे । मालगाड़ी चली गयी तो बिखरी चीनी को वे खभर-खभर बटोरकर भरने लगे - थूक, बलगम, पेशाब पर गिरी पांवों से कुचली चीनी"[1] उपन्यास के शुरू में ही बांसगड़ा के वातावरण की सृष्टि पूरे उपन्यास की पारिस्थितिक हालत को उजागर करती है - "आगे बढ़ते ही मंगर को किसी दम घोंटू गंध का एहसास हुआ। यार्ड की फल्ड लाइट के उजाले के बावजूद गांव पर काले - काले साये मँडराते हुए नज़र आ रहे थे, उसके बीच लालटेन और ढिबरियों के जहाँ खिले फूल किसी खौफ में काँप से रहे थे । आगे छावनी नुमा कारखाना था । जिससे निकलता भूरा-भूरा धुआँ पूरे गाँव पर उड़ रहा, जहाँ-जहाँ से खाँस ने का और उबकाइयों की आवाज़ें आ रही थी।"[2]

---

1. संजीव - धार -पृ. सं : 30
2. संजीव - धार - संजीव - पृ. सं : 14

'जंगल जहाँ शुरू होता है' में संजीव वातावरण की जटिलता तथा तनावपूर्ण व संघर्ष पूर्ण स्थिति को अभियान देने में सफल हुआ है, इसमें सामाजिक और आर्थिक विषमता, मूल्यहीनता, अलगावपन, टूटन, घुटन, संत्रास, भय, राजनीतिक पतन, अवसरवादिता, अनुशसन हीनता व भ्रष्टाचार आदि प्रश्नों को पाठकों के सामने प्रस्तुत किया गया है । आज के समाज में जीवित रहने की शर्तें इतनी क्रूर और अमानवीय हो गई है कि सामान्य व्यक्ति इसके दबाव के झेल पाने में स्वयं को असमर्थ पाता है । उपन्यास में ग्रामीण जीवन के सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य एवं वहाँ फैले अंधविश्वास आदि को अभिव्यक्ति मिली है । मिनी चंबल के क्षेत्र की थारू जनजाति को जंगल में मज़बूरन संघर्षमय और शोषित जीवन बिताना पड़ता है । जो कि स्वाधीन भारत में अभाव, पिछड़ापन, शोषण, यंत्रण, उत्पीड़न, विस्थापन, भूख जैसी समस्याओं से त्रस्त है । प्रस्तुत उपन्यास व्यवस्था के हथकण्ड़ों के नीचे दबे दलितों के जीवनगाथा का दस्तावेज़ है । इस उपन्यास में संजीव ने ज़्यादातर ऐतिहासिक संदर्भ दिए हैं ।

किसी समाज की मानसिकता और चरित्र के प्रस्तुतीकरण में उस समाज का यथार्थवाद चित्रण मुख्य होता है । नटों के डेरे पर सांझ उतरने का दृश्य 'शैलूष' में शिवप्रसाद सिंह इसप्रकार चित्रित करता है कि "पूरबी आकाश में भुडुकवा (शुक्र) उग आया था । केवल आधे घंटे की देर थी । आसमान नये दिन के उजास से भरने लगा था । रेवतीपुर के पूरब वाले छबरे से एक काफिला चला आ रहा था । झांव झांव करते कुत्तों और रंभाते हुऐ पडरुओं की आवाज़ें सत्ती स्थान तक मंडराने लगी थी ।"[1] नट लोग बंजारे की तरह इधर उधर भटके

1. शिवप्रसाद सिंह - शैलूष - पृ. सं : 10

रहते हैं, और इस वातावरण सृष्टि में लेखक सफल हुए हैं क्यों कि लेखक स्वयं इन नटों के जीवन से परिचित हैं । नटों की ज़िन्दगी के अन्तर्विरोध, उनकी सांस्कृतिक चेतना में आते हुए बदलाव, रीति-रिवाज़, लोकगीत, लोक-विश्वास आदि का वर्णन है। शैलूषों की कथा के लिए लेखक ने ऐतिहासिक वातावरण को अपनाया है ।

'झीनी झीनी बीनी चदरिया' में अब्दुल बिस्मिल्लाह का ध्यान प्रकृतिक, भौगोलिक परिवेश से ज़्यादा बुनकरों की सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक वातावरण की ओर है । त्योहारों का वर्णन करके लेखक इन बुनकरों के सांस्कृतिक वातावरण पर प्रकाश डालते हैं। "सुबरात का दिन है। घर घर में हलवा बन रहे है । मुहल्ले की लड़कियाँ साटन की सलवार और ल्यूरेक्स की पेरानी (कमीज़)पहनकर बालों में अपनी अपनी भाभियों से अफशां के बेल बूटे बनवाकर इधर उधर चहक रही है ।"[1] इसीप्रकार लेखक इसमें वर्णित अनेक त्योहारों का वर्णन करके पाठकों को भी उस त्योहारों में शामिल कर देते हैं । राजनीति का अपराधीकरण उपन्यास का एक मुद्दा है ।

भूमण्डलीकरण के दौर में भारत के किसान मज़दूर खासकर आमजनता की स्थिति बहुत दयनीय हो गयी है । सरकार की ओर से इन्हें कोई मदद नहीं मिलती । उपन्यास में महज बनारस और उसके आसपास के मज़दूरों, बुनकरों की ज़िन्दगी है ।

---

1. अब्दुल बिस्मिल्लाह - झीनी झीनी बीनी चदरिया - पृ. सं : 19

उपन्यास की शुरूआत से ही जगदीशचन्द्र 'धरती धन न अपना' में पाठकों को चमादड़ी गांव के परिवेश से परिचय कराता है । "गांव से बाहर एक हवेली में एक दीया टिम टिमा रहा था । पास ही एक खेत में हल चल रहा था, और थोड़े-थोड़े समय के बात तुत-टकटक...तेरे जननेवाले को चोर ले जायें.....चल पुत्रा शेर क तरह छाती के बल पर चल.....की आवाज़ें आ रही थी और साथ ही घुँघरू ज़ोर से छन छना उठते थे"[1] उपन्यासकार ने उपेक्षित हरिजनों की विवशता प्रताड़ना एवं व्यथा को चित्रित करके, दलित वर्ग में जो क्रांति की चिंगारी फूँकी है वह काम महत्वपूर्ण नहीं है । उपन्यास के लेखन की प्रेरणा खुद लेखक की बालपन के अनुभवों से निसृत है । धर्मान्तरण की समस्या आज भी हमारे समाज में है । इस महाविपत्ति की और भी लेखक ने इशारा किया है ।

गोविन्दमिश्र का 'लाल पीली ज़मीन' के परिवेश में भयानक हिंस्राशक्ति है और व्यक्ति उसके सामने अपनी समस्त जिजीविषा और जीवट के साथ असहाय है । उपन्यास में चित्रित अंचल के पहाड़, किला, बुर्जा, पेड़ हीन ज़मीन, काली चट्टानें, उनको घेरनेवाला मंदिर और कुइयां, जंगली तेंदुए, सांड़ों की लड़ाई, सर्प मैथुन को किंकर्तव्य विमूढ़ होकर देखनेवाले लोग भाग सब स्थानीय वातावरण को प्रस्तुत करते हैं । यह उपन्यास एक ओर बुन्देलखंड की लड़ाकू एवं तीज-तर्रार संस्कृति को उजागर करता है वहीं दूसरी ओर वह आज की विसंगतियों का भी एक सजीव चित्रण उपस्थित करता है । उपन्यास का परिवेश एक छोटे शहर या कस्बे का है जो न ग्राम है, न शहर फिर भी दोनों का अजीब और बेमेल मिश्रण है । लेखक ने कही भी उपन्यास में वर्णित शहर का नाम नहीं बताया है । इसके माध्यम

---

1. जगदीशचन्द्र - धरती धन न अपना - पृ. सं : 9

से कथाकार ने छोटे शहरों की मूलभ्रष्ट, शील-संस्कार हीन और उखड़ी हुई ज़िन्दगी का चित्र प्रस्तुत करने का प्रयास किया है । इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि स्वतन्त्र भारत में गांव और शहर दोनों में ही सांस्कृतिक, नैतिक और मूल्यगत संकट पैदा हुआ है ।

जगदम्बा प्रसाद दीक्षित ने मुर्दाघर में अपने पात्रों का निर्माण करने के लिए तथा उनके मानस की निर्मिति के लिए परिवेश को अत्यधिक महत्व दिया है। महानगरों में एक तरफ वैभव होते है तो दूसरी तरफ झुग्गी - झोपड़ियाँ, अंधेरे और कूड़े के ढेर में बेकारी और बैचारगी के मध्य सांस लेते हुए लोग जी रहे हैं । महानगर की एक विशेषता है चारों ओर की बदबू, रूम की बदबू, रास्ते की बदबू, शौचालय की बदबू आदि । झुग्गी - झोंपड़ियों के बगल में बड़े बड़े गन्दगी के नाले बहते हैं । कंचरों के ढ़ेर पर लोग रहते हैं । महानगरों की इमारतों के समान्तर फुटपाथों पर भी लाखों- करोड़ों मनुष्य बसते हैं, जो कुत्ते, कौओं और रेंगते हुए कीड़ों से भी बदतर ज़िन्दगी बसर करते हैं और जिन्हें समाज की जूठन और गन्दगी के अतिरिक्त कुछ समझ नहीं पाता । "तेज हवा का झोंका.....तेज़ बदबू । कोढ़ी.....गली उँगलियों वाला.....दोनों हथेलियों में दबाकर कुछ खाने की कोशिश करता है । एक लँगड़ी कुतिया चाटती जाती है खुजली की चमड़ी को । निकल जाते हैं सामने से सुअरों के पिल्ले । कचरे के ढेर पर जली हुई सिगरेटें.....जूठन.....आवारा लड़कों । ढूँढता जाता है पागल आदमी.....कुछ नहीं मिलता।"[1] उपन्यास के प्रारंभिक पृष्ठों से इस बात का आभास हो जाता है

---

1. जगदम्बा प्रसाद दीक्षित - मुर्दाघर - पृ. सं :7

कि वेश्यावृत्ति के कारण आर्थिक शोषण, एक ऐसी व्यवस्था है जो मनुष्य द्वारा मनुष्य के को शोषण को उचित ठहराती है और इसप्रकार एक बहुत बड़ा वर्ग अमानवीय और अनैतिक जीवन जीने के लिए मज़बूर किया जाता है ।

विवेकीराय का 'समरशेष है' का घटना स्थल पूर्वी उत्तरप्रदेश का अविकसित भू-भाग है । भौगोलिक परिवेश से तात्पर्य उन प्राकृतिक परिस्थितियों से होता है, जिनमें कोई समाज निवास करता है । लेखक गांव के एक एक दृश्य को पूरी तन्मयता के साथचित्रित करके गांव का पूरा दृश्य पाठक के सामने प्रस्तुत करते हैं । "शर्माजी का चिलम पीना, झोंपड़ी में एक लालटेन रखी थी, हुक्का गुड़गुड़ाते रहे । वह बरगद का पेड़, वह कुआँ, वह गड़ही के तीर पर बैसवारी, वे लंबे मकान की खपरैलें, वह बैलों की नाद-चरन और वे खंड़हर की अधगिरी नंगी भित्तियों सभी मौन है ।"[1] उनका दूसरा उपन्यास 'सोनामाटी' में गांव की नारकीयता का मुख्य कारण आर्थिक शोषण और स्वार्थ परता बताया गया है । प्राचीन काल में गांव स्वयं पूर्ण थे । लेकिन वर्तमान में यह स्वयं पूर्णतः खंड़ित हो चुका है। पिछड़े प्रदेशों के गांव, गांव की विभिन्न जाति और जनजातियाँ आर्थिक दृष्टि से विकलांग पाये जाते हैं । गांव में रहनेवाले लोगों की आय का प्रमुख साधन कृषि है । विकास योजनाओं का लाभ उच्च वर्ग तक सीमित रहता है । सामान्य कृषक वर्ग हमेशा वंचित रहता है । करइल क्षेत्र की बरसाती नारकीयता, अगहनी हरियाली, बासन्ति इन्द्धनुषी छटा, बाढ़ की विभीषिका, सूखे का प्रकोप, मांगलिक अवसरों एवं पर्वों पर गाये जानेवाले लोकगीत, स्थानीय मेलों आदि के चित्रण से करइल की वातावरण सृष्टि में लेखक सफल हुए हैं ।

---

1. विवेकीराय - समरशेष है - पृ. सं : 37

'ज़िन्दगीनामा' पूर्णतः पंजाब की भूमि से जुड़ा है । विभाजन पूर्व पंजाब के ग्रामीण परिवेश का वर्णन लेखक ने विस्तारपूर्वक अत्यन्त आत्मीयता से किया है । लेखिका का बाल्यकाल इसी अंचल में व्यतीत हुआ । गुजरात ही इस उपन्यास का केन्द्र बिंदू है । यह किसी व्यक्ति का अपना पृथक परिचय नहीं है । इसमें सभी को एक इकाई मानकर उनके जीवन दर्शन, आचार-विचार, रहन-सहन, सभ्यता, संस्कृति आदि का वर्णन किया गया है । यह उपन्यास बीसवीं शताब्दी के आरंभ की पृष्ठभूमि को लेकर रचा है। इसमें ब्रिटीश साम्राज्य का स्थित होना, औद्योगिक क्रान्ति, पूँजीवादी का प्रवेश, भौतिक कांग्रेस की स्थापना, हिंदू मुस्लिम मतभेद, आर्थिक विषमता, वर्गभेद सभी कुछ स्पष्ट दिखाई देता है । इसमें ऐतिहासिक घटनाओं का यथावत् अंकन लेखिका का उद्देश्य नहीं बल्कि उस घटना के प्रभाव तले जिए जा रहे अंचल विशेष के जीवन का जीवन्त चित्रण ही लेखिका का उद्देश्य रहा।

बीसवीं शति के उत्तरार्ध के हिन्दी उपन्यासों में महिलाओं की जुझारूवृत्ति को प्रश्रय देने वाले उपन्यासों का सृजन हुआ । उनमें एक सशक्त उपन्यास है मैत्रेयी पुष्पा का 'चाक'। भारतीय संस्कृति में नारी का ऊँचा स्थान है । पर पता नहीं कब नारी का इस ऊँची स्थिति से पतन हुआ । आज उसका शोषण जाने, अनजाने विभिन्न ताकतों से हो रहा है । उपन्यास की शुरूआत ही लेखिका रेशम की मृत्यू से कर देती है । "इस गांव के इतिहास में दर्ज दास्तानें बोलती है - रस्सी के कंदे पर झूलती रुक्मणी, कुएँ में कूदनेवाली रामदेई, करबन नदी में समाधिस्थ नारायणी.....ये बेबस औरतें सीता मइया की तरह भूमिप्रवेश कर अपने शील

सतीत्व की खातिर् कुरबान हो गई । ये ही नहीं और न जाने कितनी"[1] उपन्यास के केन्द्र में उत्तरभारत में आगरा के पास का अतरपुर नामक गांव है। पूरे उपन्यास में ग्रामीण परिवेश कायम रखने का प्रयास पुष्पाजी ने किया है । इसके लिए गांव के अनेक लोकगीत,लोककथा, मेला-त्योहारों आदि का समावेश बड़े मार्मिक ढंग से किया गया है ।

साधारण दलित मज़दूर वर्ग की आजिविका से लेकर शिक्षा के क्षेत्र के आरक्षण तक की स्वातंत्र्योत्तर भारत की सारी राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक वातावरण को उपन्यास में समेटकर पाठक को सोचने के लिए मैत्रेयी पुष्पा का दूसरा उपन्यास 'इदन्नमम' बाध्य करती है। यह बुंदेलखंड़ ग्रामीण संस्कृति की धरोहर है । सांप्रदायिक दंगे, मज़दूरों का शोषण, चुनाव, नौकरशाही की रिश्वतखोरी, राजनीति का ढोंगं, सम्मिलित परिवार की गृहस्थी, जागीरदार एवं ठेकेदारों की कपटता, इनकी चापलूसी में स्वयं धोखे में पड़नेवाले निरीह ग्रामीण, विधवा की दयनीय दशा आदि समस्याओं के साथ गांव के गीत, पर्व, आहें, रूढ़ि और परंपराओं में जकड़ी ग्रामीण जनता के परिवेश को अंकित करने में सफल हुए हैं।

'अल्मा कबूतरी' में मैत्रेयी पुष्पा ने बुंदेलखंड़ की कबूतरा नामक जनजाति का समाज, जीवन -पद्धति, संस्कृति आदि का समावेश किया है । इसमें दो समाजों को चित्रित किया गया है । पहला कबूतरा समाज और दूसरा सभ्य समाज । भारत में आज भी कुछ ऐसी अभागी जनजातियाँ हैं जो आज़ादी का अर्थ नहीं जानती । उनके पास न ज़मीन है न ठिकाने का घर बार। आज़ादी प्राप्त

---

1. मैत्रेयी पुष्पा - चाक - पृ. सं :7

होकर सालों बीतने के बाद भी नई पीढ़ी को सम्मानपूर्वक जीवन का कोई विकल्प नहीं दिया गया है । कबूतराओं की जीवन-पद्धति का छोटा सा अंश भी लेखिका की दृष्टि से बच नहीं पाया है । कबूतराओं की जीवन-पद्धति, उनके आस-पास के परिवेश, लोकगीत, लोककथा, त्योहार आदि का चित्रण इतना सहज हो गया है कि हम भी इन्हें भूल न जाएँगे ।

ग्राम्य समाज, शहरीय समाज, जाति, जनजाति, धंधा केन्द्रित समाज आदि को उद्‌घाटित करने के लिए समकालीन उपन्यासकारों ने जिन आंचलिक परिवेश को याने भौगोलिक, प्राकृतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक और आर्थिक परिवेश को अपने उपन्यास में समेटा है । वह उपन्यास के लिए गर्व का विषय हो गया है ।

शैली शिल्प :

शैली के द्वारा विचारों की अभिव्यक्ति की जाती है । शैली से लेखक का व्यक्तित्व साफ झलकता है । शैली के द्वारा लेखक के विचारों एवं अनुभूतियों की अभिव्यक्ति होती है तथा इससे संरचना विशिष्ट बनती है । औपन्यासिक शैली कई प्रकार की है - आत्मकथात्मक, विवरणात्मक, पत्रात्मक, डायरी, रिपोर्ताज शैली आदि । आंचलिक उपन्यासों की आंचलिक शैली प्रदेश विशेष के जन-जीवन के द्वन्द्व एवं संघर्ष से प्रेरित एवं प्रभावित हुई है । डॉ. आदर्श सक्सेना के अनुसार - "आंचलिकता की प्रवृत्ति -भावना की भूमी पर प्रतिष्ठित होती है, क्यों कि आंचलिक उपन्यासकार अंचल की गहन जानकारी से प्रेरित होकर उसे गहराई से उद्‌घाटित करने की कामना से रचना करता है । परिणामस्वरूप विभिन्न

औपन्यासिक तत्व आंचलिक निरूपण के अधीन हो जाते है । आंचलिक शैली की यही विशेषता है कि आंचलिक रंग सभी तत्वों को रंजित करके उन्हें अंचलोन्मुख कर देते है।"[1] इस धारा को लेकर लिखनेवाले लेखक ग्राम जीवन के, शहरीय अंचल के, जनजाति, जाति और विसेष धंधे को लेकर जीनेवालों के सामूहिक संघर्ष और संस्कृति को अभिव्यक्त करने के लिए अपनी शैली में वर्णनात्मकता, विवेचनात्मकता, सांकेतिकता, व्यंग्यात्मकता, विश्लेष्णात्मकता आदि को यथास्थान प्रश्रय देते हैं । उनका प्रतिपाद्य विषय सभी पद्धतियों एवं तत्वों को अंचलोन्मुख करके उनकी शैली को नवीनता एवं मौलिकता प्रदान करता है।

आंचलिक उपन्यासकार आंचलिक जीवन के कुशल चित्रण के लिए कुछ नवीन उद्भावनाएँ करते हैं । यद्यपि लोक जीवन के विभिन्न पक्षों का उद्घाटन सामान्य उपन्यास में भी हो जाता है तथापि आंचलिक उपन्यास इन पर विशेष ध्यान देता है, इसलिए वह खान-पान, वेश-भूषा, मान्यताएँ, विश्वास, त्योहार, उत्सव आदि का विस्तार से चित्रण करता है । इसका सुन्दर उदाहरण हमें समकालीन आंचलिक उपन्यास 'चाक', 'इदन्नमम', 'अल्मा कबूतरी', 'डूब', 'पार', 'यह अन्त नहीं', 'लाल पीली ज़मीन', 'गगन घटा घहरानी', 'मुर्दाघर', 'कोई अजनबी नहीं' आदि उपन्यासों से मिलता हैं ।

वीरेन्द्रजैन का 'डूब' और 'पार' आत्मालाप प्रलाप शैली पर लिखा गया उपन्यास है। यह शैली वर्णनात्मक शैली के समान ही है, जो वस्तु के क्रमिक विकास को ठोस करने की जगह उस पर की गई प्रतिक्रियाओं से हमें उसकी तस्वीर

---

1. डॉ.आदर्श सक्सेना - आंचलिक उपन्यास और उनकी शिल्प विधि - पृ. सं :300

दिखाती है । इसमें फ्लैश बाक शैली का भी प्रयोग किया गया है । इसमें लड़ैई के नामकरण के संबन्ध में उन्होंने इस शैली का प्रयोग किया है । "लड़ाई से बेहाल हुए हम लोगों ने यहाँ डेरा डाला, इसलिए यह गांव लड़ैई नाम से बजने लगा।" [1]

इस उपन्यास में लेखक बीच बीच में प्रश्न करते हुऐ दिखाई देते हैं - 'वे पूछते हैं - "कैसे फरेब है ये? कितना बड़ा झूठ है ये? कैसी खुशहाली है ये? कैसा बाँध है ये? नरबली लेगा ? धोखा है ये । जो हमें लीलेगा वह औरों को भी लीलेगा। वह फिल किसी को खुशहाल नहीं करेगा बाघ को आदमी का मांस चखा दे तो वह आदमखोर हो जाता है । नरभक्षी हो जाता है वह और बाँध को?"[2] यहाँ वीरेन्द्रजैन ने रिपोर्ताज़ की शैली अपनायी है । जो हो रहा है उसका कथन वे वर्तमानकाल में करते हैं । इसप्रकार करके वे न किसी निष्कर्ष पर पहूँचते हैं और न पूर्व निष्कर्षों से हमें आश्वस्त करते हैं । यहाँ वे वृत्तान्त का नया वाचन करते है, 'पार' उपन्यास में भी हम इस शैली को देख सकते हैं । "जीते रह सकोगे ? जीना चाहोगे ? जीने देगा कोई तुम्हें बिना गम के ? बोलो, माते बोलो"[3] छोटे छोटे वाक्यों से पात्रों के अन्तर्द्वन्द्व एवं संघर्षों को विश्लेषित करने के लिए मनोविश्लेष्णात्मक शैली का प्रयोग 'पार' में ज़्यादा किया है "मुइया दुविधा में , मुइया घोर संकट में, मुइया विकट उलझन में, मुइया निपट अकेलेपन में।"[4]

रिपोर्ताज़ का समाचार पत्र कला से गहरा संबन्ध है । पर वह समाचार पत्रों की इतिवृत्तात्मक शुष्क शैली में न होकर साहित्यिक शैली में लिखा जाता है।

---

1. वीरेन्द्र जैन - डूब - पृ. सं : 17
2. वीरेन्द्र जैन - डूब - पृ. सं : 108
3. वीरेन्द्र जैन - पार - पृ. सं :167
4. वीरेन्द्र जैन - पार - पृ. सं :10

रिपोर्ताज़ में कथातत्व भी होता है, घटना या दृश्य प्रधान होता है, व्यक्ति नहीं, पर जो भी पात्र आते हैं उनका चित्रण मनोवैज्ञानिक, प्रभावपूर्ण और निखरा हुआ होता है । रिपोर्ताज़ शैली में लिखा गया उपन्यास है रामदरशमिश्र का 'बीसबरस'। लेखक ने स्वयं कहा है कि यह उपन्यास रिपोर्ताज़ शैली में लिखा गया है । एक पत्रकार की भांति इसमें प्रत्येक पात्र और स्थिति का वर्णन किया गया है, किन्तु इसे केवल रिपोर्ताज़ नहीं कहा जा सकता। दामोदर या लेखक जिसतरह से प्रत्येक पात्र और स्थिति की स्मृतियों में डूबकर, उसके परिवर्तनरूप का तुलनात्मक वर्णन करता है और प्रत्येक पात्र से उसका जैसा आत्मिक लगाव और अनुराग है वह उसे केवल पत्रकार नहीं रहने देता। उसमें संस्मरण की गहरी संवेदना जुड़ जाती है, जो पाठक के हृदय को भी छू लेती है ।

संक्षिप्त लेकिन उद्देश्यपूर्ण संवाद पात्रों की मनःस्थिति और उनकी चरित्रगत विशेषताओं को इसतरह प्रकट करते हैं कि दामोदर के साथ-साथ पाठक भी इसी दुःख, दर्द, घुटन, टूटन के अहसास में बह जाता है । सीधी-सरल भाषा और वर्णनात्मक शैली लेखक के भावों की सफल संवाहिका है । जहाँ कहीं भी वर्णन की अधिकता होने लगती है, तो किसी अन्य पात्र के साथ दामोदर का वार्तालाप स्थिति को नीरस होने से बचा लेता है । स्थान स्थान पर व्यंग्य के पुट ने भी स्थितियों को और भी ग्राह्य बना दिया है । कभी स्मृतियाँ उपन्यास को आगे बढ़ाती हैं तो कभी प्रत्यक्ष अनुभव और संपर्क में आये चरित्र उपन्यास का स्वरूप गढ़ते हैं । रिपोर्ताज़ धर्मी बयान उपन्यास में जहाँ-जहाँ प्रभावशाली रूप में है, वहाँ-वहाँ कुछ स्थलों पर ललित निबंध का स्पर्श भी सर्जनात्मकता को बढ़ाता है ।

---

1. वीरेन्द्र जैन - पार - पृ. सं :10

आत्मकपदीय शैली में लेखक अपने आप एक पात्र के रूप में प्रस्तुत होकर भोक्ता के रूप में सभी औपन्यासिक घटनाओं का विवरण देते है । इस शैली से लिखा गया उपन्यास है तेजिन्दर का 'कालापादरी'। इस शैली ने न केवल लेखक या प्रमुख पात्र की आत्मकथा का वर्णन नहीं बल्कि उससे संबन्धित समाज, उसके परिवेश और अन्य पात्रों के मन का वाचन भी प्रस्तुत करते हैं । कथावाचक की उपस्थिति ने इसे एक भिन्न संरचना प्रदान की है। लेखकीय संलग्नता इसमें दृष्टिगोचर होता है । इसमें तेजिन्दर की उपस्थिति आदित्यपाल के रूप में है । आदित्यपाल जैसे एक लेखकीय सुविधा भी है और व्यक्तिगत तौर पर एक चुनौती भी । लेखक की निजी संलग्नता ने इस कृति को अपनी विधागत सीमाओं को काफी हद तक तोड़ा है । यह रचना हमें विनोदित नहीं करती बल्कि एक प्रकार के आत्मानुसंधान परक उद्वेलन में खींच ले जाती है ।

प्रमुख शैलियों में एक है विश्लेषणात्मक शैली । इसमें व्यक्ति के मन के मनोवैज्ञानिक पहलुओं के विश्लेषण के साथ जीवन के यथार्थ और आदर्श की मीमांसा होती है । रचनाकार केवल सर्जक नहीं होता, विश्लेषक भी होता है उसे समाज शास्त्री की भी भूमिका निभानी पड़ती है । इन तथ्यों को सही ढंग से इस्तेमाल करने में श्रवणकुमार गोस्वामी सफल हुए हैं । उनका उपन्यास 'हस्तक्षेप' इसका सुन्दर उदाहरण है । उरांव जनजाति की कथा कहते हुए लेखक अपनी अनुभूतिमयता, कल्पनाशीलता का ही परिचय नहीं देती अपितु ज्ञान का विस्तार और दृष्टिकोण का भी प्रमाण प्रस्तुत करता है ।

यथार्थवादी शैली में रचित उपन्यास है अब्दुल बिस्मिल्लाह का 'झीनी झीनी बीनी चदरिया' यथार्थवादी शैली को विचारात्मक शैली भी कह सकते है, क्यों

कि विचार बुद्धि से प्रेरित होता है । अतः उसमें तथ्य एवं वास्तविकता पर दृष्टि रहती है । इसके एक खण्ड में लेखक स्वयं एक पत्रकार के रूप में प्रकट होकर कुछ संवाद करके अप्रत्यक्ष हो जाते हैं । कथा संगठन, दृष्टि, अनुभव सिद्धान्त, लोकरंगों की सरस छविमयता, व्यक्ति चरित्र, गठन की समरसता, भाव-भाषा, अनुभूतियों के प्रस्तुतीकरण आदि इस उपन्यास की शैलीकृत विशेषताएँ ही हैं ।

ज़्यादातर समकालीन आंचलिक उपन्यास वर्णनात्मक शैली में ही लिखा गया है । विवेकीराय के 'सोनामाटी' और 'समरशेष है', मैत्रेयी पुष्पा का 'चाक' और 'इदन्नमम', डॉ. रामन नायर का 'सागर की गलियाँ', द्रोणवीर कोहली का 'तकसीम', जगदीश चन्द्र का 'धरती धन न अपना' आदि। उपन्यास लेखन की पद्धतियों में परंपरागत और सबसे अधिक प्रचलित वर्णनात्मक शैली ही है।

इस शैली के उपन्यासों की कथावस्तु, पात्र तथा स्थितियों का वर्णन उपन्यासकार तृतीय पुरुष के रूप में करता है । भूत, वर्तमान, भविष्य से संबन्धित ठघटनाओं तथा वैचारिक दृष्टिकोण आदि बातों का यथा संभव संयक वर्णन एवं विवेचन वर्णनात्मक शैली द्वारा होता है । लेखक घटनाओं, पात्रों तथा वातावरण आदि का वर्णन बिना किसी व्यज़ंन या संकेत के सभी प्रसंगों, क्थ्यों तथा विचारों को प्रगल्भ आयामों को प्रस्तुत करके विस्तार से उनकी पर्तों को खोला जाता है ।

विवेकीराय की वर्णनशैली में अद्‌भुत आकर्षण है । यह हम 'सोनामाटी' और 'समरशेष है' उपन्यासों के अध्ययन से महसूस कर सकते हैं । इन दोनों उपन्यासों के रसास्वादन के लिए पाठक में विशेष प्रकार के संस्कार की आवश्यकता है । जिनको ग्रामीण जीवन से अरुचि है, ग्रामीण शब्दावली से अपरिचय है,

ग्रामीण परम्पराएँ और प्रकृति जिनके लिए किंवदतिंयाँ मात्र है वे कभी भी इन उपन्यासों के मर्म तक नहीं पहूँचेंगे । 'सोनामाटीमें चुनाव प्रचार के मध्य रसाल यज्ञ, विवाह के लोकाचार, गंगा मैया को चुनरी, अन्न देव की कथा आदि अनेक प्रसंग उपन्यास की पर्यवेक्षण शक्ति - वर्णन - कौशल और अर्थ व्यंजना सामर्थ्य की पुष्टि करते हैं । उपन्यास की सारी घटनाएँ रामरूप के मानसदर्पण में बिंबित होकर हमारे मामने आती हैं । इसलिए कभी कभी भाषा का स्वरूप वर्णनात्मक से बिंबात्मक होता है । कहीं कहीं कथाकार आलोचक का वेष भी धारण करता है । 'सोनामाटी' में रामरूप और 'समरशेष है' में संतोषी पंड़ित के रूप में लेखक पाठक के सामने प्रत्यक्ष होकर गांव की कथा पाठकों के सामने रखते हैं । एक दार्शनिक का रूप लेकर 'समरशेष है' उपन्यास के बीच बीच में लेखक प्रकट होते हैं और अपनी बात कहकर अप्रत्यक्ष हो जाते हैं । इसी प्रकार वर्णनात्मक ढंग से लिखा गया उपन्यास हे मैत्रेयी पुष्पा का 'चाक' । कभी कभी फ्लैश बाक शैली को भी अपनाया गया है । रेशम की कथा पाठक के सामने सारंग की यादों के रूप में प्रकट होती है । लोक कथाओं के द्वारा सामाजिक स्थिति का वर्णन करना भी लेखकीय शैली की एक विशेषता है । लोकगीतों का सुन्दर संयोजन भी इस उपन्यास की शैली की एक विशेषता है । एक एक प्रसंग के लिए लोक कथाओं का समावेश किया गया है । विवाह के अवसर हो, मृत्यु के हो, त्योहार, मेला, व्रत, फसल काटने का हो आदि अनेक अवसरों पर गाये जाने वाले गीतों का उल्लेख करके उपन्यास की शैली को अनूठा बनाने की कोशिश की गई है । 'तकसीम' में लेंखक स्वयं प्रकट होकर गांव की परिस्थिति का परिचय कराते हैं । लेकिन पूरा उपन्यास विवरणात्मक शेली में ही लिखा गया है ।

राकेश कुमार सिंह का उपन्यास 'जहाँ खिले है रक्त पलाश' में कहीं भी लेखक को हम देख नहीं सकते लेकिन वे उपन्यास को बीच बीच में दार्शनिक और सामाजिक बातों से भर देते हैं । उपन्यास की शुरूआत और अन्त में संबन्ध है लेकिन बीच में उपन्यास के नायक नंदू घटवार के माध्यम से हम पलामू प्रदेश का सैर करते हैं । कभी कभी नंदू घटवार की पिछली बातों को पाठक के सम्मुख रखने केलिए फ्लैश बाक शैली को भी अपनाया गया है । मिथिलेश्वर का 'यह अन्त नहीं' यथार्थवादी शैली में रचित उपन्यास है । लेकिन कभी कभी यथार्थ से ज़्यादा लेखक की भावना ही कार्यरत है । नायरजी का 'सागर की गलियाँ' उपन्यास की शैली भी वर्णनात्मक है । संश्लिष्ट शैली में लिखा गया उपन्यास है शिवप्रसाद सिंह का 'शैलूष'। इसको आज भी भाषा में इकहरा कथा का विधान कहा जा सकता है । जगदीशचन्द्र का धरती धन न अपना रूपबंध में उसके पहले के उपन्यासों से थोड़ा आगे है । इसमें वर्णनात्मकता ही कार्यरत है संश्लिष्टता नहीं । कथा में बहाव है कही भी बिखराव महसूस नहीं होता।

जगदम्बा प्रसाद दीक्षित का 'मुर्दाघर' उपन्यास ने शिल्प तथा भाषा-शैली के समस्त प्रतिमानों को तोड़कर भाषा-शैली के जबर्दस्त सर्जनात्मक प्रयोग के नए मान स्थापित किए हैं । शैली शिल्प की ध्वन्यात्मक शक्ति का प्रचुर उपयोग लेखक ने इस उपन्यास में किया है । गोविन्द मिश्र का 'लाल पीली ज़मीन' उपन्यास की शुरूआत 'मैं यहाँ हूँ' वाक्य से होती है, और उस 'मैं' की पहचान लेखक को एक ऐसी जगह ले जाती है जो गांव और कस्बे के बीच की चीज़ है । इस उपन्यास के शैली शिल्प में मौलिकता की छाप है । इसका प्रारंभ एक प्रोढ़ व्यक्ति की आत्मकथा के रूप में होता है, जिसे वह अपने से परे 'वह' के रूप में बदल देता

है । बचपन और किशोरावस्था से संबद्ध संपूर्ण परिवेश को उजागर करनेवाली घटनाओं का सुन्दर संयोजन लेखक ने इसमें किया है ।

शब्द चित्रों द्वारा उपन्यास रचने की एक अलग शैली मनमोहन पाठक का 'गगन घटा घहरानी' में देखा जा सकता है । "गांव नए धान की खुशबू से महक उठा । बच्चे तो मूँह में भरकर चबाने लगे, धान के दूध से मूँह भर गया, कईयों के तालू में सटगया धान, कईयों की जीभ कट गई, सूई की नोक की तरह गड़-गड़कर मूँह से खून निकल आया।"[1] भूख की यह त्रासद चित्रात्मक वर्णनात्मक कौशल न होकर उस गहरी यथार्थ दृष्टि का परिणाम है । जहाँ कथ्य, भाषा व शिल्प एकाकार होकर साहित्यिक संरचना को समाजिक संरचना में रूपान्तरित कर देते हैं ।

कृष्णासोबती का 'ज़िन्दगीनामा' गीतात्मक है। यह एक सामान्य उपन्यास नहीं विशिष्ट है । यानी उपन्यास के शुरू में जो कविता दी गई है वह लेखिका की मूल दृष्टि है। कविता प्रगीतात्मक है । 'ज़िन्दगीनामा' मूलतः किसी कवि मन की रचना है। इस उपन्यास की सारी घटनाएँ, सारा व्यापार पौराणिक मिथकीय शैली में वर्णित है । चौपाल पर कही सुनी गई घटनाएँ वे चाहे ऐतिहासिक किंवदंतियाँ हो, चाहे वर्तमान केलिए सब मिथक या पौराणिक गाथाओं की भांति वर्णित है । मिथक की चर्चा असहज होती है, मिथक में रूपांतरित कथा बहुत सहज हो जाती है। इसमें रोमांच आख्यानों की शैली का साहसपूर्वक प्रयोग किया गया है । रोमांच आख्यानों में कथावस्तु की एकरूपता का प्रयत्न कम होता था, कथा कहते जाने

---

1. मनमोहन पाठक - गगन घटा घहरानी - पृ. सं :180

की प्रकथनात्मकता या नैरेशन की प्रवृत्ति ज़्यादा होती है । इसमें कथावस्तु किसी एक उद्देश्य की ओर उन्मुख नहीं होती थी । पूरा उपन्यास एक दहकता स्मृति चित्र है । किस्सगोई का विलक्षण ठाठ तो यहाँ भी है । पर एक-एक रूप या आकृति की पहचान के लिए खास तरह का जीवनधर्मी लगाव भी । जो दृश्य गुज़र जाने के बाद भी उसे स्मृति में देर तक टिकाकर रखता है ।

आंचलिक शैली मूख्य रूप से कथानक के स्थानीय और विशेष जनपद के चित्रण पर अधिक बल देती है । इन सारे उपन्यासों में लोकभाषा के यथार्थ - प्रयोग किया गया है । इसलिए यह लोककथात्मक शैली के निकट है। समकालीन आंचलिक उपन्यासों का गठन भी लोककथात्मक शैली के अनुरूप हुआ है । इसलिए उपन्यास के अन्य उपादान जैसे कथावस्तु, चरित्र, वातावरण, सरल, मार्मिक एवं जीवंत चित्रण होने के कारण उपन्यास प्रभावी और वस्तुनिष्ठ हो पाता है । आंचलिक उपन्यासों में चित्रित सारी शैलियों का अपना रस होता है । इस रस का अनुभव हम इन उपन्यासों से ले सकते हैं ।

भाषा शिल्प :

भाषा के माध्यम से लेखक अपनी पहचान बनाता है । भाषा के प्रयोग द्वारा ही लेखक दृश्य या स्थान को मूर्तिमान और साकार कर देते हैं । भाषा-शैली उपन्यास शिल्प का मूल तत्व है । लेखक नपी तुली भाषा, अर्थगर्भत्व, अर्थवहन करनेवाले संकेतों के माध्यम से अपनी बात कहता है, बिंबों, अर्थ की गूँज - अनुगूँज उत्पन्न करने वाले मुहावरों और शब्दों का प्रयोग करता है । आंचलिक उपन्यासों की भाषा शैली वहाँ की संस्कृति के साथ घुल मिल गई है। परिवेश के

अनुकूल उपन्यासों में शब्दों का प्रयोग आवश्यक है । डॉ. आदर्श सक्सेना के मुताबिक "सामान्य उपन्यास में यह भाषा जन साधारण की भाषा होती है। परन्तु आंचलिक उपन्यास में यह भाषा जन-सामान्य की होते हुए भी आंचलिक रंग में रंगी होती है अर्थात आंचलिक उपन्यासकार आंचलिक रूपों का समावेश कर कथा ही नहीं कहता, घटनाओं और चरित्रों का विश्लेषण भी करता है।"[1] लेखक अंचल को उसकी संपूर्णता में उद्‌घाटित करने के लिए अंचल में प्रयुक्त बोली, उपबोली, लोकोक्ति, मुहावरा आदि का प्रयोग करते हैं ।

'डूब' और 'पार' उपन्यास में वीरेन्द्रजैन ने परिवेश के अनुकूल भाषा का प्रयोग किया है । उनकी भाषा परिवेश के इतना अनुकूल है कि वह गढ़ी हुई नहीं लगती, बल्कि आंचलिकता पाठक को भी शामिल करती चलती है । इन दोनों उपन्यासों में बुंदेलखंड़ी भाषा का प्रयोग मिलता है । 'हनीफ भाई डिरेवर की गढ्‌ढी से उठे । मोटर के तरें गए और इससे पहले कि कोई पूछ भी पाए कि क्या हुआ हनीफ भाई, झट से वापस अपनी गद्धी पर जा विराजे । सामने ढेर सारे बटन में से एक बटन पर ऊँगाइया रखी और ये लो, मोटर फिर घुड़वा की नाई हिन हिनाने लगी घर्र-घर्र-घर्र-घर्र"[2] इसप्रकार यह उपन्यास स्थानीय शब्दों की मार्मिक ध्वनि प्रतिध्वनियाँ लिया हुआ है । इन उपन्यासों की भाषा प्रवाहमयी और काव्यमयी भी है । भाषा को प्रभावी बनाने के लिए कहीं कहीं कविताओं का भी प्रयोग लेखक ने किया है - "जब माता मारे बच्चे को तो वह किससे फरियाद करे, जब राजा ही अन्याय करे तब प्रजा किसको याद करे"[3]

---

1. डॉ. आदर्शसक्सेना - आंचलिक उपन्यास और उनकी शिल्प विधि - पृ. सं :261
2. वीरेन्द्रजैन - डूब - पृ. सं :57
3. वीरेन्द्रजैन - डूब - पृ. सं :246

"कहना हो नहीं सकता । सहना हो नहीं सकता
बिन कहे, बिन सहे, रहना हो नहीं सकता"[1]

लोकोक्ति के पीछे कोई घटना या कहानी होती है । मुहावरे के प्रयोग से भाषा में सरलता, सरसता, चमत्कार और प्रवाह उत्पन्न होते हैं । इसलिए लेखक ने अनेक कहावतों का प्रयोग इस उपन्यास में किया है । बुन्देलखंड़ी कहावत से ठाकूर माते को समझा जा सकता है "बिलैया(बिल्ली) ने जनाउर (शेर) को सबकछु सिखा दओ तो, अकेले (लेकिन) रूख (पेड़) पर चढ़ावे नहीं सिखाओं तो"[2] ठाकूर वोट के लिए माते को अपने तरफ लाने के लिए कहते है "बैरी की बैरी गुइयाँ"[3] याने दुश्मन का दुश्मन दोस्त। शहरों में पढ़नेवाले लड़कों की योग्यता देखकर महाराज ने भी अपने इकलौते बेटे कैलाश को भी शहर भेजा, लेकिन वह बिगड़ गया, इसी संदर्भ में एक कहावत का प्रयोग किया गया है कि "अधजल गगरी छलकत छाय थोथा चना बाजे घना"[4] सरकार के बारे में लेखक का कहना है कि "हंड़िया का एक चावल बता देता है कि भात की दशा क्या है"[5] यहाँ हंड़िया का एक चावल राजघाट बाँध है । इन दोनें उपन्यास में कई प्रतीकों का प्रयोग भी मिलता है । शासन तंत्र की अनैतिकता और लोभ वृद्धि के लिए लेखक ने एक सशक्त प्रतीक चुना है 'चीलगाड़ी' । 'डूब' उपन्यास के अन्त में माते जिस रेडियो को वटवृक्ष के तने से मारते हैं वह रेडियो भी सरकार का प्रतीक बनकर आती है।

---

1. वीरेन्द्रजैन - पार - वीरेन्द्रजैन - पृ. सं : 31
2. वीरेन्द्रजैन - डूब - पृ. सं :13
3. वीरेन्द्रजैन - डूब - पृ. सं :86
4. वीरेन्द्रजैन - डूब - पृ. सं :81
5. वीरेन्द्रजैन - डूब -पृ. सं :110

उपन्यास के प्रारंभ में माते के दांत में अटकी सुपाड़ी का टुकड़ा अंत में रेडियो के फेंक दिए जाने के बाद भई अटकी रह जाता है । यह सुपाड़ी विकास की सुपाड़ी है, बाँध भी विनाशकारी विकास का प्रतीक है ।

'डूब' में लेखक ने कई भाषाओं का प्रयोग किया है । इस उपन्यास में बुंदेलखंडी तथा संस्कृति शब्दों का प्रयोग मिलता है । साथ ही अरबी, फारसी और पेश्यन शब्दों की भरमार मिलती है । संस्कृत शब्द जैसे - निर्वाचन, आपात्काल, न्योता, अरबी शब्द जैसे -मसलन, इंतज़ाम, इजलास, हिफासत, पेश्यन शब्द जैसे - निगाह, ज़हर, बेइंतहाँ, अंग्रेज़ी शब्द जैसे - टेरालिन, मोटर, कलेक्टर आदि कई शब्द इस उपन्यास में मिलते हैं । 'पार' में भी बुंदेलखंड़ी भाषा का प्रयोग मिलता है, लेकिन राउत जनजाति के पात्रों की भाषा में उनकी अपनी बोली का प्रयोग करने में उपन्यासकार ने कोशिश की है । जीरोन खेरे के मुखिया अपने कुत्ते के साथ बात करते हैं कि 'तोए संगे पंचौट करती थी का नाए काहे को गद बद दी पार तक"[1]

डॉ. गोपालराय कहते हैं कि "मैं विश्वास के साथ कह सकता हूँ कि सोनामाटी संवेदन, अनुभूति, विज़न, शिल्प और भाषा की दृष्टि इन सभी उपन्यासों से बढ़कर और 'गोदान' की परंपरा में द्वीतीय श्रेष्ठ रचना है"[2] विवेकीराय का 'सोनामाटी' की भाषा अत्यन्त सशक्त है । भाषा का स्वरूप वर्णनात्मक न होकर बिंबात्मक है । उपन्यास में सैकड़ों शब्द ऐसे हैं जो ग्रामीण संस्कृति का बोध कराते हैं जो ठेठ ग्रामीण जीवन से उठाकर रख दिये गये हैं । चगैठ, सैंहड़, दमकस,

---

1. वीरेन्द्रजैन - पार -पृ. सं :48
2. समीक्षा - अप्रैल -जून - 1983 - पृ. सं. 1

बधार, पसर, मंड़ा, पहथ, संझवत, रोधना, मानर, पिठार, खेझड़ा, डहर, गैं-घात आदि अनेक शब्दों को अधिक सार्थक बना दिया है । भाषा शिल्प की दृष्टि से सोनामाटी वर्णन वैविध्य और वैचारिक अंतर्द्वन्द्व प्रधान उपन्यास सिद्ध होता है । हनुमान और खोरा के प्रारंभभिक संवाद, रामपुर कोईली की बड़ार पुर में हुई भेंट वार्ता, रामरूप के दरवाज़े पर कमली के विवाह के अवसर खोरा हनुमान की वार्ता, कौडिन्यमुनीवाला प्रसंग, धरती के भ्रष्टाचार पर आँसू बहानेवाले बादल और उनकी मनौतीवाला प्रसंग आदि औपन्यासिक प्रौढ़ता के परिचायक है ।

उपन्यास में भिन्न भिन्न मानसिकतावाले पात्र हैं। अतः उन पात्रों को उनके परिवेश में ठीक ठीक समझने के लिए कथाकार ने भाषा प्रयोग में सतर्कता बरती है । भुवनेश्वर की अंग्रेज़ी मिश्रित भाषा, कवि खोरा की भोजपुरिया भाषा, रामरूप और वर्मा की छायावादी रूप की भाषा, विलांस बाबा की धत्त मरदवावाली भाषा, सीरीभाई की बस देखते चलो, घबड़ाना नहीं चाहिवाली भाषा आदि भाषा का रचनात्मक प्रयोग है । ग्रामीण बालाओं के लिए भोली भाली चिरइयों, आवारा भुवनेश्वर के चुनावी व्यक्तित्व के लिए माया नट नेता, ग्रामीण झगडालू औरतों के लिए काक प्रवाह, आधा कटे खेत की उदासी - मायूसी के लिए दुर्भाग्य की क्यारी, सर्वनाशी बाढ़ से प्रभावित खेतों के लिए कफ़न ओढ़े सीवान आदि मुहावरे दारी प्रयोंगों की भाषा विवेकीराय की विशेषता है, उससे कथाकार की प्रौढ़भाषिक क्षमता का परिचय मिलता है ।

'समरशेष है' में विवेकीराय ने तुलसी, सूर, बिहारी जैसे महान कवियों की प्रसंगानुकूल चुनिन्दा उक्तियों के साथ मुहावरों और लोकोक्तियों से भी अपनी भाषा को नया अर्थ गौरव प्रदान किया है । राजनीति के संबन्ध में संतोषी पंड़ित कहते

हैं कि "तमीज़ तो कमीज़ की तरह होती है पहन लिया और उतार भी दिया"[1] विवाह पर होने वाली सामाजिक कुरूतियों पर व्यंग्य करते हुए लेखक कहते हैं कि "खेल खिलाड़ी का और पैसा मदाड़ी का"[2] इसके अलावा भोजपुरी की अनेक लोकोक्तियों का प्रयोग किया गया है । 'सैया भये कोतवाल अब डर काहे का विवेकीराय की लोकोक्तियाँ प्रसंगानुकूल और सटीक हैं । पत्र लिखकर लेखक की बात कहने का अन्दाज़ा भाषा की एक खासियतहै । सुराज जयन्ति को जयन्ति सुराज को पत्र लिखती है । पत्र में गांव की हालत, भविष्य में उसकी स्थिति आदि की चर्चा द्वारा लेखक स्वयं अपने विचारों को पाठक के समक्ष रखते हैं । यह भाषा शिल्प की एक विशेषता है । संस्कृत शब्दों, श्लोकों का उल्लेख भी इसमें है ।

मैत्रेयी पुष्पा ने व्रज मिश्रित हिन्दी के माध्यम से अपने कथा संसार का निर्माण किया है । कथां संसार को विश्वसनीय और प्रामाणिक बनाने के लिए परिनिष्ठिक हिन्दी में हिन्दी क्षेत्र की अन्य भाषाओं के शब्दों की मिलावट हिन्दी उपन्यासकार प्रायः करते रहे है । पुष्पाजी ने 'चाक' में व्रज क्षेत्र के शब्दों, मुहावरों और क्रियापदों का प्रयोग किसी सर्जनात्मक लाचारीवश नहीं बल्कि आंचलिक उपन्यास की रूढ़ि के रूप में किया है । करमबीर, पोच, टुकरी, भामई, सल, औटपाई जैसे अनेक शब्द उपन्यास में आए हैं जिनके अर्थ बोध के लिए कोष्ठको के भीतर उनके पर्याय भी दिए गए हैं। कथा के बीच बीच में लोकगीत, और लोककथाओं को पिरोना भाषा शैली की ही एक विशेषता है । किसी त्योहार, ऋतु, विवाह आदि के अवसर पर लेखिका स्थानीय बोली में गीतों की माला तैयार करती हैं।

---

1. विवेकीराय - समरशेष है - पृ. सं : 60
2. विवेकीराय - समरशेष है - पृ. सं : 201

"मै तौ रारौ, मै तौ रारौ, बुवाऊँगी ऐसे ऐसे
मोय दाऊ की सों ऐसे"[1]

उपन्यासकार ने शब्दों को लोकप्रचलित रूपों को समान्य शब्दों के साथ मिलाकर आंचलिक भाषा का निर्माण किया है । "औरतों ने डिबिया की चीज़ देखना चाही । चाची चिल्लाने लगी, सँभार के री सँभार के । चीज़ बर्तवाली बात है । पराई अमानत फिर मैं कहा से भरूँगी

"भंवर की अम्मा बोली, क्या चीजज आई है ?
ऐरन है, ऐरन । सोने के"[2]

डोरिंया सारंग को चेतावनी देता है कि "तेरे छोरा कीनार (गर्दन) और मस्कीन है। फिर भूल जाएगी बिफरना साली इकबॅझिया। पूरी ज़िन्दगी निपूती होकर बिसूरती रहना (इकबंझि माने जिसके एक ही बालक होकर रह जाय"[3]

"कहावतें मानव स्वभाव और व्यवहार कौशल के सिक्के के रूप में प्रचलित होती है और वर्तमान पीढ़ि को पूर्वजों से उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त होती है ।"[4] गांव में लोग आपसी बातचीत में लोकोक्ति व मुहावरों का अनायास व सहज प्रयोग करते हैं । 'चाक' में बाबा हमेशा एक कहावतकहा करते हैं - "जहाँ न पहूँचे रेलगाडी वहाँ पहूँचेंगे मारवाड़ी"[5] व्यापारी लोग देश परदेश कहीं भी रहकर पैसा

---

1. मेत्रेयी पुष्पा - चाक -पृ. सं :108
2. मेत्रेयी पुष्पा - चाक - पृ. सं :97
3. मेत्रेयी पुष्पा - चाक - पृ. सं :47
4. कन्हैयालाल सहल - राजस्थानी कहावतें एक अध्ययन - पृ. सं : 1
5. मेत्रेयी पुष्पा - चाक - पृ. सं :202

कमाते हैं लेकिन अपने घर के प्रति कोई ममता नहीं होता । इसके अलावा "परायी आग में कौन हाथ जलाए"[1] "भयबिन प्रीत न होता सुगाई"[2] आदि लोकोक्ति का भी प्रयोग किया गाया है ।

'इदन्नमम' का हर एक पात्र अपनी भाषा में बोलता है । भाव संवेदना एवं भाषिक संरचना का ऐसा तालमेल सहजता एवं सरसता उपन्यास के जीवन्तता प्रदान करती है । विंध्यांचल के बहुत से शब्द ताजगी और आत्मीयता लिए हुए भाषा में पूरी तरह से खपगए हैं । सिर्रन बावरी, मातौन, डुकरो, मोंडी, मताई, ओली, पकयात, सुआटा, बिन्नु, हिरकांप आदि अनेक शब्द संप्रेषण में समस्या पैदा नहीं करते हैं । बऊ और कुसुमा की भाषा में एक खास तरह की मिठास है । अपने और दाऊजू के लगाव की अभिव्यक्ति करते समय कुसुमा की भाषा के सहज और मार्मिक रूप इन शब्दों में द्रष्टव्य हैं । "पर इतेक ज़रूर है कि दाऊजू के लाने अमरजल की तरह हम हर रात हाजिर रहते है । वे तिरपित रहैं अफरे रहैं । हाँफते-काँपते जीते रहैं, और क्या चाहिए हमें ? जाने हमारी पिरीत में बल है कि इनके विश्वास में हौसला, जमराज अभी तक तो दूर कड़ा है बिन्नू"[3] अप्रस्तुतों और बिंबों के चुनाव भी इन्हीं स्थितियों से किये गये हैं, जिनके माध्यम से विंध्याचल प्रकट होता है । किसी बच्चे का बासी मुख सा मैला चेहरा, चबाई हुई कड़वी ककड़ी की तरह की बातें आदि पद बिंब - ग्रहण कराने के साथ साथ मनःस्थिति के स्तर पर सक्रिय राग विराग के व्यंजक भी हैं ।

---

1. मेत्रेयी पुष्पा - चाक - पृ. सं 60
2. मेत्रेयी पुष्पा - चाक - पृ. सं : 60
3. इदन्नमम - मेत्रेयी पुष्पा - पृ. सं : 92

लोकगीतों, लोक़कलाओं के सटीक समावेश, मार्मिक स्थलों की पहचान, निरन्तर कथारस की उपस्थित 'इदन्नमम' के भाषा शिल्प का उल्लेखनीय पक्ष है । बऊ के मुख में प्रकट होनेवाले भाव को कहने के लिए काव्यात्मक भाषा का प्रयोग करके उनका कवि मन प्रकट होता है - "बऊ की झुरियों भरा चेहरा धीरे धीरे तनाव से मुक्त होकर कोमल हो आया और उसी पल ऐसा महसूस हुआ जैसे इस अँधेरे - बरी सुरंग में कोई उजली हवा बहरी ही हो"[1] व्यंग्य भरी भाषा का प्रयोग भी लेखिका ने किया है । "मसीन खेत में जहां तक जालीदार ढाँचा कौवे की दुहरी चोंच की तरह मिट्टी में गड़ा था"[2] अशिक्षित लोगों की भाषा में भी लेखिका का ध्यान गया है डॉक्टर के लिए डाकधर, अस्पताल के लिए अस्सपताल जैसे शब्दों का प्रयोग इसका उदाहरण है । बऊ की भाषा में बुजुर्गों की भाषा में प्रयुक्त सारे मिठास है । "हे मोर पिरभू, मोरे ठकुरजू, मोरे देहरे बब्बा, और कुल के इतर-पितर मन्दा और मकरन्द की ज़िन्दगानी में हमेस चारों दिसायें ऐसे ही उजियारी रहें"[3] स्थानीय लोकोक्ति और मुहावरों का प्रयोग भी किया गया है जैसे "खोट समय में पीट दिखाना शोभा नहीं देता है"[4] "एक तो खूँटे बाँधा पँगूर दूसरा सरग में उड़ता पंछी"[5] "कबाब में हड्डी"[6] "कानी के ब्याह के सौ जोखे"[7] "छाते से छूटी मख्क्यिों की

---

1. मैत्रेयी पुष्पा - इदन्नमम - पृ. सं : 10
2. मैत्रेयी पुष्पा - इदन्नमम - पृ. सं : 166
3. मैत्रेयी पुष्पा - इदन्नमम - पृ. सं : 115
4. मैत्रेयी पुष्पा - इदन्नमम - पृ. सं : 21
5. मैत्रेयी पुष्पा - इदन्नमम - पृ. सं : 161
6. मैत्रेयी पुष्पा - इदन्नमम - पृ. सं : 301
7. मैत्रेयी पुष्पा - इदन्नमम - पृ. सं : 282

तरह"[1] आदि । अपने समाजबोधी और क्रांति धर्मी कथ्य को बयान करने में मैतद्रेयी पुष्पा ने असाधारण भाषाधिकार का परिचय 'चाक' और 'इदन्नमम' में दिया है।

'ज़िन्दगीनामा' में कृष्णासोबती ने गुजरांवाला गांव में प्रचलित देहाती भाषा का प्रयोग किया है । कथ्य की मांग के अनुसार भाषा का प्रयोग किया है। कथ्य की मांग के अनुसार पंजाबी शब्दावली, लहजे, मुहावरे और लोकोक्तियों का प्रयोग किया गया है । लोकोक्ति और मुहावरा ग्रामीण जनता के सामाजिक एवं सांस्कृतिक मूल्यों का संवाहन करते हैं । इनमें ग्रामीण जनता का सैकड़ों वर्षों का अनुभव सन्निहित रहता है । पत्र, परिवेश और स्थितियों को आस्वादपूर्ण और अर्थ गर्भित बनाने के लिए इसका प्रयोग अनिवार्य है । करम बीबी का बेटा बरखुरदाखा देश के खातिर जेल गया था । पड़ोस की लड़की शीरी कहती है 'हवालतों में गीदड़ नहीं बघियाड़ जाने है"[2] इसतरह "न कांटोंवाली बाड चंगी और न बाडवाले कांटे"[3] "भरी भराई चाटियाँ डुल-डुल न पडेंगी"[4] आदि लोकोक्तियों और "खैलों से बैर पड़ना"[5] "सांप के आगे दिये जलाना"[6] आदि मुहावरों का प्रयोग आंचलिक जीवन परिवेश के चित्रण को अधिक यथार्थ बनाने में सहायक हुआ है ।

बिंबों और प्रतीकों के माध्यम से संवेदनाओं का संप्रेषण अत्यन्त प्रभावशाली होता है । "औपन्यासिक संरचना में बिंब, प्रतीक और विविध रंगों की

---

1. मैत्रेयी पुष्पा -इदन्नमम - पृ. सं : 322
2. कृष्णासोबती - ज़िन्दगीनामा -पृ. सं : 66
3. कृष्णासोबती - ज़िन्दगीनामा - पृ. सं : 153
4. कृष्णासोबती - ज़िन्दगीनामा -पृ. सं : 273
5. कृष्णासोबती - ज़िन्दगीनामा - पृ. सं : 33
6. कृष्णासोबती - ज़िन्दगीनामा - पृ. सं : 47

योजना से उसकी बाहरी आभा ही नहीं अपितु उसके आन्तरिक उद्वेलन के प्रकटीकरण का भी एक माध्यम है ।"[1] उपन्यास की शुरूआत ही बिंबात्मक अभिव्यक्ति से होती है । "शरदपुण्य की रात। पंड के कच्चे कोठे चम्म चम्म चमकने लगे । दमकने लगे। चान्ननी से सजरी लिपाई से खेत खलियान रूख वृख सब उजरा उजला दिए । कुओं के मुट्ठड़े सुर झलमल - झलमल हियरों को हुलसाने लगे।"[2] प्रतीकों के द्वारा वाच्यार्थ का बोध मात्र नहीं, तत्संबन्धी समस्तभाव समूह का संकेत भी होता है । 'ज़िन्दगीनामा' की शुरूआत ज़िन्दारूख की कहानी से होती है, ज़िन्दारूख जीवनरूपी वृक्ष का प्रतीक है । लोकगीतों के माध्यम से भी लेखिका अंचल की जनता की भावना और अनुभूतियों का प्रतिनिधित्व करती हैं । जैसे -

"आले दवाले मेरी गुड्डियाँ
मैनू नहीं केलन दा चाव रे
मेरी सखा सहेली बाबुल बिछुडी
मेरे सासरे घर चाव रे"[3]

इस उपन्यास की आंचलिकता के रंग में सांगीतिक रूप देने में भाषायी विन्यास वाक्य लय भी सहायक है और चरित्र समूह में पारस्परिक संबन्ध भावना के रूप में सजीव सहानुभूति भी ।

---

1. डॉ. ज्ञानचन्द गुप्त - स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास और ग्रामचेतना - पृ. सं : 288
2. कृष्णासोबती -ज़िन्दगीनामा - पृ. सं : 16
3. कृष्णासोबती - ज़िन्दगीनामा - पृ. सं : 325

'तकसीम' उपन्यास में द्रोणवीर कोहली ने संवादों में स्थानीय बोली 'अवाणकारी' या अवाण की शब्दों, मुहावरों, किंवदंतियों आदि का प्रयोग किया है । जिनपर संस्कृत व्याकरण एवं शब्दावली का प्रभाव परिलक्षित होता है । आवाणकारी सिंध नदि के पश्चिमी तट के विशाल क्षेत्र में बोली जानेवाली जन भाषा है । 'आवाणकारी' का अपना व्यावहारिक व्याकरण एवं शब्द संपदा है जो स्थानीय अनपढ़ जनता की बोलचाल का हिस्सा है। इस बोली का यह नाम इसलिए पड़ा क्यों कि यह इलाका 'अवाण' नामक मुस्लिम समुदाय के प्रभाव क्षेत्र में चिरकाल से रहा है । आज भी इस इलाके की विभिन्न बोलियों में विशेषकर अवाणकी में वैदिक संस्कृत, पाली, अपभ्रंश आदि के प्रयोग देखे जा सकते हैं।

अवाणकी बोली को समझपाना पाठक के लिए कठिन बात है इसलिए लेखक ने अवाण की बोलीं का प्रयोग करनेवाले पात्रों के संवादों के हिन्दी पर्याय शब्द कोष्टक में दिए है । "धिये राणिए (बिटियारानी)। इंसाह (इस) आणी छतीनाल (साथ) लाके रखे ते (लगाकर रखेगी) आपणी कुखी जण्याजातिक जाण से । इंसाह ठड्डी वा (ठंडी हवा) न लगुण देसें"[1] उपन्यास का वातावरण देश विभाजन के पहले का समय है इसलिए अरबी, फारसी, संस्कृत के अनेक शब्दों का प्रयोग इस उपन्यास में हुआ है । उपन्यास में कई जगह क्रोध - आक्रोश दिखाने के लिए गाली-गलौज की प्रवृत्ति भी देखी जाती है। गांव में बोलनेवाली भाषा एवं शहर में बोलनेवाली भाषा में अन्तर है । तलागंगा में रहनेवाले गोपाल की भाषा से भिन्न है, रावलपिंड़ी में रहनेवाले रामरक्खी की भाषा थोहा मार्हम खाँ गांव में

---

1. द्रोणवीर कोहली - तकसीम -पृ. सं : 17

रहनेवाली की बहु, बेटे की भाषा आवणकी बोली से पूर्ण है । थोहा गांव में प्रचलित एक संप्रदाय है धोती निचोड़ना इससे जुड़कर एक कहावत इस इलाके में प्रचलित है - "दुहाजू की रज (लुगाई) शैतान का घोड़ा जितना नाचे उतना थोड़ा"[1] पात्रों के संवादों में उत्तर प्रत्युत्तर के रूप में लोकोक्ति और मुहावरों का प्रयोग करके भाषा में लेखक रोचकता लाये हैं जैसे हकूमत जब अपने सांस के साथ रहना चाहता है तब रामरक्खी अपने बेटे को लज्जित कराने के लिए इस लोकोक्ति को बताते हैं-

"कुत्ता सो जो कुत्ता पाले
कुत्ता सो जो रहे नन्हिहाले
कुत्तासे जो भैण धारा भाई (बहन के घर)
कुत्ता से जो से रे घार (सासुर के घर) जमाई"[2]

याने सबसे बड़ा कुत्ता वह है जो जमाई के संग संग डोलता फिरता है ।

रामदरशमिश्र का उपन्यास 'बीसबरस' का सर्वाधिक शक्तिशाली पक्ष है उसकी प्रवाहमयी भाषा शेली । कथा के अभाव में भी संवाद और वर्णन पाठक को बाँधे रखते हैं । कौआरौर, गलचौर, गम्मज, पहपट, गोडइत, बटुवा, मड़ई आदि आंचलिक शब्दों को छुनकर जहाँ अभिव्यंजना को विश्वसनीय बनाया गया है । ऐसे कई अवतरण है, जहाँ भाषा बतूनी या दुरूह हुए बिना अपनी लाक्षणिकता और बिंब ग्रहण कराने की शक्ति के बूते पर ध्यान खींचती है । एक अवतरण इस दृष्टि से उल्लेखनीय है - "उस भय के टापू पर आदमी ने यात्राओं का पड़व बना दिया है । दूकानों उगादी हैं । यात्राएँ थकी - हारी आदमी है दूकानों की छाया

---

1. द्रोणवीर कोहली - तकसीम - पृ. सं : 20
2. द्रोणवीर कोहली - तकसीम - पृ. सं : 30

में विश्राम करती है, कुछ खाती है, पीती है, यात्राएँ यात्राओं मिलती जुलती है ।"[1] इसीतरह मंगली को आशिर्वाद देते समय जिस भाषा का प्रयोग किया गया है, वह व्यंजना सक्षम होने के साथ पात्र परिवेश के मेल में है । "तुम तो जीती - जागती वसंत हो । तुमने अकेले निर्जीव होते माहौल में जो अनुभव करा दिया उसके लिए मेरी आत्मा तुम्हें आसीस रही है।"[2]

कथाकार मिथिलेश्वर ने 'यह अन्त नहीं' में भोजपुरी भाषा के असंख्य शब्दों का उपयोग किया है । जहाँ कथावाचक एवं लेखक एकाकार होते है, कभी कभी लेखक भोजपुरी और हिन्दी मिलाकर जो भाषा का प्रयोग करते हैं, वह यथार्थ नहीं गढ़ी हुई हो जाती है । जैसे जोखन के स्वागत करती हुई चुनिया कहती है - कब आयो? हमें काहें नहीं बताया? जाओ हम तोहरा से नहीं बोलूँगी"[3] शादी के बाद चुनिया सांस से कहती है - "अब आप आरांम करूँ अम्मा, हनारे रहते थाना बनाने का काम आपको सोभा नहीं देता मैं सब कर लूँगी"[4] चुनिया सांस को 'आप' कहती है और 'करूँ' क्रिया का प्रयोग करती है । सोभा को शोभा बोलती है । तत्सम शब्दों के भर के नीचे कई आंचलिक शब्द हिन्दी से गयब हो रहे हैं । इन शब्दों को उपन्यासकार ने अपने कथा साहित्य में स्थान देकर इन्हें मरने से बचाने के लिए श्लाघनीय कार्य किया है । खोदना, उलीछना, लगहा, काबिज, उतजोग, आँकफोर, मरीकान, मिहटिआई, अछरंग, नीक, उकरना बख्त, घरपइस बिल, जास्ती आदि ऐसे सैकड़ों शब्द है जो हिन्दी भाषा के शब्द भंड़ार में इजाफा करते हैं।

---

1. रामदरश मिश्र - बीसबरस - पृ. सं : 17
2. रामदरश मिश्र - बीसबरस - पृ. सं : 33
3. मिथिलेश्वर - यह अन्त नहीं - पृ. सं : 140
4. मिथिलेश्वर - यह अन्त नहीं - पृ. सं : 92

लेखक ने बिहार के भोजपुर में प्रचलित लोकोक्ति और मुहावरों का प्रयोग बड़े सहज ढंग से किया है । नरोत्तम कहार अपने ऊपर विरोध करनेवालों का मूँह तोड़ जवाब देता है कि "तेरी सारी गर्मीझाड़ न दी दो मेरे नाम पर कुत्ता पोस देना"[1] जब बुंतु पर आक्रमण करने के विरोध में पुलिस में केस दर्ज करते है, तब गांव के सब लोग कहते है कि "पानी में रहकर मगर से बैर करेगा तो पछताना पड़ेगा"[2] इसके अलावा "अपना उल्लू सीधा करना"[3], "सौ चूहे खाकर बिल्ली चले हज करने"[4], "खेत खाए गदहा, मार खाए जोलहा"[5] आदि लोकोक्तयों का भी प्रयोग किया गया है । लेखक ने वातावरण के अनुसार बोली का प्रयोग किया है चुनिया के बेटे की मृत्यू के अवसर पर वह रोती है कि "हमारा सो काहे गैंठवा जोडले.....रह हो रजऊओ .....हम का जानत रहीं कि इससे उलटनियां हो जाई हो दादा.....? हमरा केएह अफतरा चोड़ के कहाँ चलि गइलेए रजऊओ.....? अब हम कइसे रहब रे रमवा .....? तोहरा सुरतिया कइसे भुलइब हो सईया.....।"[6]

"प्रतीक किसी अनिश्चित वस्तु, भाव या विचार का संकेत करता है । प्रतीक के प्रयोग द्वारा लेखक अगमित भावों और विचारों को समेट लेते हैं, जो सामान्य भाषा द्वारा अभिव्यक्त नहीं हो सकता, उसका निर्देश करता है"[7] राकेशकुमार सिंह का 'जहां खिले है रक्त पलाश' उपन्यास के शीर्षक में 'रक्तपलाश' को प्रतीक

---

1. मिथिलेश्वर - यह अन्त नहीं - पृ. सं : 11
2. मिथिलेश्वर - यह अन्त नहीं - पृ. सं : 66
3. मिथिलेश्वर - यह अन्त नहीं - पृ. सं : 165
4. मिथिलेश्वर - यह अन्त नहीं - पृ. सं : 171
5. मिथिलेश्वर - यह अन्त नहीं - पृ. सं : 386
6. मिथिलेश्वर - यह अन्त नहीं - पृ. सं : 285
7. डॉ. शान्ति स्वरूप गुप्त - उपन्यास स्वरूप, संरचना तथा शिल्प - पृ. सं : 174

बनाकर नामकरण किया गया है । "रक्तपलाश जहाँ खिलता है वहाँ मानव जीवन नहीं खिलता । यह युद्ध है घास और देवदारों के बीच, घास की जड़ों को मज़बूत करना है। देवदार के जड़ो में भट्ठा डालना है, गल देना है ।"[1] यहाँ घास साधारण जनता है तो देवदार सरकार के लोग और शोषक वर्ग है । इसमें आंचलिकता और नगरीय भाषाओं का गजब सम्मिश्रण है। पलामू में प्रचलित अनेक शब्दों का प्रयोग और उसका हिन्दी पर्यायवाची शब्द भी इसमें दिया है, जैसे पंवरिया (तैराक), करेजगर (जिगरवाले), तारबंदी(लगातार), सतवन(सत्यावन), कल(चैन) आदि।

लेखक ने प्रकृति के सारे शब्दों को यहाँ तक की बैलगाड़ी की आवाज़ तक चित्रित करके शब्दचित्र प्रस्तुत करने का प्रयास किया है । "बाहर थाने के सामने से गुज़र रही है कोई बैलगाड़ी । चर्र -चू ...चर्रर्र.....चोंय.....। बहुत आवाज़ हो रही है । पहियों में रेंड़ी का तेल डालना चाहिए गाड़िवान को। हे.....हे.....है....टिट्ट...टिट्ट्....टि..टि..टि...बैलों को टिटकारता है गाड़िवान। पैना (छड़ी) सटकार कह गाने लगा है गाना, हंसी हंसी पनवां खियवाले बेइमनवां.....कि अपने बस रे पड ढे .....श..."[2] आवाज़ को उसीतरह उपन्यास में चित्रित करके साधारण की बोलचाल की भाषा में लोक रंग उभरे है - जैसे हुक्का की आवाज़ - गुड़-गुड़-गुड़, चिलम पीने का आवाज़ - सुट् -सुट्सटाक, नाव चलाने का शब्द - सरपत....सरपत...सरपत....आदि । काव्यात्मक भाषा के प्रयोग का उदाहरण बहुत सारे है जैसे - "सत्तो गुरुजी की काया तड़ फड़ तड़ फड़ कांप रही थी",[3]

---

1. राकेशकुमार सिंह - जहाँ खिले है रक्तपलाश - पृ. सं : 98
2. राकेशकुमार सिंह - जहाँ खिले है रक्तपलाश - पृ. सं : 60
3. राकेशकुमार सिंह - जहाँ खिले है रक्तपलाश - पृ. सं : 15

"रात के बादल फटचिट़"[1], "आसमान एक दम नीला नीला"[2], "बिजली भक्क भक्क मलक रही थी"[3], "सामने चितपट चितपट करता पंड़ित विजयभान का रक्त रंजित शरीर।"[4]

पात्रों के अनुकूल भाषा का प्रयोग करने में लेखक ने ध्यान दिया है - जैसे घटवारों की भाषा का प्रयोग नंदू करता है - "सत्तो गुरुजी हम बड़े होकर नाव संभालने लगेंगे, तो चुका देंगे । तुम्हारे दक्षिणा, जिनगी भर तुमसे उतराई नई लेगे। मुफ्त सुमको पार कराते रहेंगे नदी । तोहार किरिप जो कभी एक्को छेद हवा पैसा भी मांगे"[5] गांव के अशिक्षि बूढ़ों की बोली - "अबई सब हमका जानें माई किरिया, हम लोग केकरो देखे नहीं तो झूठो के माँ कैसे ले लें"[6] ब्रह्मणों की भाषा - "बाभनी-पंड़तानी का नाम लेकर बतियाता है रे? एतना करेजा, राड़ रेयान ऐतना बहक गये रे ? कपार पर चढ़ेगा रोमछार मखा ? भाग साला बगुला के जामल।"[7] लोकगीतों को गूँथकर भाषा को कवितामय बनाने की कोशिश भी लेखक ने की है।

"आइले फागुन के बहार
पिया है पियरिया रंगाई द

---

1. राकेशकुमार सिंह - जहाँ खिले है रक्तपलाश - पृ. सं : 31
2. राकेशकुमार सिंह - जहाँ खिले है रक्तपलाश - पृ. सं : 13
3. राकेशकुमार सिंह - जहाँ खिले है रक्तपलाश - पृ. सं : 66
4. राकेशकुमार सिंह - जहाँ खिले है रक्तपलाश - पृ. सं : 16
5. राकेशकुमार सिंह - जहाँ खिले है रक्तपलाश - पृ. सं : 32
6. राकेशकुमार सिंह - जहाँ खिले है रक्तपलाश - पृ. सं : 186
7. राकेशकुमार सिंह - जहाँ खिले है रक्तपलाश - पृ. सं : 15

मान में फुटे लेना अनार

कुसुमी रंग चुनरी पहिराई द"[1]

अर्थात फागुन की बहार आया है, मेरे लिए प्रियतम मेरे वस्त्र पीले रंग में रंगावा दो । मन में अनार फूट रहे है । मुझे टेसू के रंग में रंगी चुनरी पहना दो।

उपन्यास में जंगलदस्ते के लोगों के बीच के क्रोध प्रकट करने के लिए गालियों का प्रयोग भी लेखक ने किया है "हराम जादा....जा के लुका (छिपा) जा उसी गोट नेपालियों के घाघरे में । पहिर ले चोली चूड़ी ऐ ढोंढाई । इसके मांग में सेनुर भर दो .....साला मरद नहीं हिजड़ा है "[2] लेखक ने आधुनिकता के सजीव रूप देने के लिए अंग्रेज़ी शब्दों का प्रयोग भी किया है जैसे - एक्सक्लुसीव, फोलोअप, नो मैंसलान्ड, इंटरव्यू आदि ।

गोविन्द मिश्र का 'लाल पीली ज़मीन' उपन्यास की एक विशेषता उसकी भाषा है। मिश्रजी की भाषा सार्केतिक एवं चित्रात्मक है । उन्होंने मुद्रा, रूप, प्रकृति, परिवेश आदि के बड़े ही जीवंत तस्वीर उपस्थित किए हैं, जैसे - "शान के धुँध लके में वह पत्थर ऐसे लगता जैसे कोई आदमी झाड़े फिरते बैठा हो एक हाथ से एक कान को दबाए और उसी पर सर की लू नलिए हुए"[3], 'छवि का मंझोला कद....तपे हुए तांबे का सा रंग दूर तक खखु आती हुई आँखें.....नपी तुली चाल जैसे भरे शरीर को छलकते से बचाती हुई एकतार संजीदगी"[4] प्रकुति का

---

1. राकेशकुमार सिंह - जहाँ खिले है रक्तपलाश -पृ. सं : 39
2. राकेशकुमार सिंह - जहाँ खिले है रक्तपलाश - पृ. सं : 123
3. गोविन्द मिश्र - लाल पीली ज़मीन -पृ. सं : 18
4. गोविन्द मिश्र - लाल पीली ज़मीन - पृ. सं : 33

वर्णन करते हुए भाषा इसप्रकार है कि "पूस का घुट घुटा दिन। इतवार सर्दी पहले बादलों पर अटकती, फिर बस्ती पर चू रही थी, फोहा-दरफोहा सर्दी जिस्में अपने किस्म की उमस भी मिलती होती। पहाड़ों पर भूरापन उतरा रहा था, बादलों और धूल का मिक्सचर जैसा कुछ"[1] वातावरण का वर्णन करते हुए लेखक कहते हैं कि "सबेर जखीरा के सामनेवाले मैदान में जब मवेशियों की नीर चरने के लिए निकलती तो उनके पीछे आदमी की ये औलादें भी चलती दिखती थी वहाँ तक, जहाँ तक वे मवेशियों को बस्ती के बाहर नहीं पहूँचा आते थे। कोई तसलों और टुकनियों में गोबर इक्ट्ठे करते थे, कुछ अपने गाय बछेरुओं को दूसरेवालों से लड़ाते और जीतते हारते चलते .....और नहीं तो गोबर के गोले बनाकर एक दूसरे को मारते पीटते ही"[2]

मिश्रजी के भाषागत प्रयोगों में मौलिकता है । "मेरा मकान महानगर की दो बड़ी सड़कों के संगम पर खड़ा है, चौराहे के किसी लावारिस कोने पर मार्गदर्शक मानचित्र के बोर्ड की तरह"[3] भाषा को यथार्थ बोधक बनाने के लिए उसमें आंचलिक बुंदेली शब्दों को स्वेच्छापूर्वक प्रयोग किया गया है । मताई, चुखुन, कीरा, खबास, करोढ़ते, नाटपारे, लिढ़ैढ़ों, कुलिया, अंटा, सार, पह आदि अनेक शब्द ऐसे आए हैं और कही कही वाक्यावली भी।

जगदम्बा प्रसाद दीक्षीत का 'मुर्दाघर' में प्रयुक्त भाषा मराठी से प्रभावित बंबई हिन्दी है। जो प्रायः बंबई के आम लोगों की भाषा है । लेखक पूरे परिवेश

---

1. गोविन्द मिश्र - लाल पीली ज़मीन - पृ. सं : 163
2. गोविन्द मिश्र - लाल पीली ज़मीन - पृ. सं : 34
3. गोविन्द मिश्र - लाल पीली ज़मीन - पृ. सं : 9

को उसके सारे स्तरों पर भाषा के प्रयोग से उभारना चाहते हैं । झोपड़ पट्टी की वारांगनाओं के जीवन का यथार्थ किसी अन्य भाषा में प्रकट हुआ तो इतनी जीवन्तता नहीं मिलेगी । गालियों, अशिष्ट शब्दों के प्रचुर प्रयोगों और विशिष्ट जीवन की खास शब्दावली के कारण भाषाशैली के स्तर पर अप्रतिम हो गई है । उपन्यास की सबसे बड़ी विशेषता उसकी चित्रात्मकता है । "जाग पड़ते है ऊँगते हुए कुत्ते भी .....दौड़ पड़ते है । कौवे भी आ जाता है ....चिल्लाते है । भिन-भिन.....उड़ने लगीमक्खियाँ। फेंक दिए ताश खेलने वालों ने ....दौड़ने लगे। छोटे लड़के मार रहे हैं पत्थर कुत्तों को ....हटते नहीं कुत्ते । उड़ उड़कर वहीं बैठ जाते हैं कौवे । आ रहे हैं बड़े छोकरे....ताशवाले छोटे भिड़ जाते हैं जल्दी-जल्दी कुत्ते....फिर बढ़ आते हैं .....जल्दी । कौवे भी जुट जाते हैं । कुछ नहीं मिलता जल्दी में"[1] बंबई हिन्दी का सुन्दर प्रयोग दीक्षितजी ने निम्न पात्रों के द्वारा किया है "....मैं झूटा बात कब्बी नई किया । सब करेंग मैं ...पन झूटा बात नई करेंगा। पहेला बोला...तेरे कू चाली में खोली लेके देना.....तेरे कू अच्छा लुगड़ा लाके देना ...तेरे कू इधर से ले जाना। और मैं तेरे कू बोलना मैना याद रख ....एक दिन मेरा टैम ज़रूर आएँगा....ज़रूर आएँगा। तब तू बोलना मेरे कू ....."[2] गाली गलौज की प्रवृत्ति भी भाषा की एक विशेषता बनके आयी है - छोड़ मेरा हाथ ! छोड़ ! मादरचोद ! कमीनचोट ! डुक्कर तेरा मुरदा निकले। तेरे मैयत दैखू मैं ..."[3]

---

1. जगदम्बाप्रसाद दीक्षित - मुर्दाघर - पृ. सं : 25
2. जगदम्बाप्रसाद दीक्षित -मुर्दाघर - पृ. सं : 17
3. जगदम्बाप्रसाद दीक्षित -मुर्दाघर - पृ. सं : 15

'कोई अजनबी नहीं' में शैलेश मटियानी ने पात्रों के अनुकूल भाषा का प्रयोग किया है । जैसे कोई पंजाबी पात्र पंजाबी भाषा का ही प्रयोग करता है - "अक्ख - अक्ख - अक्ख ....यारॉं, की केंदा सी तुसी ? मैं बोल्या डी.डी.यू की बस के टायर भी बैठ जावेंगे, बादशाहो अक्ख...अक्ख....अक्ख..."[1]

'झीनी झीनी बीनी चदरिया' में अब्दुल बिस्मिल्लाह ने बनारस के बुनकरों के बीच में प्रचलित आँचलिक भाषा का प्रयोग किया है । कहीं कहीं चलती फिरती उर्दू का भी प्रयोग किया है । कठिन उर्दू शब्दों के हिन्दी पर्याय यथास्थान दे दिये गये हैं । इसमें लेखक ने सेठों और दलालों के बीच में प्रचलित दलाली की भाषा का प्रयोग किया है । "कहिए मंगलदासजी है या नहीं ? याने रूपया पीछे दो आने दलाली पर माल दिखाने के लिए कह रहा है । फिर कहता है 'माप - कंगड़ा' ठीक ढलचिए, तो गिलौड़ी हो। बाड़ा पलना अंभी। गाउली फिर सलाय जोलाय चाहिए। अर्थात ग्राहक अभी हो जायेगा। दलाली फिर दे दी जिएगा दस बारह साड़ियों चाहिए"[2] बनारसियों की भाषा का सुन्दर नमूना उपन्यास के हर एक पात्र के संवाद से मिलते है, जैसे -

'कब आएव?

वह सवाल करती है और मुस्कुराती है अभइने

आवा है । कहाँ गयी रहे । वह बोलता है तो नज़बुनिया ।

लजा जाती है वह चौकी पर बैट जाता है

---

1. शैलेश मटियानी - कोई अजनबी नहीं - पृ. सं : 12
2. अब्दुल बिस्मिल्लाह - झीनी झीनी बीनी चदरिया - पृ. सं : 15

चच्चा हाँ गयेन ?

गयेने चाय पिये ।

अउर अम्माव ।

बसीर चच्चा कियें ....."[1] बनारसी बुनकरों के बीच में प्रचलित अनेक शब्द जैसे तोगरे, कजनी, मलसी, इन्तकाल, मुसाफ आदी का प्रयोग लेखक जान बूझकर किया है । उन्हीं लोगों के बीच में प्रचलित अनेक मुहावरे और लोकोक्तियों का प्रयोग भी किया है जैसे "राजा की प्रजा पर नाराज़ी उसी तरह है जैसे आग की नाराज़ी पुआल पर"[2] , "थाली हैराती है तो लोग उसे सुराही में ढूँढते है"[3] आदि। कबीर के रमैनी के पदों, शेर का उल्लेख भी इस उपन्यास की भाषा शैली की एक विशेषता है ।

"मुसि मुसि रोवै कबीर की माई
ए बरिक कैसे जीवहिं रघुराई
तनना बुनना सब तज्या है कबीर
हरि का नाम लिखि लिये सरीर"[4]

बिस्मिल्लाह ने इतने सूक्ष्म ढंग से भाषा का प्रयोग किया है जो एक एक पात्र के स्वभाव के अनुसार और उनके चाल चलन के अनुसार किया है । नरेश नामक एक पात्र है जो शुद्ध बनारसी में बोलता था उसकी भाषा में स्त्रीलिंग का प्रयोग बहुत

---

1. अब्दुल बिस्मिल्लाह - झीनी झीनी बीनी चदरिया - पृ. सं : 21
2. अब्दुल बिस्मिल्लाह - झीनी झीनी बीनी चदरिया - पृ. सं : 50
3. अब्दुल बिस्मिल्लाह - झीनी झीनी बीनी चदरिया - पृ. सं : 21
4. अब्दुल बिस्मिल्लाह - झीनी झीनी बीनी चदरिया - पृ. सं : 103

होता था। 'आई - आई बइठीं । रउवा के कहाँ जात बानीर और राम भजन खिल उठता"[1]

'सागर की गलियाँ' की भाषा शैली डॉ. रामन नायर ने दक्षिण शैली के अनुरूप केरलीय प्रभाव के अनुरूप किया है । उत्तर के लोगों को दक्षिणी संस्कृति को पहचानने में डॉ. रामननायर की भाषा शैली बहुत सहायक सिद्ध होगी । क्यों कि उन्होंने केरल की संस्कृति से जुड़े खासकर मछुआरों की संस्कृति से जुड़े अनेक शब्दों का प्रयोग किया है । जैसे - विषु, कैनीट्टम, कणि, मत्ति, कप्पा, कंजी, चिरट्टा के चमच, चटा आदि। स्थानीय बोलचाल के शब्द और भाषा के संतुलित प्रयोग से संप्रेषणीयता में बाधा नहीं आयी है । संसार के सभी देशों और जातियों में लोकोक्ति और मुहावरों का स्थान महत्वपूर्ण रहा है । दक्षिण प्रदेश में प्रचलित अनेक लोकोक्ति और मुहांवरे का प्रयोग लेखक ने इसमें किया है "कुंभ की वर्षा से कूड़े करकटे भी सोना हो जाता है"[2], "अब हाथ की भी नहीं रहीं जाल की भी गई"[3] मीना की शादी में भोजन के लिए आए लोगों का वर्णन लेखक इसप्रकार करते हैं जैसे "हाथी ईख के खेत में पहूँचा गया है"[4] कभी कभी लेखक का कवि मन भी प्रकट होता है "सागर माता भी सोई हुई है भयंकर लहरों के स्थान पर कल्लोलिनियाँ उठ रही थीं, क्षितिज में वह अपने प्यारे गगन को बाहुपाश में बद्धकर असीम आनंद अनुभव कर रही थी"[5]

---

1. अब्दुल बिस्मिल्लाह -झीनी झीनी बीनी चदरिया - पृ. सं : 61
2. डॉ. रामन नायर - सागर की गलियां - पृ. सं : 39
3. डॉ. रामन नायर - सागर की गलियां - पृ. सं : 68
4. डॉ. रामन नायर - सागर की गलियां - पृ. सं : 143
5. डॉ. रामन नायर - सागर की गलियां - पृ. सं : 30

शिवप्रसाद सिंह का 'शैलूष' उपन्यास के विन्यास में भाषा की महत्ता सहज अनुमेय है । विविध स्तरों की भाषा के निर्माण से ही पात्रों के व्यक्तित्व और मानसिकता के अन्नाल को समझा जा सकता है । 'शैलूष' में भाषा के कई स्वरूप मिल जाते है । भाषा विन्यास का एक उदाहरण इसप्रकार है 'नारी को पुरुष ने सोने से सजा-धजाकर पीले साँप की गुंजलक में लपेटा है, ज़ुल्फों की बात करते वक्त अपने भौरों की पाँत देखी है, मुस्कुराते होटों पर दुपहरिया के फूल देखे है, पर उसने अभी बगनखे नहीं देखे है जो सीने में घुस सकते है । उसके साथ अनैतिक आचरण करने वाले को चेतावनी मिल जाए कि इस आवरण की रक्षा वह मारने तक करता रहेगी"[1] अनुभव और विचार को भाषा की संशिल्ष्टता में ढालकर मर्मस्पर्शी बनाया गया है । अनपढ़ पात्रों की उच्चारण ढीक उसी रूप में प्रयुक्त किया है जैसे महाभारथ, अस्सपताल, प्ररताप आदि । शिवनारायण, बुल्लेशाह आदि अनेक सन्त कवियों के वचनों, श्लोकों और उद्धरणों से लेखक ने भाषा शैली को और भी सुन्दर बनाने की कोशिश की है ।

"आत्मीयं मन्यते यास्तु सर्वंदेह परम्परा स भारतीये हिन्दु स्यात् निष्ठा यस्यास्ति भारते"[2] सिंह ने उर्दु मिश्रित भाषा का प्रयोग मुस्लिम पात्रों के द्वारा वातावरण को सजीव बनाने के लिए किया है, जैसे वहशियाने, हमदम, हम· अछीद, मुख्तसर, जुमला, मज़हब, जईफ, सलूक, गैरवाजिब आदी।

स्थान के अनुसार भाषा में भी परिवर्तन होता है, जैसे गांव में बोलनेवाली भाषा एंवं शहर में बोलनेवाली भाषा में अंतर है । 'धरती धन न अपना' में केलसिंह

---

1. शिवप्रसाद सिंह - शैलूष - पृ. सं : 86
2. शिवप्रसाद सिंह -शैलूष - पृ. सं : 144

बाढ़ के वक्त चमारों से कहता है 'आये कुछ शर्म करो, कुछ फसल बाढ़ ने बरबाद कर दी है और बाकी ने लाई न होने की वजह से सूख रही है।"[1] इसमें ग्रामीण वातावरण स्पष्ट झलकता है। गाली गलौज की भाषा इसमें भी है। चौधरी हरनामसिंह अपनी फसल बरबाद हो जाने के कारण जीत को गाली देते हुए कहते हैं - "कुत्ते के पुत्तर मेरी फसल में जानवर क्यों हांके थे"[2] इसीतरह नंदसिंह के जूते न बनाने पर चौधरी मुंशी कहता है - "कुत्ता चमार, बात यूँ करता है जैसे गांव का नंबरदार हो"[3] पंजाबी लोक-जीवन की छवि - पात्रों के नामों में, उनकी बोली के लय और लहजों में, जन प्रचलित मुहावरे और लोकोक्तियों में दिखलाई पड़ती है।

मैत्रेयी पुष्पा ने अपने उपन्यासों में विंध्या और व्रज अंचलों के यथार्थ चित्रण के लिए उन अंचलों में प्रचलित बोलियों के ठेठ, शब्दों, मुहावरों और लहज़ों का प्रयोग किया है। 'अल्मा कबूतरी' में दो प्रकांर की भाषाओं का प्रयोग किया गया है। कज्जा लोगों के बीच में प्रचलित सभ्य भाषा और कबूतर जनजातियों की भाषा। उरांवों की कथा कहनेवाला 'हस्तक्षेप' में श्रवणकुमार गोस्वामी ने स्थानीयता के पुट को महत्ता देकर उन शब्दों का प्रयोग ज़्यादा किया है। उरांवों की भाषा का प्रयोग करते हुए कठिन शब्दों के लिए हिन्दी समानार्थी शब्द भी दिए हैं । अनेक लोकोक्तियों जैसे 'कोल बुझे नई', 'पत्थर सीझे नई', 'मियां बीबी राजी तो क्या करेगा काजी' और 'चार चाँद लगाना', 'फूल न समाना', 'टस से मस होना', 'नौ दो ग्यारह होना', 'पेट में चूहा दौड़ना' आदि मुहावरों का प्रयोग भी किया है । उर्दू

---

1. जगदीशचन्द्र - धरती धन न अपना - पृ. सं :18
2. जगदीशचन्द्र - धरती धन न अपना - पृ. सं :22
3. जगदीशचन्द्र - धरती धन न अपना - पृ. सं :118

शब्दों का प्रयोग भी इसमें है - जैसे फजीहत, रूखा, हिफाज़त, फिलहाल आदि । मंत्री के संवाद में गलत उच्चारणों का प्रयोग लेखक ने व्यंग्य से किया है - "भाइयों और बहनो आदिबासी सांसकिरतिक बिकास परिसद का उदघाटन करते हुए मुझे बहुत खुसी हो रहा है "[1] कुछ पात्रों की भाषा में स्थानीय भाषा का ही प्रयोग किया गया है, फुलिया ने कहा "दारू के संगे चखना लिया जाता है, इतो हम जानते हैं, मगर चाह के संगे भी कुछ खाना चाही हमको आझे मालूम हुआ है"[2]

'धार' में संथाल जनजाति की भाषा को पूरी यथार्थता के साथ प्रस्तुत करने में संजीव सफल हुए हैं । संजीव की भाषा में ताकत है । पात्र शिक्षित है या अशिक्षित, संथाल है या नहीं आदि की पहचान हम उन पात्रों की संवाद से समझ सकते हैं । उतने सूक्ष्म रूप से लेखक ने भाषा का प्रयोग किया है । "कल देखा एक कोड़ी (बीस) आज दूकम । का बात है शंकर काक?"[3] "एतना बड़का दुनिया भगवानजी बना दिया है और तुमको कोई भी जनाना नई मिला कि दु चेंगा(बच्चा) की माँ और दूसरे को जनाना को फंसाने चले ओय, वे भी सब्बराव के डब्बे में?"[4] मैना अपने सहेलियों के साथ अपनी रसीली बातचीत को गोपन रखने के लिए सैंताली में ही बोलती थी । तुलना करके भाषा को रोचक बनाने का प्रयास लेखक ने किया है "लगभग घणडे भर बाद गले में अंट की हड्डी उगलने के लिए फाटक फिर खुला । इस बार तीस पैंतीस साल का एक गावढी

---

1. श्रवणकुमार गोस्वामी - हस्तक्षेप - पृ. सं : 87
2. श्रवणकुमार गोस्वामी - हस्तक्षेप - पृ. सं : 10
3. संजीव -धार - पृ. सं : 27
4. संजीव -धार - पृ. सं : 30

- सा आदमी वासुदेव की तरह बच्चे को लेकर बादर निकला । शे,नाग के फन की तरह छाता खोले एक सन्तरी उन्हें बस-स्टैण्ड तक पहूँचा आय तो बड़े मगरमच्छ की तरह जेलने राहत की सांस ली"[1] निरक्षर संथालों की भाषा में बदलाव लाने की कोशिश और संथालों के गलत उच्चारणों पर भी लेखक ने कथा के बीच में ज़िक्र किया है ।

संजीव के कथ्य की मौलिकता, भाषा की जादूगरी और गहरी अनर्दृष्टि द्वारा अपनी परिपक्व औपन्यासिक दृष्टि दिखाने वाला उपन्यास है 'जंगल जहाँ शुरू होता है' । इसमें पात्रानुकूल भाषा का संयोजन किया गया है । कुमार और अन्य उनके साथियों से बात करते वक्त अंग्रेज़ी मिश्रित हिन्दी भाषा का प्रयोग करते है। "नो नो, कोई जलदबाज़ी नहीं । आप लोग आपस में डिसकस कर ले । अब तक कें हमारे अनुभवों से यह सिद्ध हो गया कि पब्लिक को ऑपरेशन ह्वाट शुड आय से, हाँ जन सहयोग ही वह सूत्र है जो हमें कामयाब की मंजिल तक ले जा सकता है । इन प्रैक्टीस, यह एक टफ टास्क है, कारण इसी पब्लिक में से कुछ लोग डकैतों के सहयोग दे रहे है "[2] डाकुओं के बीच के संवाद में स्थानीय भाषा का प्रयोग किया गया है । परेमा डाकू अपनी आदत के अनुसार कभी हिन्दी, कभी भजपुरी में बोलता है ।

तेजिन्दर का 'कालापादरी' आदिवासियों पर केन्द्रित है । बिंबों का प्रयोग भाषा शैली की एक विशेषता है । "मुझे लगा कि जिस कमरे में फिलहाल

---

1. संजीव -धार - पृ. सं : 10
2. संजीव - जंगल जहाँ सुरू होता है - पृ. सं : 62

बैठा हूँ उसकी छत पर जाले ही जाले फैल आये हैं । आसपास सबकुछ निष्क्रिय है, सिर्फ मकड़ियाँ हैं, जो सक्रिय है और बाकी सब कुछ ठहर गया है, कहीं कोई गति विधि नहीं, जीवन का कोई स्पदंन नहीं, कुछ पुरानी तस्वीरें दीवारों पर टंगी है जिनके ईर्द-गिर्द धूल है और जाले है, कुछेक स्मृतियाँ है जालों से बुनी हुई, कुछ बूढे और उदास चैहरे है जिनकी आंखों में अभी भी रोशनी की औपचरिकता बाकी है"[1] आदित्य के कमरे में टँगी हुई गाँधिजी के फोटो और उसकी प्रासंगिकता को व्यक्त करने केलिए लेखक ने ऐसी भाषा का प्रयोग किया है।

आदित्य और जेम्स खाखा के बीच की निकटता को दिखाने के लिए लेखक ने एक अजीब प्रयोग किया है । "हम सोग बहुत जल्दी ही एक दूसरे के साथ 'तुम' वाली सीढ़ी पर उतर आये"[2] इस उपन्यास की भाषा शैली की सबसे बड़ी विशेषता अंग्रेज़ी शब्दों का प्रयोग है । उपन्यांस के बीस प्रतिशत भाग अंग्रेज़ी संवादों से भरा है, कहीं कहीं जेम्स खाखा के आक्रोशों को व्यक्त करने के लिए लेखक ने अंग्रेज़ी भाषा का प्रयोग किया है "द हीरो ऑफ द हिंदूज़ हू हैटेड ग ब्लैक एंड़ दलितस् एंड पोज़्ड डूबी देअरबैस्ट फ्रेंड, ए वेरी श्रियूड परसन हू लिव्ड लाइक एन आर्थोडाक्स हिंदू एंड डाइड लाइक क्रिश्चियन मार्टयर।"[3] "जेम्स खाखा और सोज़ेलिन मिंज मुझे आसपास फैली पहाड़ियों पर चढ़ते हुए देखा"[4] यह उपन्यास का अन्तिम वाक्य है, इसमें प्रयुक्त पहाड़ियाँ मामूली पहाड़ नहीं व्यवस्था द्वारा गढ़े हुए दुर्गम पहाड़ है । इसप्रकार के प्रतीकों का प्रयोग भी लेखक ने किया है ।

---

1. तेजिन्दर - कालापादरी - पृ. सं : 15
2. तेजिन्दर - कालापादरी - पृ. सं : 14
3. तेजिन्दर - कालापादरी - पृ. सं : 23
4. तेजिन्दर - कालापादरी - पृ. सं : 130

भाषायी कौशल का अनायास प्रयोग हम मनमोहन पाठक के 'गगन घटा घहरानी' में देख सकते हैं "सोचना भी क्या दिख सकता है किसी को ? जंगल के सफेद - सफेद फूल मुस्कुरा रहे थे । फूल है तो खिलेंगे ही मुस्कुराएँगे ही"[1] "नींद भी तो सब को लाकर वहीं नहीं छोड़ती जहाँ से चली थी । जागने पर चेतना को लौटना पड़ता है । कभी ज़ोर देकर लौटाना पड़ता है"[2] प्रतीक भावाभिव्यक्ति का एक ऐसा सटीक माध्यम है जो हृदय की भावनाओं को सहज संप्रेषणीयता बनाता है । "सत्ता और व्यवस्था की भरी भरकम रथ के पहियों को अपनी ओर से तोड़ा ज़ोर लगाकर उठाकर, ठेलकर, आगे बढ़ाने की एक कोशिश भर ही तो की थी डी.ए.ओ गुप्ता ने उन्हीं पहियों को जिलके तले असंख्य लोग कुचले जाकर कराह रहे थे, तड़प रहे थे, मर रहे थे, थोड़ा सा ऊपर हल्का हो जाए, तो कुच राहत मिले इन्हें"[3] तुलना करके बातों को रोचक बनाने की लेखक की क्षमता अनुपम है - "हमारी और तुम्हारी ज़िन्दगी तो उड़ते पंछी की तरह है, जहाँ दाना मिला वहीं उतर गए"[4], "चैक नाका के पास रहनेवाले खेतों में धन पककर पूरा तैयार था । बालियाँ घूँघट कोढ़ सिर नवाए दुल्हनों की तरह खड़ी थी । हवा के धोले से बार - बार अपनी पीली पीली साड़ियाँ संभालती हुई"[5] उपन्यास में आवाज़ों को चित्रित करके शब्द चित्र जैसा वर्णन किया जाता है - "नगाडे की आवाज़ डिडिंग....डिडिंग ....डिंग....डिंग....चाँक।"[6] "लप लप करता आग की लपटें पेड के झूलते पत्तों

---

1. मनमोहन पाठक - गगन घटा घहरानी -पृ. सं :175
2. मनमोहन पाठक - गगन घटा घहरानी - पृ. सं :179
3. मनमोहन पाठक - गगन घटा घहरानी - पृ. सं :179
4. मनमोहन पाठक - गगन घटा घहरानी - पृ. सं :137
5. मनमोहन पाठक - गगन घटा घहरानी - पृ. सं :174
6. मनमोहन पाठक - गगन घटा घहरानी -पृ. सं : 93

को छूने लगी । चिट - चिटाक करती लकड़ियां पट - पट पड़ रही थी"[1], "कंप कँपती हाथों से खींच खींच कर डोरयाँ कसी और बजाने लगा ....टिम....टिम....टिम...टिम...रुक -रुककर एक खास लय में पुकार के ये शब्द निकलने लगे, गूँजते हुए फैलने लगे"[2] आदि अनेक वर्णन इसमें दिये गये है । पात्रानुकूल भाषा का प्रयोग भी इस उपन्यास में देख सकते हैं । डी.ए.ओ गुप्ता बात करते वक्त अंग्रेज़ी मिश्रित हिन्दी में बोलते है - "आई एम सॉरी सुधा । सो जाओ डॉन थिंक ऑफ मी नेवल माइन्ड"[3] उरांव पात्रों की भाषा इसप्रकार है "दूर बुडबक, गइलरहे मेहर बेटी कोली आवे । आपन देखले न, कउन गति भलऊ। तोर में हरों के खटा - खटा के मुआ देतन और बेटी वो के नैतानीजा करतन सार। अपना जानी को कोरा मुआइए न देलन ....."[4] भाषा प्रयोग पर मनमोहन पाटक की क्षमता युक्ति संगत लगती है ।

उपर्युक्त सारे आंचलिक उपन्यासों में आवश्यकतानुसार विभिन्न रूपों में आवश्यकतानुसार विभिन्न रूपों में आंचलिक भाषा शैली का प्रयोग किया गया है। कहीं कहीं भाषा की कठिनता उपन्यास पठते वक्त अवरोधक होती है लेकिन आंचलिकता के पूर्णरूप को उभारने केलिए लेखक को स्थानीय भाषा का प्रयोग करना पड़ता है । यह उस उपन्यास की खूबी है, खामी नहीं । लग भग सभी समकालीन आंचलिक उपन्यासकारों ने पर्याप्त मात्रा में अंचल के अनेक शब्दों का

---

1. मनमोहन पाठक - गगन घटा घहरानी - पृ. सं : 92
2. मनमोहन पाठक - गगन घटा घहरानी - पृ. सं : 89
3. मनमोहन पाठक - गगन घटा घहरानी - पृ. सं : 42
4. मनमोहन पाठक - गगन घटा घहरानी - पृ. सं : 72

इस्तेमाल किया है । इसका कारण यह है कि जिस् अंचल वह गांव हो यह शहर, जाति, जनजाति केन्द्रित हो या धंधा केन्द्रित आदि का सूक्ष्माति सूक्ष्म चित्रण करने के पश्चात वहाँ की बोली को जैसे की तैसे न लिया जाए तो उसमें कृत्रिमता की गन्ध आने की संभावना है । अंचल को विश्वसनीय ढंग से प्रस्तुत करने के लिए भाषा को भी आंचलिक होना चाहिए । इसके लिए उपन्यासकार सहज, स्वाभाविक बोलचाल की भाषा, सजीव शब्द चित्रात्मकता, सशक्त प्रतीकात्मकत, ध्वन्यात्मकता, संक्षिप्तता, वाक्वैदग्ध्यता, अलंकारों लोकोक्तियों, मुहावरों, सपाट बयानी, अशिष्ट शब्दों तथा आंचलिक अतवा ठेठ - स्थानीय, जातीय और जनजातीय शब्दावली का प्रयोग किया है ।

आंचलिक उपन्यास का अपना एक शिल्प गठन है । इस शिल्प गठन का पालन समकालीन उपन्यासकार ने भी अपनें आंचलिक उपन्यास में पूरी ईमान्दारी के साथ किया है । आंचलिक शिल्प - पक्ष के प्रमुख तत्व - वस्तुयोजना, पात्रपरिकल्पना, थल-काल, भाषा शैली, शैली शिल्प आदि का सुन्दर ढंग से समकालीन उपन्यासकारों ने अपने आंचलिक उपन्यास में प्रयोग किया है । इन तत्वों की सहायता से हृदय के भावों को उनकी पूर्ण सच्चाई एवं गहराई से चित्रित किया गया है । उपर्युक्त विश्लेषण से यह विदित होता है कि उपन्यासों को आंचलिक बनानेवाला मुख्य तत्व शिल्प ही है ।

❖❖❖

उपसंहार

उपसंहार

आज समाज की मूलचिन्ता मनुष्य के अन्दर बाहर का संघर्ष और बढ़ती संवेदनहीनता है । जीवन में पनप चुकी संवेदनशून्यता, दिशाहीनता, व्यावहारिकता, अंध-आधुनिकता आदि को दूर कर समाज को सही राह दिखाने की चुनौती आज साहित्यकार को है । इस दृष्टि से हिन्दी उपन्यास की भूमिका आरंभ से ही महत्वपूर्ण रही है । हिन्दी उपन्यास में आंचलिक उपन्यासों का योगदान कभी नकारा नहीं जा सकता । 'अंचल' समग्रता में एक विशिष्ट भूखंड या क्षेत्र है । उस क्षेत्र के समाज और संस्कृति वहाँ की भौगोलिक विशेषताओं की देन है । इस क्षेत्र विशेष के समाज और संस्कृति की एक बृहत छाप समकालीन उपन्यासकार ने भी अपनी कृतियों में समेटा है ।

'आंचलिक उपन्यास' से मतलब सिर्फ गांव केन्द्रित उपन्यास मात्र नहीं, बल्कि आंचलिक उपन्यास के विविध आयाम हैं, उसमें गांव एक आयाम मात्र है। शहरीय अंचल, जाति, जनजाति, विशेष प्रकार के धंधा केन्द्रित अंचल आदि समकालीन आंचलिक उपन्यास के अन्य आयाम हैं । विभिन्न अंचलों में बसनेवाले जनजीवन का अपना पृथक अस्तित्व, उनकी अपनी बोली, उनके अपने विश्वास, रीति-रिवाज़, खान-पान, वेश-भूषा, धार्मिक जीवन और अन्धविश्वास, त्योहार, उनके अपने जीवन के तौर तरीके आदि होते हैं ।

उपन्यास में आंचलिकता की चर्चा स्वर्गीय फणीश्वरनाथ रेणु के उपन्यासों से प्रारंभ हुई । प्रेमचन्द के उपन्यासों में गांव परिवेश बनकर आया, बाद में रेणु तथा अन्य आंचलिक उपन्यासकारों ने आंचलिकता के केन्द्र में गांव को ही रख दिया । लेकिन समकालीन आंचलिक उपन्यासों में पिछड़े गांव और शहरीय अंचल को ही नहीं हाशिये पर पड़े जाति, जनजाति, और विशेष धंधे को लेकर जीनेवाले लोगों के लुप्त होते जानेवाले उनके रहन-सहन, रीति-रिवाज़, संस्कृति आदि को प्रकाश में लाने का भरसक प्रयत्न किया गया।

भारत गांवों का देश है। गांव को पहचानना देश को पचानने के समान है । भारतीय जीवन शैली पर ग्रामीण संस्कृति का प्रभाव किसी न किसी रूप में परिलक्षित होता है । पर्व-त्योहार, लोकजीवन-पद्धतियों और दैनिक जीवन के अनेक संहज प्रसंगों के माध्यम से हमारे गांवों की सांस्कृतिक मान्यतांओं की पहचान होती है । स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद देश व ग्रामीण जनता के स्तर को उठाने के लिए कई प्रयास किए गए, किन्तु ग्रामीण समाज को कोई विशेष लाभ न हुआ। समकालीनता के दौर में हम देख सकते हैं कि गांवों के राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, पारिस्थितिक क्षेत्रों में टूटन हो रहा है । इसका एक कारण भूमंडलीकरण है । शिक्षा का प्रचार प्रसार होने लगा, शहरों में संपर्क घना हो गया । इसके फलस्वरूप गांव अतिभावात्मक मानसिकता, व्यावसायिकता, उपयोगिता और बौद्धिक चतुराई से संपन्न होता गया। संबन्धों और मूल्यों में बदलाव आया । प्रकृति और पर्वों के प्रति रागात्मक लगाव कम होता गया । राजनीतिक प्रभाव ने एक ओर लोकजीवन को अपने अधिकारों के प्रति सचेत किया तो दूसरी ओर उनमें भयानक टूटन, स्वार्थ, व्यस्तता, असुरक्षा आदि को भर दिया । आज गांवों

में जो जीवन हम देखते हैं, वह पुरानी पंरपराओं, संस्कृतियों से भिन्न अन्य किसी बाहरी शक्तियों से त्रस्त और दूषित गांव है ।

शहर केन्द्रित आंचलिक उपन्यासों में शहर एक ऐसा स्थान है जहाँ बाहरी तौर पर हमें उसकी चमचमाती, दिखावटी, लुभाती, चमकदमक ही नज़र आते हैं, जिसके पीछे दरिद्रता, भूखमरी, बदहाली, बाढ़, अकाल की विभीषिका का भीषण मुख भी है, जिससे ज़्यादा से ज़्यादा लोग अपरिचित हैं । शहर में एक ओर ऊँची इमारतें शहर के वैभव को दिखाती है तो दूसरी ओर मलिन बस्तियाँ भी हैं, जहाँ लाखों लोग गरीबी का जीवन व्यतीत करते हैं । शहर, कस्बा, और गांव सभी टूटन से अभिशप्त हैं । शहर की चकाचौंध में न पड़कर एक कोने में वे अपनी ज़िन्दगी जीने के लिए मज़बूर हो जाते हैं । समकालीन आंचलिक उपन्यासों की सबसे बड़ी विशेषता इसीप्रकार हाशिए में पड़े लोगों का चित्रण है, जो बाहरी समाज के लिए पूर्ण रूप से अज्ञात है । जाति, जनजाति और धंधा केन्द्रित समकालीन आंचलिक उपन्यासों के अन्य आयामों में भी हम उपेक्षित जनता को देख सकते हैं ।

समकालीन आंचलिक उपन्यासों में चित्रित प्रत्येक अंचल को प्रस्तुत करने के लिए लेखक ने संस्कृति के विभिन्न आंगों का सूक्ष्मातिसूक्ष्म चित्रण किया है । इसलिए पाठक को कभी कभी लगता है कि प्रत्येक अंचल की संस्कृति एक दूसरे से बिलकुल भिन्न है, लेकिन गहराई से देखने पर पता चलेगा कि अन्तर तो सिर्फ बाह्य रूप में है । आन्तरिक रूप में प्रत्येक अंचल भारत का ही प्रतीक है। एक एक अंचल के संस्कार बाहर से अलग होते हुए भी भीतर से समानताएँ अधिक नज़र आती हैं । एक एक अंचल में चित्रित संस्कार भारतीय संस्कृति का ही द्योतक है । आंचलिक संस्कृति उस अंचल को अलग करने के रूप में नहीं बल्कि उसके स्वरूप को व्यक्त करने के लिए महत्वपूर्ण होती है ।

विभिन्न अंचलों में प्रयुक्त भौगोलिकता का चित्रण करके लेखकों ने प्राकृतिक पहाड़, नदी, जंगल आदि के साथ मनुष्य के बदले हुए रवैये को भी प्रस्तुत किया गया है । आज प्रत्येक अंचल में धर्म संप्रदाय विशेष के अर्थों में प्रयुक्त होने लगा है । धर्म का इस बदला रूप शहर और गांव में ही नहीं विभिन्न जाति, जनजातियों के बीच जंगल में भी हम देख सकते हैं । धर्म के प्रति आस्था से ज़्यादा अंधविश्वासों का पालन ही इन लोगों का जीवन है । ये लोग एक हाथ में धर्म और दूसरे हाथ में अंधविश्वास लिए हुए हैं, जब से वे शिक्षित होंगे तब से वे इस धर्म के पीछे का शोषण पहचानेंगें । उसीप्रकार जीवन की जटिलताओं ने व्यक्ति मन को पूरी तरह तोड़ दिया है, मन की यह टूटन प्रत्येक अंचल में वर्णित त्योहारों, उत्सवों, मेलों से व्यक्त होते हैं।

अंचल चाहे गांव हो या शहर, जनजाति हो या अनुसूचित जाति सभी को शोषण करने वाला एक ही है । फर्क सिर्फ रूप में है स्वभाव में नहीं । समकालीन आंचलिक उपन्यासों में वर्णित विभिन्न अंचलों में व्याप्त आर्थिक विषमता और शोषण से यह बात स्पष्ट होती है कि भारत के पिछड़े अंचलों का चकाचौंधवाला बाह्य रूप सच्चा नहीं है । ईमान्दारी का भाषण मंचों पर देकर बेईमानी को अर्थ प्राप्ति का एक मात्र साधन मानना आज की सभ्यता की नंगी विभीषिका है । पिछड़े अंचलों का विकास जब होगा तब हमारा देश प्रगति के पथ पर होगा । सरकारी विकास कार्यक्रमों का पूरा लाभ आदिवासियों को नहीं मिल पा रहा है । सरकारी गणों ने इनके आधिकारों के रक्षा करने की बजाए इनकी दुर्दशा से लाभ उठाया, इस प्रवृत्ति ने जनजातीय लोगों के आर्थिक आधार को तहस नहस कर दिया और उन्हें दरिद्र बना दिया। आर्थिक और सामाजिक दृष्टि से पिछड़ी हुई जनजातियों के विकास में मुख्य बाधा अंधविश्वास, सामाजिक कुरीतियाँ आदि हैं।

आज प्रत्येक कार्य जातीय आधार पर होता है। जाति के नाम पर अलग अलग संगठन खड़े हो गये हैं । जाति के आधार पर भेद भाव की भावना विकराल रूप धारण कर चुकी है । अनुसूचित जातियाँ, जनजातियाँ और अन्य निम्नतर की जातियाँ आज भी सामाजिक धारा से छिटकी हुई नज़र आती हैं । आदिवासियों की पहचान का भी भीषण संकट आज उत्पन्न हो गया है । आदिवासी व दलित जब तक अपना नेतृत्व खुद नहीं करेंगे, तब तक उनकी अवस्था में कोई परिवर्तन होने वाला नहीं है । आज आवश्यकता है कि आदिवासियों व दलितों के बीच से ही नेतृत्व निकले और इन लोगों के लिए काम करने वाले संगठनों का दायित्व है कि इनके अंदर नेतृत्व करने की सोच विकसित करने की और उन्हें प्रेरित करें और उन्हें उचित अवसर प्रदान करें । समकालीन आंचलिक उपन्यासों में हम जातिगत शोषण के साथ साथ उसके खिलाफ उठने वाले आक्रोश भी देख सकते हैं । हाशिये पर उपेक्षित भोली जनजातियों, दलितों का शोषण और दयनीय दुर्दशा के लिए मुख्य रूप से उत्तरदायी शिक्षा की कमी है । शिक्षा से ज्ञान का प्रसार होता है, ज्ञान आंतरिक बल देता है, जो कि आदिवासियों व निम्नतर जातियों को शोषण व गरीबी से मुक्ति पाने के लिए बहुत ही आवश्यक है ।

राजनीति के कारण प्रत्येक अंचल दिन प्रतिदिन द्वेष-वैर विरोध, हिंसा आदि से युक्त हो रहा है । राजनीतिक पतन और व्यवस्थागत विसंगतियों ने भारतीय जनमानस को अत्यधिक आहत किया है । सदि के उत्तरार्ध तक आते आते राजनीति की नीति पूर्णतः लुप्त हो गयी है । इसने विकास का आत्यधिक दोहन किया है । समकालीन आंचलिक उपन्यासों में भ्रष्ट व्यवस्था और पतनोन्मुख राजनीति का व्यापक रूप में अंकन हुआ है । उपन्यासकारों ने मात्र क्षेत्रीय

राजनीति को ही नहीं, बल्कि राष्ट्रीय राजनीतिक संदर्भों को भी गहराई से तराशा है। वर्तमान राजनीति में पनपी हुई रिश्वतखोरी, अवसरवादिता, सत्तालोलुपता, भाई-भतीजावाद, सांप्रदायिकता आदि का विस्तृत वर्णन समकालीन आंचलिक उपन्यासों में किया गया है ।

भारतीय गांव और शहर के पिछड़े अंचलों में बसनेवाली नारी का जीवन ही नहीं निम्न व जनजातीय महिलाओं का जीवन भी विषादपूर्ण है । स्त्री गांव की हो या शहर की, आदिवासी हो या अन्य शोषण हमेशा एक जैसा होता है । शोषकों के रूप में ही बदलाव आता है। आज नारी की स्थिति में बदलाव आ रहा है । आज शोषण का शिकार होकर नारी दल दल में फंसी रहना अपनी कमज़ोरी समझ रही है । अब उसमें विद्रोह के स्वर मुखर हो उठे हैं । यह हम प्रत्येक समकालीन आंचलिक उपन्यासों देख सकते हैं ।

बिगड़ता पर्यावरण और सामाजिक अन्याय एक ही सिक्के के दो पहलू हैं । आज का विकास तो एक ऐसा माध्यम बन गया है जिसके ज़रिए अमीर और ताकत वर्ग देश के प्राकृतिक संसाधनों को अपने कब्जें में करता जा रहा है और इस षड्यन्त्र में आधुनिक तकनीक पूरी मदद कर रही है । अति भौतिकवादी होने से हम भारतीय अपने ही मूल कारकों का विनाश करने को तुले हुए हैं । पर्वत, नदी, हवा, जल, वृक्ष सभी का विनाश करते हुए हम प्रफुल्लित हो रहे हैं । इस बदलती भारतीय मानसिकता को अपने आंचलिक उपन्यासों के द्वारा चित्रित करने में समकालीन आंचलिक उपन्यासकार सफल हुए हैं । उपभोक्तावादी समाज की नयी नयी मांगों के कारण आज परिस्थिति विनाश की ओर बढ़ रही है । इन सबके पीछे भूमंडलीकरण की प्रक्रिया काम कर रही है ।

भाषा की आंचलिकता आंचलिक उपन्यासों की सबसे बड़ी विशेषता है। उपन्यासों को आंचलिक बनानेवाला मुख्य तत्व शिल्प ही है । अंचल की भाषा, आंचल क्षेत्र की बोली, वहाँ के लोकगीत, लोककथाएँ एक नवीन शिल्प का निर्माण करती हैं । स्थानीय भाषा के प्रयोग के कारण कही कहीं भाषा की कठिनता उपन्यास पठते वक्त अवरोधक होती है, लेकिन आंचलिकता के पूर्ण रूप को उभारने के लिए लेखक को स्थानीय भाषा का प्रयोग करना पड़ता है। यह उस उपन्यास की खूबी है, खामी नहीं । किसी अंचल का चित्र देते समय उसमें समग्र जीवन की अभिव्यक्ति आवश्यक है । समग्र जीवन की प्रस्तुति में स्थानीय भाषा का भी महत्वपूर्ण स्थान है । अंचल को विश्वसनीय ढ़ंग से प्रस्तुत करने के लिए भाषा को भी आंचलिक होना चाहिए । इसलिए एक बात ज़रूर है कि आंचलिक उपन्यास का अपना एक शिल्प गठन है । इस शिल्प गठन का पालन समकालीन उपन्यासकार ने भी अपने आंचलिक उपन्यास में पूरी ईमान्दारी के साथ किया है ।

इसप्रकार कहा जा सकता है कि समकालीन आंचलिक उपन्यास के हर एक आयाम का चाहे पिछड़े गांव हो या शहर, जनजाति हो या अनुसूचित जाति या विशेष धंधे को लेकर जीनेवाले लोगों के अंचल हो सबका अपना महत्वपूर्ण स्थान है । प्रकृति, और समाज तथा मनुष्य का संघर्ष एक तरफ है तो दूसरी तरफ परंपरा और नवीनता का संघर्ष है । आज व्यवस्था बदल गयी है, शोषण के तरीके बदल गये हैं । व्यक्तिगत स्वार्थ के महत्वपूर्ण होते जाने या बना दिये जाने की प्रक्रिया में सामूहिकता की भावना निरन्तर चोट खाती रही है । आंचलिक उपन्यास हमारे सांस्कृतिक जीवन का चित्र है । हमारी संस्कृति का प्रस्तुतीकरण जितने समग्र रूप में आंचलिक उपन्यासों के द्वारा हुआ है, उतना अन्यत्र नहीं हुआ । इसलिए निसःन्देह गर्व के साथ कहा जा सकता है कि इन उपन्यासों ने हिन्दी उपन्यासों को समृद्ध किया है ।

❖❖❖

संदर्भ ग्रन्थसूची

आधार ग्रन्थ :

1.	अल्मा कबूतरी	मैत्रेयी पुष्पा राजकमल प्रकाशन 1 बी - नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज नई दिल्ली - 110002 प्रथम संस्करण - 1999
2.	इदन्नमम	मैत्रेयी पुष्पा किताबघर 24, अंसारी रोड, दरियागंज नई दिल्ली - 110002 प्रथम संस्करण - 1994
3.	कालापादरी	तेजिन्दर नेशनल पब्लिशिंग हाउस 2/35 अंसारी रोड, दरियागंज नई दिल्ली - 110002 प्रथम संस्करण - 2002
4	कोई अजनबी नहीं	शैलेश मटियानी ग्रन्थ अकादमी 1641, अंसारी रोड, दरियागंज नई दिल्ली - 110002 प्रथम संस्करण - 2006
5.	गगन घटा घहरानी	मनमोहन पाठक प्रकाशन संस्थान ऋ715/21दयानंद मार्ग, दरियागंज नई दिल्ली - 110002 प्रथम संस्करण - 1991

6.	चाक	मैत्रेयी पुष्पा राजकमल प्रकाशन 1 बी - नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज नई दिल्ली - 110002 प्रथम संस्करण - 1997
7.	जहाँ खिले है रक्त पलाश	राकेशकुमार सिंह नेशनल पब्लिशिंग हाउस 2/35 अंसारी रोड, दरियागंज नई दिल्ली - 110002 प्रथम संस्करण - 2003
8.	जंगल जहाँ शुरू होता है	संजीव राधाकृष्ण प्रकाशन प्र. लि. नई दिल्ली - 110002 प्रथम संस्करण - 2000
9.	ज़िन्दगीनामा	कृष्णासोबती राजकमल प्रकाशन 1 बी - नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज नई दिल्ली - 110002 प्रथम संस्करण - 1979
10.	झीनी झीनी बीनी चदरिया	अब्दुल बिस्मिल्लाह राजकमल प्रकाशन प्र. लि. 8 - नेताजी सुभाष मार्ग नई दिल्ली - 110002 प्रथम संस्करण - 1986
11.	डूब	वीरेन्द्रजैन वाणी प्रकाशन 21 ए/ दरियागंज नई दिल्ली - 110002 प्रथम संस्करण - 1991

12. तकसीम	द्रोणवीर कोहली किताबघर प्रकाशन 24, अंसारी रोड, दरियागंज नई दिल्ली - 110002 प्रथम संस्करण - 1994
13. धरती धन न अपना	जगदीश चन्द्र राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली - 110002 प्रथम संस्करण - 1972
14. धार	संजीव राधाकृष्ण प्रकाशन प्र. लि. नई दिल्ली - 110002 प्रथम संस्करण - 1990
15. पार	वीरेन्द्रजैन वाणी प्रकाशन 21 ए/ दरियागंज नई दिल्ली - 110002 प्रथम संस्करण - 1992
16. बीसबरस	रामदरश मिश्र वाणी प्रकाशन 21 ए/ दरियागंज नई दिल्ली - 110002 प्रथम संस्करण - 1996
17. मुर्दाघर	जगदम्बा प्रसाद दीक्षित राधाकृष्ण प्रकाशन प्र. लि. जी - 17, जगतपुरी नई दिल्ली - 110002 प्रथम संस्करण - 1974

18. यह अन्त नहीं	मिथिलेश्वर किताबघर प्रकाशन 24, अंसारी रोड, दरियागंज नई दिल्ली - 110002 प्रथम संस्करण - 2000
19. लाल पीली ज़मीन	गोविन्द मिश्र 1 - बी नेताजी सुभाष मार्ग नई दिल्ली - 110002 प्रथम संस्करण - 2003
20. शैलूष	शिवप्रसाद सिंह नेशनल पब्लिशिंग हाउस 23 - दरियागंज नई दिल्ली - 110002 प्रथम संस्करण - 1989
21. समरशेष है	विवेकी राय प्रभात प्रकाशन 205, चावड़ी बाज़ार नई दिल्ली - 110006 प्रथम संस्करण - 1988
22. सागर की गलियाँ	डॉ. एन. रामन नायर राजपाल एण्ड सन्ज़, कश्मीरीगेट दिल्ली द्वारा प्रकाशित प्रथम संस्करण - 1987
23. सोनामाटी	विवेकी राय प्रभात प्रकाशन 205, चावड़ी बाज़ार नई दिल्ली - 110006 प्रथम संस्करण - 1983

24. हस्तक्षेप — श्रवणकुमार गोस्वामी
किताबघर प्रकाशन
24, अंसारी रोड, दरियागंज
नई दिल्ली - 110002
प्रथम संस्करण - 2003

सहायक ग्रन्थ :

1. अध्ययन और आस्वाद — जे.सुगन्धवल्ली
फोकलोर प्रकाशन
तिरुवनन्तपुरम, केरला
प्रथम संस्करण - 2004

2. आठवें दशक के हिन्दी उपन्यास — रजनीकान्त जैन
ऋषभचरण जैन एवम् सन्तति
4697/5 - 21 ए दरियागंज
नई दिल्ली - 110002
प्रथम संस्करण - 1988

3. आदि, अन्त और आरंभ — निर्मल वर्मा
राजकमल प्रकाशन प्र. लि.
1बी नेताजी, सुभाष मार्ग
नई दिल्ली - 110002
प्रथम संस्करण - 2001

4. आधुनिक हिन्दी उपन्यास सृजन और आलोचना — डॉ. चन्द्रकांत बांदिवडेकर
नेशनल पब्लिशिंग हाउस
23, दरियागंज
नई दिल्ली - 110002
प्रथम संस्करण - 1985

5. आधुनिक हिन्दी उपन्यासों में नारी के विविध रूपों का चित्रण — डॉ. मोहम्मद अज़हर ढेरीवाला
चिन्तन प्रकाशन
22 ए मछरिया रोड, कानपुर
प्रथम संस्करण - 2001

6.	आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य और चरित्र चित्रण	डॉ. बेचन प्रभात प्रकाशन चावड़ी बाज़ार नई दिल्ली - 110006 प्रथम संस्करण - 1994
7.	आधुनिक हिन्दी साहित्य	डॉ. रामगोपाल सिंह चौहान अनामिका प्रकाशन ए. 7/46/कृष्णनगर नई दिल्ली - 110051 प्रथम संस्करण - 1993
8.	आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास	डॉ. बच्चन सिंह लोकभारती प्रकाशन 15 - ए -महात्मागांधी मार्ग इलाहाबाद संशोध संस्करण - 1999
9.	आंचलिक उपन्यास संवेदना और शिल्प	डॉ. ज्ञानचन्दगुप्त अभिनव प्रकाशन 21 ए दरियागंज नई दिल्ली - 110006 प्रथम संस्करण - 1975
10.	आंचलिक संवाद दाता	सुरेश पंड़ित राधाकृष्ण प्रकाशन प्र. लि. जी 17, जगतपुरी नई दिल्ली - 110051 प्रथम संस्करण - 1991
11.	आंचलिक हिन्दी कहानी	चन्द्रशेकर कर्ण चित्रलेखा प्रकाशन सोहबतिया बाग, इलाहाबाद प्रथम संस्करण - 1977

12. आंचलिकता और हिन्दी उपन्यास	डॉ. निर्मला जैन अक्षर प्रकाशन 2136 दरियागंज नई दिल्ली - 110002 प्रथम संस्करण - 1976
13. आंचलिकता की कला और कथा साहित्य	डॉ. राजेन्द्रप्रसाद मिश्र प्राची प्रकाशन एल - 3 - लजपत नगर नई दिल्ली - 110024 प्रथम संस्करण - 1990
14. उत्तर शति का उपन्यास	डॉ. एन मोहनन कुंजबिहारी पचौरी जवाहर पुस्तकालय, सदरबाज़ार मथुरा (उ.प्र) 281001 प्रथम संस्करण - 2004
15. उदारीकरण की राजनीति	राजकिशोर वाणी प्रकाशन 21 ए/ दरियागंज नई दिल्ली - 110002 प्रथम संस्करण - 1998
16. उपन्यास का पुनर्जन्म	परमानंद श्रीवास्तव वाणी प्रकाशन 21 ए/ दरियागंज नई दिल्ली - 110002 प्रथम संस्करण - 1995
17. उपन्यास का स्वरूप	वाणी प्रकाशन 21 ए/ दरियागंज नई दिल्ली - 110002 प्रथम संस्करण - 1996

18. उपन्यास की शर्त	जगदीश श्रीनारायण श्रीवास्तव किताबघर 24 आंसारी रोड, दरियागंज नई दिल्ली - 110002 प्रथम संस्करण - 1998
19. उपन्यास स्वरूप और संवेदना	राजेन्द्र यादव वाणी प्रकाशन 21 ए/ दरियागंज नई दिल्ली - 110002 प्रथम संस्करण - 1997
20. उपन्यास स्वरूप, संरचना तथा शिल्प	शान्ति स्वरूप गुप्ता लोधी ग्रन्थ निकेतन 9679/19, बागरावजी नई दिल्ली - 110006 प्रथम संस्करण - 1973
21. उपन्यास शिल्प और प्रवृत्तियाँ	डॉ. सुरेश सिन्हा रामा प्रकाशन बीडी मेहरोत्रा, लखनऊ प्रथम संस्करण - 1965
22. एक नज़र कृष्णासोबती पर	रोहिणी अखिल भारती 3014,चर्केवालान नई दिल्ली - 110006 प्रथम संस्करण - 2006
23. कहानी अनुभव और अभिव्यक्ति	राजेन्द्र यादव वाणी प्रकाशन 21 ए/ दरियागंज नई दिल्ली - 110002 प्रथम संस्करण - 1996

24. कहानी में अनुपस्थित	गौतम सन्याल मेधाबुक्स, एक्स-11 नवीन शाहदरा नई दिल्ली - 110032 प्रथम संस्करण - 1999
25. कृष्णासोबती के कथा साहित्य में स्त्री का स्वरूप	एस. अनिता जवाहर पुस्तकालय हिन्दी पुस्तक प्रकाशक मथुरा - 281001 प्रथम संस्करण - 2006
26. कृष्णासोबती व्यक्ति एवं साहित्य	डॉ. ब्रिजिटपॉल जवाहर पुस्तकालय हिन्दी पुस्तक प्रकाशक मथुरा - 281001 प्रथम संस्करण - 2005
27. गद्य की सत्ता	रामस्वरूप चतुर्वेदी दि मेक मिलन कंपनी ऑफ इंडिया नई दिल्ली - 110032 प्रथम संस्करण - 1977
28. ग्राम्य जीवन की कहानियां	संपादक. गिरिराजशरण प्रभात प्रकाशन 4/19 आलस अली रोड नई दिल्ली - 110002 प्रथम संस्करण - 2002
29. जाति का ज़हर	राजकिशोर वाणी प्रकाशन 21 ए/ दरियागंज नई दिल्ली - 110002 प्रथम संस्करण - 2001

30. दलित चेतना साहित्यक एवं सामाजिक सरोकार
रमणिका गुप्ता
समीक्षा प्रकाशन
गांधी नगर
नई दिल्ली - 110031
प्रथम संस्करण - 2001

31. धर्म और सांप्रदायिकता
नरेन्द्र मोहन
प्रभात प्रकाशन
8/11/असफ अली रोड़
नई दिल्ली - 110002
प्रथम संस्करण - 1996

32. नई सदी के उपन्यास
संपादक. नवीन चन्द्रलोहनी
भावना प्रकाशन
नई दिल्ली - 110091
प्रथम संस्करण - 2004

33. नये उपन्यासों में नये प्रयोग
दंगल झाल्टे
प्रभात प्रकाशन
चावड़ी बाज़ार
नई दिल्ली - 110006
प्रथम संस्करण - 1994

34. निबन्ध सागर
डॉ. प्रमोद कुमार अग्रवाल
ऊर्जा प्रकाशन
83 ए /69 ए नया बैरहना
इलाहाबाद 211003
प्रथम संस्करण - 1996

35. पर्यावरण की संस्कृति
शंभू पटवा
वाग्देवी प्रकाशन
सुगन निवास, चन्दरनगर
बीकानेर - 334001
प्रथम संस्करण - 1993

36. पुलिस एवं समाज
एस. अखिलेश
गायत्री पब्लिकेशन
41/42 रघुवंश सदन
रीवा - 486001

37. पंचायत और गांवसमाज पुनर्जागरण की राह
चनद्रशेखर प्राण
पंचपरमेश्वर प्रकाशन
लखनऊ
प्रथम संस्करण - 2001

38. प्रकृति, पर्यावरण और समकालीन कवि
मनीषा झा
आनंद प्रकाशन
कोलकत्ता - 700007
प्रथम संस्करण - 2003

39. प्रेमचन्दोत्तर हिन्दी उपन्यास नये नैतिक मूल्य
शशिगुप्ता
अमन प्रकाशन
4378/4 बी. अंसारी रोड़
नई दिल्ली - 110002
प्रथम संस्करण - 1999

40. फणीश्वरनाथ रेणु की उपन्यास कला
कुसुम सोफ्ट
प्रभात प्रकाशन
वसुमति 38, जीरो रोड़
इलाहाबाद
प्रथम संस्करण - 1968

41. फणीश्वरनाथ रेणु सृजन और संदर्भ
संपादक. अशोक कुमार
आधार प्रकाशन
पंचकुल, हरियाणा
प्रथम संस्करण - 1994

42. भारत के व्यक्तित्व की पहचान
सूर्यकान्त बाली
प्रवीण प्रकाशन
सात गंगा - 205 सी चावड़ी बाज़ार
नई दिल्ली - 110006
प्रथम संस्करण - 1995

43. भारत की जनजातियाँ
डॉ. शिवतोष दास
किताबघर, गांधीनगर
नई दिल्ली - 110031
प्रथम संस्करण - 1983

44. भारतीय ग्राम
श्यामचरणदुबे
दि वि पब्लिशर्स
35 ए. डी.डी.ए.फ्लैट
मानसरोवर पार्क, शाहदरा
नई दिल्ली - 110002
प्रथम संस्करण - 2000

45. भारतीय जनजातियाँ अतीत के झरोखे से
रूपचन्द्र वर्मा
सूचना और प्रसारण मंत्रालय
भारत सरकार, पटियाल हाउस
नई दिल्ली - 110001
प्रथम संस्करण - 1997

46. भारतीय समाज और अपराध
श्री कृष्णशर्मा
नवचेतन प्रकाशन
राजापुरी उत्तमनगर
नई दिल्ली - 110059
प्रथम संस्करण - 2003

47. भारतीय संस्कृति के मूलतत्व
सोती वीरेन्द्र चन्द
राजपाल एणड सन्स
कश्मीरी गेट
नई दिल्ली - 110059
प्रथम संस्करण - 1998

48. भूमंडलीकरण और उत्तर सांस्कृतिक विमर्श
सुधीश पचौरी
प्रवीण प्रकाशन
महरौली
नई दिल्ली - 110030
प्रथम संस्करण - 2003

49. भोजपुरी लोक साहित्य का अध्ययन	डॉ. कृष्णदेव उपाध्याय हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय वाराणसी प्रथम संस्करण - 1960
50. मैला आँचल	फणीश्वरनाथ रेणु राजकमल प्रकाशन प्र. लि. नेताजी सुभाष मार्ग नई दिल्ली - 110002 प्रथम संस्करण - 1954
51. राजस्थानी कहावतें एक अध्ययन	कन्हैयालाल सहल भारतीय साहित्य मन्दिर फव्वारा, राज्यपाल नई दिल्ली - 110036
52. रेणु का आंचलिक कथासाहित्य	पूर्णदेव प्रवीण प्रकाशन सात गंगा - 205 सी चावड़ी बाज़ार नई दिल्ली - 110006 प्रथम संस्करण - 2000
53. लोक और लोक का स्वर	विद्यानिवास मिश्र प्रभात प्रकाशन 4/19/असफ अली रोड़ नई दिल्ली - 110002 प्रथम संस्करण - 2000
54. व्यक्ति चेतना और स्वातंत्र्योत्तर	डॉ. पुरुषोत्तम दुबे अनुपमा प्रकाशन बोटावाला बिलडिंग मुम्बई - 1 प्रथम संस्करण - 1973

55. सत्रह आंचलिक कहानियाँ
संपादक. राजेन्द्र अवस्थी
अनामिका प्रकाशनं
ए. 7/46/कृष्णनगर
नई दिल्ली - 110051
प्रथम संस्करण - 1993

56. समकालीन कविता संप्रेषण, विचार, आत्मकथ्य
डॉ. वीरेन्द्र सींह
पंचशील प्रकाशन फिल्मकॉलनी
जयपूर - 302003
प्रथम संस्करण - 1987

57. समकालीन कहानी की पहचान
डॉ. नरेन्द्र मोहन
प्रवीण प्रकाशन
नहरौली
नई दिल्ली - 110030
प्रथम संस्करण - 1987

58. समकालीन भारत
मनोहरपुरी, उषापुरी
अनमेल साहित्य प्रकाशन
पश्चिम बिहार
नई दिल्ली - 110063
प्रथम संस्करण - 2000

59. समकालीन साहित्य चिंतन
डॉ. रामदरश मिश्र, डॉ. महीप सिंह
ज्ञान गंगा - 205
सी, चावड़ी बाज़ार
नई दिल्ली - 110006
प्रथम संस्करण - 1995

60. समकालीन सिद्धान्त और साहित्य
विश्वभंरनाथ उपाध्याय
एस जीवसनी द्वारा
दि मैक मिलन कंपनी ऑफ
इंडिया लिमिटड के लिए प्रकाशित
नई दिल्ली - 110005
प्रथम संस्करण - 1976

61. समकालीन हिन्दी उपन्यास कथ्य-विश्लेषण	डॉ. प्रेमकुमार इन्दुप्रकाशन अलीगढ़ - 202001 प्रथम संस्करण - 1983
62. समकालीन हिन्दी उपन्यास की भूमिका	डॉ. रणवीर रांग्रे जागराम एण्ड सन्स 9/221, मेना बाज़ार प्रथम संस्करण - 1986
63. समकालीन हिन्दी कथा साहित्य	डॉ. प्रेमकुमार राजश्री बुकसेन्टर भोपाल - 462073 प्रथम संस्करण - 1984
64. समकालीन हिन्दी कहानी और समाजवादी चेतना	डॉ. किरणबाला अनुभव प्रकाशन श्रीनगर कानपूर प्रथम संस्करण - 1988
65. समकालीन हिन्दी कहानी का इतिहास	अशोक भाटिया भावना प्रकाशन 109/ए/पटपड़गांव नई दिल्ली - 110091 प्रथम संस्करण - 2003
66. समाजवादी यथार्थवाद और हिन्दी कथा साहित्य	डॉ. प्रेमलता जैन नवचेतन प्रकाशन गली नं. 16, राजापुटी नई दिल्ली - 110059 प्रथम संस्करण - 2004
67. साहित्य और संस्कृति	जैनेन्द्र कुमार पूर्वोदय प्रकाशन नवीन शाहदरा नई दिल्ली - 110032 प्रथम संस्करण - 1979

68. संस्कृति की उत्तरकथा	शंभूनाथ वाणी प्रकाशन 21 ए दरियागंज नई दिल्ली - 110002 प्रथम संस्करण - 2000
69. स्त्री के लिए जगह	संपादक. राजकिशोर वाणी प्रकाशन 21 ए दरियागंज नई दिल्ली - 110002 प्रथम संस्करण - 1994
70. स्वातंत्र्योत्तर आंचलिक उपन्यास	सुभाषिनी शर्मा राजपाल एणड सन्स कशमीरी गेट नई दिल्ली - 110059 प्रथम संस्करण - 1998
71. स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास	डॉ. आर. सुरेन्द्रन लोकभारती प्रकाशन महात्मागांधी मार्ग इलाहाबाद प्रथम संस्करण - 1997
72. स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास	डॉ. कान्ति वर्मा रामचन्द्र एण्ड कंपनी नई दिल्ली - 110006 प्रथम संस्करण - 1966
73. स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास और ग्रामचेतना	डॉ. ज्ञानचन्दगुप्ता अभिनव प्रकाशन नई दिल्ली - 110002 प्रथम संस्करण - 1974

74.	स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास बदलते सामाजिक परिप्रेक्ष्य में	डॉ. उमेश प्रसाद सिंह शिक्षा निकेतन वाराणसी प्रथम संस्करण - 1988
75.	स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास में ग्रामीण यथार्थ और समाजवादी चेतना	सुरेन्द्र प्रताप यादव भावना प्रकाशन 426, पटपड़गंज नई दिल्ली - 110091 प्रथम संस्करण - 1992
76.	स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास में पुरुष पात्र	दुर्गेशनन्दिनी प्रसाद गीता प्रकाशन नई दिल्ली - 110006 प्रथम संस्करण - 1993
77.	स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानी में ग्राम्य जीवन और संस्कृति	डॉ. राजेन्द्र कुमार परिमल पब्लिकेशन्स नई दिल्ली - 110007 प्रथम संस्करण - 1988
78.	हिन्दी उपन्यासः आज	डॉ. के. वनजा कोच्चिन विश्वविद्यालय कोच्चि, केरला प्रथम संस्करण - 2007
79.	हिन्दी उपन्यास और दलित नारी	कुसुम मेघवाल संधी प्रकाशन जयपुर - 302017 प्रथम संस्करण - 1991
80.	हिन्दी उपन्यास 1950 के बाद	संपादक. निर्मलाजैन, नित्यानंद तिवारी नेशनल पब्लिशिंग हाउस 23 /दरियागंज नई दिल्ली - 110002 प्रथम संस्करण - 1983

81. हिन्दी उपन्यास एक अन्तर्यात्रा — डॉ. रामदरश मिश्र
राजकमल प्रकाशन प्र. लि.
नेताजी सुभाष मार्ग
नई दिल्ली - 110002
प्रथम संस्करण - 1968

82. हिन्दी उपन्यास एक सर्वेक्षण — श्री. महेन्द्र चतुर्वेदी
नेशनल पब्लिशिंग हाउस
23 /दरियागंज
नई दिल्ली - 110002
प्रथम संस्करण - 1962

83. हिन्दी उपन्यास का विकास — मधुरेश
सुमित्रा प्रकाशन
इलाहाबाद
प्रथम संस्करण - 1998

84. हिन्दी उपन्यास की प्रवृत्तियाँ — डॉ. शशिभूषण सिंहल
विनोद पुस्तक मन्दिर
आगरा
प्रथम संस्करण - 1988

85. हिन्दी उपन्यास की दिशाएँ — वेदप्रकाश अमिताभ
गोविन्द प्रकाशन
उत्तरप्रदेश
प्रथम संस्करण - 2003

86. हिन्दी उपन्यास जनवादी परंपरा — कुंवरपाल सिंह
नवचेतन प्रकाशन
नई दिल्ली - 1100035
प्रथम संस्करण - 2004

87. हिन्दी उपन्यास महाकाव्य के स्वर
डॉ. शान्ति स्वरूप गुप्ता
अशोक प्रकाशन
नई दिल्ली - 110006
प्रथम संस्करण - 1971

88. हिन्दी उपन्यास में पारिवारिक संदर्भ
उषा मंत्री
नाशनल पब्लिशिंग हाउस
दरियागंज
नई दिल्ली - 110002
प्रथम संस्करण - 1991

89. हिन्दी उपन्यास सामाजिक चेतना
डॉ. कुंवरपाल सिंह
हरीरामद्विवेदी पांडुलिपी प्रकाशन
कुष्णनगर
प्रथम संस्करण - 1976

90. हिन्दी उपन्यास सिद्धान्त और समीक्षा
डॉ. माखनलाल शर्मा
प्रभात प्रकाशन
205/चावड़ी बाज़ार
नई दिल्ली - 110006
प्रथम संस्करण - 1976

91. हिन्दी उपन्यासों में प्रशासन
डॉ. सुधाकर अदीब
अभिव्यंजना - बी
70/72, डी.एस.आई.डी.सी.कोम्पलेक्स
नई दिल्ली - 110035
प्रथम संस्करण - 1996

92. हिन्दी उपन्यासों में महाकाव्यात्मक चेतना
डॉ. सुषमारानी गुप्ता
सूर्यप्रकाशन, नई सड़क
नई दिल्ली - 110006
प्रथम संस्करण - 1983

93. हिन्दी के आंचलिक उपन्यास
राधेश्याम कौशीक
मंगल प्रकाशन
नई दिल्ला - 110006
प्रथम संस्करण - 1962

94. हिन्दी के आंचलिक उपन्यास
संपादक.डॉ. रामदरश मिश्र, ज्ञानचन्दगुप्त
वाणी प्रकाशन
61/एफ/कमला नगर
नई दिल्ली - 110007
प्रथम संस्करण - 1984

95. हिन्दी के आंचलिक उपन्यास और उनकी शिल्पविधि
डॉ. आदर्श सक्सेना
सूर्यप्रकान मंदिर
बीकानेर
प्रथम संस्करण - 1971

96. हिन्दी के आंचलिक उपन्यास सामाजिक एवं सांस्कृतिक संदर्भ
विमलशंकर नागर
प्रेरणा प्रकाशन
प्रीतिविहार, मुरादाबाद
प्रथम संस्करण - 1985

97. हिन्दी के आंचलिक उपन्यासों में जीवन सत्य
इन्दुप्रकाश पाण्डेय
नाशनल पब्लिशिंग हाउस, दरियागंज
नई दिल्ली - 110002
प्रथम संस्करण - 1979

98. हिन्दी के आंचलिक उपन्यासों में मूल्यसंक्रमण
वेदप्रकाश अमिताभ
वाणी प्रकाशन, दरियागंज
नई दिल्ली - 1100002
प्रथम संस्करण - 1997

99. हिन्दी के राजनीतिक उपन्यासों का अनुशीलन
व्रजभूषण सिंह आदर्श
रचना प्रकाशन, खुलदाबाद
इलाहाबाद - 1
प्रथम संस्करण - 1970

100. हिन्दी गद्य प्रकृति और रंचना संदर्भ
डॉ. रामचन्द्र तिवारी
विश्वविद्यालय प्रकाशन
वाराणसी - 221001
प्रथम संस्करण - 2004

101. हिन्दी साहित्य कोश भाग (1) संपादक, धीरेन्द्र वर्मा
ज्ञानमंडललिमिटेड
कबीरचौरा, वाराणसी
बनारस
प्रथम संस्करण - श्रीकृष्णजन्माष्टमी
संवत् 2015

103. हिन्दी साहित्य पिछला दशक प्रताप नारायण टंडन
हिन्दी साहित्य भंड़ार
लखनऊ
प्रथम संस्करण - 1957

103. हिन्दी साहित्य में महानगरीय जीवन बाबा साहेब कोकोट
समता प्रकाशन
कानपूर - 209303
प्रथम संस्करण - 2003

पत्रिका :

1.	आजकल	दिसंबर	1977
2.	आजकल	दिसंबर	1979
3.	आजकल	मार्च	1981
4.	आजकल	अप्रैल	1983
5.	आजकल	दिसंबर	1985
6.	आजकल	सितंबर	1989
7.	आजकल	दिसंबर	1990
8.	आलोचना	जनवरी	1960
9.	आलोचना	जुलाई/सितंबर	2000
10.	आलोचना	जुलाई/सितंबर	2001
11.	इन्द्रप्रस्थ भारती	जनवरी/मार्च	2003
12.	इन्द्रप्रस्थ भारती	अक्तूबर/दिसंबर	2004
13.	कथन	जुलाई/सितंबर	2000

14.	कथन	जनवरी/मार्च	2002
15.	कथादेश	दिसंबर	2001
16.	कथादेश	मार्च	2003
17.	कथादेश	जून	2005
18.	गगनान्चल	जनवरी/मार्च	1993
19.	दस्तावेज़	अक्तूबर/जनवरी	1987
20.	दस्तावेज़	अप्रैल/जून	1996
21.	दस्तावेज़	अप्रैल/जून	1999
22.	दस्तावेज़	अप्रैल/जून	2000
23.	दस्तावेज़	जुलाई/सितंबर	2001
24.	दस्तावेज़	अप्रैल/जून	2004
25.	भाषा	दिसंबर	1989
26.	भाषा	जनवरी/फरवरी	1992
27.	भाषा	सितंबर/अक्तूबर	1992
28.	भाषा	मई/जून	1996
29.	भाषा	जुलाई/अगस्त	2003
30.	मधुमति	अक्तूबर	1996
31.	मधुमति	अक्तूबर	1997
32.	मधुमति	अक्तूबर	1999
33.	मधुमति	अक्तूबर	2001
34.	मधुमति	फरवरी	2004
35.	मधुमति	जून	2006
36.	युद्धरत आम आदमी	अक्तूबर/दिसंबर	2004
37.	वागर्थ	सितंबर	1999
38.	वागर्थ	अक्तूबर	2001
39.	समीक्षा	अप्रैल/जून	1983
40.	समीक्षा	अक्तूबर/दिसंबर	1989
41.	समीक्षा	जनवरी/मार्च	1990
42.	समीक्षा	जुलाई/सितंबर	1994
43.	समीक्षा	अक्तूबर/दिसंबर	1997
44.	समीक्षा	जुलाई/सितंबर	2000

45. समीक्षा	जनवरी/मार्च	2003
46. समीक्षा	अप्रैल/जून	2004
47. समीक्षा	जनवरी/मार्च	2005
48. सारिका	अक्तूबर	1961
49. साक्षात्कार	जून/अगस्त	1979
50. साक्षात्कार	अक्तूबर/दिसंबर	1988
51. साक्षात्कार	फरवरी	1998
52. साक्षात्कार	जुलाई	2003
53. साक्षात्कार	जून/जुलाई	2005
54. साहित्य अमृत	अक्तूबर	2001
55. साहित्य अमृत	दिसंबर	2003
56. साहित्य अमृत	जनवरी	2006

❖❖❖